उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी

उत्तराखण्ड का राजनैतिक इतिहास

डॉ0 अजय रावत

उत्तराखण्ड का राजनैतिक इतिहास

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी

Dr. Vinay Kumar Pathak
Vice Chancellor
डॉ0 विनय कुमार पाठक
कुलपति

Uttarakhand Open University
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

आमुख

यह बड़े हर्ष और गौरव की बात है कि सम्पूर्ण **उत्तराखण्ड का राजनैतिक इतिहास** पहली बार, **उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय** द्वारा प्रकाषित किया जा रहा है। पुस्तक के प्रमुख लेखक **प्रो0 अजय सिंह रावत**, प्राध्यापक एवं निदेषक, सामाजिक विज्ञान विद्याषाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, हल्द्वानी तथा उनके सहयोगी लेखकों द्वारा तैयार की गई इतिहास की इस अतुलनीय पुस्तक के माध्यम से हमारे कल का सक्षम प्रतिबिम्ब हमारे समक्ष उजागर किया जा रहा है। प्रो0 रावत ने अपने सहयोगी लेखकों के कठिन प्रयासों व बौद्धिक परिश्रम से उत्तराखण्ड के सम्पूर्ण राजनैतिक इतिहास को प्रागैतिहासिक काल से ई0 सन् 1947 तक एक ही पुस्तक में संजोने का सराहनीय कार्य किया है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि सामान्य इतिहास के रूप में लिखा गया यह इतिहास पाठकों के समक्ष निष्पक्ष दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है।

उत्तराखण्ड के इतिहास की इस नवीन पुस्तक के प्रकाषन से पूर्व सुप्रसिद्ध इतिहासकार **श्री बद्रीदत्त पाण्डे** द्वारा **कुमाऊँ का इतिहास, पं0 हरिकृष्ण रतूड़ी** तथा **डॉ0 पातीराम परमार** द्वारा **गढ़वाल का इतिहास** तथा महापंडित **राहुल सांकृत्यायन** द्वारा **कुमाऊँ तथा गढ़वाल का इतिहास** लिखा गया है। यह तीनों इतिहास पृथक खण्डों में है– कुमाऊँ का अलग तथा गढ़वाल का अलग जिससे पाठकों को पूरे उत्तराखण्ड के इतिहास को एक साथ पढ़ने का अवसर नहीं मिल पा रहा था। महान इतिहासकार **डॉ0 शिव प्रसाद डबराल** ने उत्तराखण्ड के इतिहास को कई खण्डों में एक ही स्थान पर संजोने तथा प्रस्तुत करने का अथक एवं अतुलनीय प्रयास किया है लेकिन वह संदर्भ ग्रन्थ के रूप में षोधार्थियों और विद्वानों के लिए अधिक उपयोगी लगता है। सामान्य पाठकों के लिए उसे समझ पाना थोड़ा कठिन प्रतीत होता है।

मुझे खुषी है कि इस नई पुस्तक में साधारण पाठक के लिए भी इतिहास को उसके सच्चे अर्थों में प्राथमिक श्रोतों पर आधारित किया गया है। विषेष गौरव तथा हर्ष की बात यह भी है कि उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय, पहला विष्वविद्यालय है जिसने उत्तराखण्ड के समग्र इतिहास को अर्वाचीन काल से ई0 सन् 1947 तक संकलित करके स्वयं प्रकाषित करने का अनूठा प्रयास किया है। उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय का प्रयास है कि इस राजनैतिक इतिहास के साथ ही यथाषीघ्र **उत्तराखण्ड का सांस्कृतिक व सामाजिक इतिहास** भी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।

मैं प्रख्यात इतिहासकार, विद्वान पर्यावरणविद, उत्तराखण्ड की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विरासतों की सुरक्षा के लिए सदैव जागरूक प्रहरी के रूप में समर्पित तथा कुषल छायाकार प्रो0 अजय सिंह रावत को उनके सहयोगी लेखकों सहित उत्तराखण्ड के राजनैतिक इतिहास लेखन के इस सराहनीय अकादमिक कार्य के लिए हार्दिक बधाई देता हूं साथ ही सुधी पाठकों को इस पुस्तक के माध्यम से अपनी हार्दिक षुभकामनायें संप्रेषित करता हूँ।

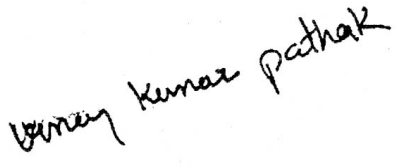

(विनय कुमार पाठक)
कुलपति

प्रस्तावना

देवभूमि उत्तराखण्ड हिमालय के अंक में स्थित भारत का वह हिम किरीट है जो योगियों को ही नहीं समग्र मानवता को अपनी ओर आकृष्ट करता है। इतिहास गवाह है कि अनेकता में एकता के सामंजस्य का जो दुर्लभ, दूरूह व साकार रूप इस देवस्थली में प्रस्तुत होता आया है वह अन्यत्र असम्भव सा है।

उत्तराखण्ड की स्वयं में एक अनूठी विषेषता है कि यहां पर अपने देष के विभिन्न प्रान्तों से ही नहीं बल्कि बाहय देषों से भी अनेक जातियों का पदार्पण हुआ है जो बाद में यहीं की होकर रह गई और यहीं की संस्कृति व सभ्यता में रच–पच गईं। आज भी उत्तराखण्ड में बसासत की प्रक्रिया जारी है। परिणामस्वरूप अनेक संस्कृतियों के समागम से उत्तराखण्ड एक लघु भारत के रूप में मूर्त हो उठा है।

उत्तराखण्ड में अति प्राचीन काल से ही मानव गतिविधियों के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। यहां पाषाण युगीन मानव द्वारा प्रयुक्त उपकरणों के अलावा प्राचीन मानव द्वारा अपने आवास के लिए उपयोग में लाये गये शैलाश्रय भी मिले हैं, जिनमें उन्होंने विभिन्न रंगों का प्रयोग करके प्रतीकात्मक अंकनों द्वारा अपने विचारों का सम्प्रेषण करने का प्रयास किया है। उत्तराखण्ड में ताम्र मानवाकृति भी मिली हैं जो गंगा घाटी की ताम्र संचय संस्कृति की विषिष्ट प्रतीक तथा द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व में गंगा घाटी के साथ इस क्षेत्र के सम्बन्धों की सूचक है। महाष्म सभ्यता भी यहां काफी फली फूली थी और इस सभ्यता से सम्बन्धित धंसाव (कप–मार्क्स), महापाषाण तथा कब्रें यहां के अनेक स्थलों में मिलती हैं।

ऐतिहासिक काल में अषोक का कालसी अभिलेख, उत्तराखण्ड की महत्वपूर्ण स्थिति का परिचायक है। कुणिन्द और यौधेय गणराज्यों द्वारा प्रचलित चांदी व तांबे के सिक्के इस क्षेत्र में उनकी राजनैतिक उपस्थिति की जानकारी देते हैं। इस सन्दर्भ में रणिहाट की खुदाई भी रोचक तथ्य प्रस्तुत करती है। कुणिन्दों के उपरान्त कुछ समय तक उत्तराखण्ड के इतिहास की जानकारी नहीं मिलती है, केवल प्रयाग–प्रषस्ति में यह उल्लेख मिलता है कि कर्त्तपुर के शासक ने भी समुद्रगुप्त को कर प्रदान कर अभय प्राप्त किया था। इसके उपरान्त यहां के इतिहास की जानकारी हेतु तालेष्वर नामक स्थान से प्राप्त दो ताम्रपत्र महत्वपूर्ण हैं जो यहाँ पौरव वंषी शासकों द्वारा शासन करने की सूचना प्रदान करते हैं।

सातवीं सदी ईस्वी के उत्तरार्द्ध से ग्यारहवीं सदी ईस्वी तक उत्तराखण्ड का यह क्षेत्र कत्यूरी सम्राटों के कार्यकलापों का साक्षी रहा है। इस काल की विस्तृत जानकारी कत्यूरी सम्राटों द्वारा जारी किये गये ताम्रपत्रों, षिलाभिलेखों, मूर्तियों, प्रतिमाओं, मन्दिरों एवं जागर तथा अनुश्रुतियों से प्राप्त होती है।

दसवीं सदी ईस्वी से कत्यूरी राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया था और उत्तराखण्ड के पृथक पृथक क्षेत्रों में अलग अलग माण्डलिक राजा शासन करने लगे। आगे चलकर गढ़वाल में पंवार वंष और कुमाऊं में चन्द वंष का शासन स्थापित हुआ। पंवार वंष के काल में अनेक उपलब्धियां हासिल की गयीं और मुगल दरबार के साथ भी सम्बन्ध स्थापित हुए। ई0सन् 1790 में नेपाल के गोरखों ने उत्तराखण्ड में आक्रमण किया और लगभग 25 वर्षों तक शासन करने के उपरान्त ई0सन् 1815 में वे अंग्रेजों से पराजित हुए और उत्तराखण्ड में ईस्ट इंडिया कम्पनी के माध्यम से अंग्रेजी शासन प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजी शासन काल में यहां की व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए। अंग्रेजों ने तिब्बत तथा नेपाल से अपने आन्तरिक व्यापार के लिए कुमाऊं तथा गढ़वाल को विजित किया। ई0 सन् 1854 से 1856 तक चले क्रीमियन युद्ध एवं ई0 सन् 1856 की पेरिस शान्ति वार्ता के परिणामस्वरूप रूस का भूमध्य सागर तथा कालासागर की ओर विस्तार प्रतिबन्धित हो गया। अस्तु रूस ने पष्चिमी तिब्बत के रास्ते भारत में प्रवेष करना सुनिष्चित किया और यह भी एक ठोस सत्य था कि उस समय पष्चिमी तिब्बत से भारत में प्रवेष करने के लिए कुमाऊं तथा गढ़वाल ही सर्वाधिक सहज व सरल प्रवेष मार्ग थे। ब्रिटिष सरकार की तिब्बत को हस्तगत कर उस पर शासन करने की रंच मात्र भी भावना नहीं थी। बस उसे रूस का तिब्बत में तिलमात्र प्रभाव भी असहनीय था क्योंकि इससे भारत की सीमाओं पर खतरे के बादल मंडरा सकते थे। रूस तथा भारत की सीमाओं पर स्थित तिब्बत एक ऐसा देष था जो दुर्गम पर्वत श्रृंखलाओं से घिरा तो था ही साथ ही समस्याओं व प्राकृतिक विपदाओं की सुरसा हर पल हर क्षण वहां के वासियों के जीवन को दुस्प्रभावित कर उन पर कहर बरपाने को आरूढ़ रहती थीं। सड़कों के नितान्त अभाव के कारण यहां के निवासियों के लिए सहयोग एवं सहायता आकाष कुसुम हो गए थे।

तिब्बत में रूस के विस्तार के समक्ष कुमाऊं तथा गढ़वाल एक अभेद्य दीवार की तरह विद्यमान थे। यूरोपवासियों को गढ़वाल से पष्चिमी तिब्बत में प्रवेष का मार्ग ई0सन् 1624 में ही ज्ञात हो गया था। इसी वर्ष फादर एण्टोनियो डी. एनड्राडे गढवाल के रास्ते तिब्बत के ही एक भूभाग शापरांग नामक स्थान पर पहुंचे जहां उनका मुख्य उद्देष्य ईसाई धर्म का प्रचार व प्रसार करना था जिसका सबसे बड़ा प्रमाण था 11 अप्रैल ई0सन् 1626 में शापरांग में एक चर्च की स्थापना।

कुमाऊं तथा गढ़वाल के शासन प्रबन्ध में अंग्रेजों ने इन क्षेत्रों के सामरिक महत्व को सर्वोपरि रखा। इसलिए उन्होंने यहां के जनमानस को जीतने का हर सम्भव प्रयास किया। स्थानीय रीतिरिवाजों व परम्पराओं को उन्होंने पूर्ववत बनाए रखा। यहां की आर्थिक स्थिति को सुधारने में भी अपना योगदान दिया। किन्तु खेद का विषय यह रहा कि उन्होंने **कुली बेगार** जैसी नारकीय विभीषिका तथा वन प्रबन्धन पर दूरदर्षिता नहीं अपनायी।

देष में राष्ट्रीयता की भावना के विकास के साथ ही हमें यहां के जनमानस में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति मिलती है जिसके परिणामस्वरूप यहां स्थान–स्थान पर जन आन्दोलन हुए और सन् 1947 में देष की स्वतन्त्रता के साथ ही उत्तराखण्ड में भी अंग्रेजी आधिपत्य समाप्त हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक उत्तराखण्ड के राजनैतिक इतिहास की प्रस्तुति का एक लघु व प्रथम प्रयास है। पुस्तक लेखन की प्रेरणा एवं सतत मनोत्साह वृद्धि के लिए मैं सर्वप्रथम उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो0 विनय पाठक जी तथा विष्वविद्यालय परिवार का हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इतिहास विभाग के डॉ0 सुभाष भट्ट एवं डॉ0 मदन मोहन जोषी को उनके द्वारा इस पुस्तक हेतु दी गई महत्वपूर्ण सूचना के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनायें। मै श्री पूरन चन्द्र पपनै, प्रषासनिक परामर्षदाता, उत्तराखण्ड मुक्त विष्वविद्यालय तथा एडवोकेट श्री महेष लाल साह, श्री विनय साह, श्री पंकज वर्मा, श्री कवीन्द्र पाण्डे, एडवोकेट राजीव बिष्ट, प्रोफेसर शेखर पाठक, डॉ0 गिरधर सिंह नेगी, डॉ0 रीतेष साह, डॉ0 घनष्याम जोषी, हिमालय संग्रहालय के डॉ0 हीरा सिंह भाकुनी, डॉ0 पूरन सिंह अधिकारी, डॉ0 भुवन शर्मा, एवं डॉ0 भुवन आर्या के प्रति पुस्तक के प्रकाषन में उनके मूल्यवान सहयोग के लिए अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

पुस्तक के स्वच्छ टंकण के लिए श्री जसौद सिंह के प्रति तथा पुस्तक के सुन्दर मुद्रण व प्रकाषन हेतु उत्तरायण प्रकाषन, हल्द्वानी के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूं।

पुस्तक में अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ लेखन का प्रयास किया गया है। पुस्तक के अगले संस्करण को और अधिक उपयोगी बनाया जा सके इसके लिए सभी सम्यक सुझावों का सादर स्वागत है।

पुस्तक के समस्त सुधी पाठकों व विद्यार्थियों को मेरी हार्दिक शुभकामनायें।

प्रोफेसर अजय सिंह रावत

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
अध्याय १	उत्तराखण्ड एक परिचय परिशिष्ट १	डॉ० अजय सिंह रावत मदन मोहन जोशी	१ ३१
अध्याय २	कुमाऊँ का चन्द राज्य वंश	डॉ० श्याम लाल	४३
अध्याय ३	गढ़वाल का परमार वंश	डॉ० अजय सिंह रावत	८९
अध्याय ४	गोरखा शासन परिशिष्ट १- गढ़वाल में गोरखों के विभिन्न सेनानायकों का नेतृत्व परिशिष्ट २- मूरक्राफ्ट की तिब्बत यात्रा	डॉ० पंकज प्रियदर्शी डॉ० अजय सिंह रावत डॉ० अजय सिंह रावत	१४९ १६९ १७६
अध्याय ५	प्रशासनिक नवाचारों की प्रयोगशाला: उत्तराखण्ड (१८१५-१९४९)	डॉ० आर०एस० टोलिया	१८५
अध्याय ६	सन् १८१५ ई० के पश्चात् गढ़नरेश	डॉ० अजय सिंह रावत	२३१
अध्याय ७	ब्रिटिश गढ़वाल : एक सिंहावलोकन	डॉ० अजय सिंह रावत	२५३
अध्याय ८	तराई-भाभर का इतिहास	डॉ० अजय सिंह रावत	२७७
अध्याय ९	स्वतन्त्रता संग्राम में उत्तराखण्ड की भूमिका परिशिष्ट १- ब्रिटिश वन अधिकार तथा कृषक प्रतिरोध परिशिष्ट २- कुली बेगार	डॉ० अजय सिंह रावत डॉ० अजय सिंह रावत डॉ० सुभाष भट्ट	३२७ ३७३ ३८१
	विशिष्ट संदर्भिका		४११

http://ignou.ac.in

अध्याय – 1

उत्तराखण्ड एक परिचय

––डा0 अजय सिंह रावत

(फोटो संकलन– डा0 अजय सिंह रावत, हिमालय संग्रहालय, कुमाऊँ विष्वविद्यालय, नैनीताल)

उत्तराखण्ड में ऐसे अनेक पुरातात्त्विक साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र अति प्राचीन काल से ही मानवीय गतिविधियों से सम्बद्ध रहा है। उत्तराखण्ड के इतिहास को दो चरणों प्राग ऐतिहासिक काल एवं ऐतिहासिक काल में विभाजित किया गया है। पुरातत्व की दृष्टि से मानव इतिहास का प्राचीनतम चरण पाषाण युग है। इतिहासकार डा0 मदन मोहन जोशी के अनुसार इसे तीन चरणों– निम्न पुरा पाषाण युग (लोअर पैलियोलिथिक एज), मध्य पुरापाषाण युग (मिडिल पैलियोलिथिक एज) और उच्च पुरापाषाण युग (अपर पैलियोलिथिक एज) में विभाजित किया गया है। लोअर पैलियोलिथिक एज के उपकरणों की उत्तराखण्ड में कालसी के निकट यमुना नदी के कगार पर, श्रीनगर के समीप अलकनन्दा के कगार पर, एवं पश्चिमी राम गंगा घाटी, जनपद अल्मोड़ा तथा खुटानी नाला, जनपद नैनीताल में खोज डा0 के0 पी0 नौटियाल एवं डा0 यशोधर मठपाल ने की है। गढ़वाल में ही श्रीनगर के समीप डा0 के0 पी0 नौटियाल ने मिडिल पैलियोलिथिक एज के उपकरण मिलने का दावा किया है। हालांकि अपर पैलियोलिथिक एज के उपकरण मिलने की सूचना किसी पुराविद ने अभी तक सबूतों के साथ उत्तराखण्ड में नहीं दी है, यद्यपि हिमालय में अन्यत्र इनकी मिलने की सूचना है।

डा0 मदन मोहन जोशी का मत है कि उत्तराखण्ड में प्राचीन मानव की गतिविधियों के प्रमाण यहाँ स्थित शैलाश्रयों में अंकित पाषाण युगीन चित्रण से भी प्राप्त होते हैं। ये शिलाश्रय उत्तराखण्ड के दो जनपदों– अल्मोड़ा तथा चमोली में प्राप्त हुए हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार डा0 यशवन्त सिंह कटोच के अनुसार सन् 1968 में अल्मोड़ा जनपद के सुयाल नदी के दायें तट पर स्थित लखु उड्यार के शैलाश्रय (Painted Rock Shelters) उत्तराखण्ड में प्रागैतिहासिक शैलाश्रय चित्रों की पहली खोज थी। डा0 एम0 पी0 जोशी की इस महत्वपूर्ण खोज के उपरान्त अल्मोड़ा जनपद में ही फड़कानौली, फलसीमा, ल्वेथाप, पेटशाल, कालामाटी एवं मल्ला पैनाली में भी शिलाश्रय मिले हैं। ये सभी शिलाश्रय, कालामाटी–डीनापानी पर्वत श्रृंखला की पूर्व दिशा में लगभग 15 किमी0 की परिधि में केन्द्रित हैं। गढ़वाल हिमालय में भी दो शैलाश्रयों की खोज हुई है। चमोली जनपद में प्रथम ग्वरख्या–उड्यार, अलकनन्दा घाटी में और द्वितीय पिण्डर घाटी के किमनी ग्राम में। अब तक अल्मोड़ा जनपद में एक दर्जन से अधिक शिलाश्रय प्रकाश में आ चुके हैं।

सुयाल नदी के पूर्वी तट पर, लखु उड्यार उत्तराखण्ड का सर्वोत्तम व सुलभतम शिलाश्रय है। यह अल्मोड़ा–पिथौरागढ़ मोटर मार्ग में अल्मोड़ा से लगभग 16 किमी0 की दूरी पर स्थित है, नागफनी के आकार का यह भव्य शिलाश्रय मोटर मार्ग से ही दिखाई देता है। धूप और वर्षा के कारण फर्श के समीपवर्ती चित्र काफी धुंधले हो चुके हैं। चित्र सफेद, गेरू, गुलाबी और काले रंगों से बने हैं। मुख्य विषय सामूहिक नृत्य का है; एक नर्तक मंडली में कुछ वर्षों पूर्व 34 आदमी गिने जा सकते थे जबकि दूसरे में 28। उत्तर की ओर 6 मनुष्यों को एक जानवर का पीछा करते दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन के दृश्य, जानवर और अलंकारिक आलेखन के यहाँ रेखाओं एवं बिन्दुओं से बने ज्यामितीय चित्रण भी मिले हैं।

लखु उडियार से लगभग आधा कि0मी0 पहले फड़का नौली चुंगी घर के आस पास तीन शिलाश्रय है। जिनमें चित्रअवशेष विद्यमान हैं। प्रथम शिलाश्रय की छत नागराज के फन की भांति बाहर निकली है और इसकी दीवार पर आकृतियों के 20 संयोजन विद्यमान है जो सारे के सारे धुंधले हो चुके हैं। दूसरे शिलाश्रय में 10 स्थानों पर चित्रण के प्रमाण हैं। तीसरा शिलाश्रय सड़क के नीचे और सुयाल के तट पर स्थित है। यह आवास के लिए उत्तम स्थान रहा होगा।

फड़का नौली के शिलाश्रय 1985 में तथा पेटशाल के 1989 में डा0 यशोधर मठपाल ने खोजे थे। लखुउडियार से दो कि0मी0 दक्षिण–पश्चिम में पेटशाल गाँव के ऊपर दो चित्रमय शिलाश्रय हैं। जिनको स्थानीय पत्थर निकालने वालों ने क्षतिग्रस्त कर दिया है। इनमें पश्चिम दिशा वाला शिलाश्रय 8 मीटर गहरा तथा 6 मीटर ऊँचा है। इसकी छत 4 मीटर तक बाहर निकली है। पेटशाल की दूसरी गुफा जो 50 मीटर पूर्व में है, इसकी गहराई 3.10 मीटर तथा ऊँचाई 4 मीटर और छत की लम्बाई 2 मीटर है।

अल्मोड़ा से लगभग 8 कि0मी0 उत्तर–पूर्व और फलसीमा गाँव से 2 कि0मी0 दक्षिण–पूर्व में दो चट्टानें विद्यमान हैं। पहली चट्टान पर चित्रण योग्य फलक नहीं हैं जबकि दूसरी चट्टान में चित्र आंके गए हैं। चट्टान का निचला भाग क्षतिग्रस्त है। समीप ही दो चट्टानों पर 2 कप मार्क है।। अल्मोड़ा नगर से ही 8 कि0मी0 उत्तर में कसार देवी पहाड़ी पर भी कई शिलाश्रय हैं।

अल्मोड़ा बिनसर मोटर मार्ग में दीना पानी से 3 कि0मी0 दूरी में ल्वेथाप नामक स्थान है जहाँ 3 शिलाश्रयों में प्राचीन चित्र हैं। यहाँ लाल रंग के निर्मित चित्र हैं, जिसके कारण यह नाम पड़ा होगा। यहाँ से दूर पूर्वी क्षितिज में लखु–उडियार का दृश्य अत्यधिक मनोरम है जिसके आधार पर डा0 यशोधर मठपाल का मानना है कि कल्पना की जा सकती है कि लखु–उडियार और ल्वेथाप के निवासी कभी आपस में सम्पर्क बनाए होंगे।

गढ़वाल स्थित ग्वारख्या उड्यार चमोली जिले के डुंग्री नामक गाँव में स्थित है। गोरखा काल में नैपाली सैनिकों के एक दल ने डा0 मठपाल के अनुसार गाँवों को लूट कर माल छिपाया था तथा अन्य दलों के परिचय हेतु चट्टानों पर चित्रों के रूप में लिखावट की थी। इस लोक विश्वास पर चित्रित शिलापट का नाम ग्वारख्या उड्यार पड़ा। परन्तु यहाँ न तो उड्यार (गुफा) जैसी कोई चीज है न ही खजाने छिपाने का स्थान। यहाँ पीले रंग की धारीदार चट्टान पर गुलाबी व लाल रंग से चित्र अंकित किए गए हैं जो संप्रति काफी धुंधले हो चुके हैं। डा0 यशोधर मठपाल के अनुसार इन शिलाश्रयों में लगभग 41 आकृतियाँ हैं जिनमें 30 मानवों की, 8 पशुओं की तथा 3 पुरुषों की हैं। चित्रकला की दृष्टि से ये उत्तराखण्ड की सम्भवतः सबसे सुन्दर कृतियाँ हैं। यहाँ मनुष्य को त्रिशूल आकार से अंकित किया गया है जब कि बकरीनुमा जानवरों के छाया चित्र काफी प्राकृतिक हैं। मुख्य विषय पशुओं को हाँका देकर घेरना है। ग्वारख्या उड्यार को यद्यपि स्थानीय लोग अरसे से जानते थे परन्तु पुराविदों हेतु इसको राकेश भट्ट ने उजागर किया।

चमोली जनपद में ही कर्णप्रयाग–ग्वालदम मोटर मार्ग पर एक छोटा सा गाँव है किमनी जिसके पास ही श्वेत रंग से चित्रित एक शिलाश्रय है। यहाँ पशुओं आदि की आकृतियाँ अत्यन्त धूमिल अवस्था में विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरकाशी के पुरौला कस्बे से 5 कि0मी0 दक्षिण में यमुना घाटी में, बांयी ओर सड़क से लगभग 20 मीटर की गहराई पर काले रंग का एक आलेख है जो लगभग मिट चुका है। डा0 मठपाल का मानना है कि यह लगभग 2100 से 1400 वर्ष पुराना है तथा शंख लिपि जो अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, में लिखा है।

चित्रण विधा :–

अल्मोड़ा जनपद के शिलाश्रयों में जो प्रागैतिहासिक चित्रण मिलता है, वह स्थूल–चित्रण की कोटि में आता है । यह चित्रण सामान्य तूलिका से किया गया प्रतीत होता है जो शायद पेड़ की छोटी शाखाओं से बनायी गयी हों । कुछ अंकन केवल बाहरी रेखाओं से बने हैं जबकि अधिकांश में पूरा अंकन रंगों से भरा गया है । प्रागैतिहासिक मानव ने अपने अंकन के लिए किसी प्रकार की पृष्ठभूमि के निर्माण की आवश्यकता महसूस नहीं की है और उसने सीधे रंगों का प्रयोग शिलाखण्ड में किया है । इन अंकनों में मानव एवं पशुओं का प्रदर्शन सामान्यतः 'पार्श्वदृश्य' के रूप में हुआ है, हालाकि दृश्य परिप्रेक्षण सदैव वैज्ञानिक नहीं है तथापि कुल मिलाकर 'दृश्य प्रभाव'आकर्षक कहा जा सकता है ।

इन अंकनों में मानव–चित्रण प्रायः 'स्टाइलाइज्ड रूप' में है जबकि पशुओं को प्रायः आकार देने की कोशिश की गयी है । कुछ आकृतियों को तो तत्कालीन मानव ने लघु आकार में चित्रित किया है जबकि छिपकली या मछलियों की कतार

सदृश आकृतियों को उनके वास्तविक आकार में चित्रित किया गया प्रतीत होता है। अल्मोड़ा जनपद के इस प्रागैतिहासिक चित्रण में संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक अंकन 'स्टाइलाइज्ड' मानव आकृतियों का है तत्पश्चात पशु–चित्रण एवं अमूर्त अभिप्रायों का अंकन मिलता है ।

अल्मोड़ा जनपद के शैलाश्रयों में अंकित चित्रण में तीन रंगों–लाल, काला और सफेद का प्रयोग मिलता है, इन रंगों में से लाल रंग का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है और यह रंग अपने अनेक उप–प्रकारों में मिलता है, ये रंग प्राकृतिक खनिजों से बनाये गये प्रतीत होते हैं । लाल रंग के लिए भीमबेठका में 'लुकाट' हेमेटाइट नोड्यूल्स का प्रयोग हुआ है जो अल्मोड़ा जनपद में भी स्थानीय रूप से मिलता है, अतः लाल रंग के निर्माण में इस खनिज का प्रयोग किया गया होगा । काला रंग संभवतः कोयला और श्वेत रंग, चूना पत्थर से निर्मित किया गया होगा । इन रंगों को घोलने के लिए किसी पशु की चर्बी या मूत्र या अन्य अम्लीय द्रव में मिला कर लेप बनाया गया होगा ।

शैलाश्रयों के कुछ अंकनों में काले रंग के चित्रों के पर लाल एवं कुछ में लाल के पर सफेद रंगों में चित्रण मिलता है । अग्रवाल एवं खरकवाल ने इन चित्रों के पर चित्र बनाये जाने के आधार पर इन चित्रों के पॉच चरण बतलाये हैं । इसी प्रकार का 'सुपर–इंम्पोजिशन' भीमबेठका के शिलाश्रयों में भी मिलता है और वहॉ इन चित्रों के नौ चरण बतलाये जाते हैं। एम0पी0 जोशी अल्मोड़ा जनपद के शिलाश्रयों के संबंध में अग्रवाल एवं खरकवाल द्वारा व्यक्त की गयी धारणा से सहमत नहीं है । जोशी का मानना है कि ये 'सुपर इम्पोज्ड' आकृतियों जान बूझकर बनाई गयी है, वे इसका कारण प्रागैतिहासिक मानव का प्रेतात्मा सदृश विश्वास को मानते हैं जिनको भगाने के लिए इस प्रकार का चित्रण किया गया है

पाषाण युग के उपरान्त धातु युग में भी कुमाऊँ क्षेत्र में मानवीय गतिविधियों के प्रमाण मिलते हैं। इस सम्बन्ध में अल्मोड़ा जिले से प्राप्त ताम्र मानवाकृतियां, बनकोट से प्राप्त आठ ताम्रमानवाकृतियां तथा 1999 के अन्त में नैनीपातल से प्राप्त पाँच ताम्रमानवाकृतियां महत्वपूर्ण हैं। ये खोज कुमाऊँ क्षेत्र एवं गंगा घाटी की ताम्र संचय संस्कृति के मध्य आदान प्रदान और निकटतर सम्पर्कों की सूचना देती है।

निर्माण का प्रयोजन :–

ताम्र संचय संस्कृति के इस विशिष्ट उपकरण के उपयोग, महत्व तथा निर्माण के प्रयोजन के विषय में व्यापक विवाद रहा है और वर्तमान तक भी इस सम्बन्ध में सर्वमान्य मत प्राप्त नहीं हो सका है । अग्रवाल इन ताम्र मानवाकृतियों को प्रक्षेपास्त्र या बुमरैंग सदृश हथियार से समीकृत करते हुए इन्हें पक्षियों को मारने के लिए

प्रयुक्त बतलाते हैं, और इनके किसी भी प्रकार के कर्मकाण्डीय महत्व को अस्वीकार करते हैं। इस संबंध में एच0डी0 सांकलिया का मानना है कि पूरे विश्व में अति प्राचीन काल से ही पक्षियों को मारने के लिए अनेक साधारण तरीके अपनाये जाते रहे हैं अतः अग्रवाल का मत एक अटकल प्रतीत होता है। एलचिन–द्वय इन ताम्र–मानवाकृतियों को धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयोग में आने वाले उपकरणों से पहचानते हुए इनकी समता छोटा नागपुर के सन्थाल तथा अन्य जनजातियों द्वारा अनुष्ठानों में प्रयोग की जाने वाली लोहे या इस्पात की कुल्हाड़ियों से करते हैं। एस0 पी0 गुप्ता ने इन ताम्र–मानवाकृतियों को दैवीय आकृतियों से समीकृत किया है । एम0पी0 जोशी ने इन ताम्र–मानवाकृतियों को परशु से समीकृत किया है और आयुध का प्राचीनतम मानवरूपेण प्रदर्शन बतलाया है । जोशी के अनुसार इनका उपयोग किसी विशिष्ट कर्मकाण्ड हेतु किया जाता था । उपरोक्त विभिन्न मतों के प्रकाश में इन ताम्र–मानवाकृतियों के उपयोग एवं निर्माण के प्रयोजन के सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि – ''क्योंकि ये उपकरण गंगा–घाटी की ताम्र संचय संस्कृति में अन्य उपकरणों के साथ मिले हैं अतः यह माना जा सकता है कि ताम्र–मानवाकृति एक विशिष्ट प्रकार का आयुध था, जिसका धार्मिक महत्व भी था''।

मध्य हिमालय जिसका उत्तराखण्ड मध्यवर्ती अंग है, में डा0 यशोधर मठपाल, डा0 बी0 एम0 खण्डूरी एवं डा0 एम0 पी0 जोशी ने महापाषाण कालीन अवशेष खोज निकाले हैं। इन पुरावशेषों में संस्कृति से सम्बन्धित ओखली (cup marks), मृद्भाण्ड, शवाधान (burials), सिस्ट, दीर्घाष्म (मेनहिर, खम्बे की भांति के अनगढ़े ऊँचे पत्थर) सम्मिलित हैं। महापाषाणकालीन ओखली (कप मार्क्स्) द्वाराहाट के चन्द्रेश्वर मन्दिर के दक्षिण में महाश्म संस्कृति (Megalittic Culture) के बारह समान्तर पंक्तियों में खुदे मिले हैं। इन्हीं के समरूप 73 'कप मार्क्स्' द्वाराहाट से प्रायः तीस किमी0 पश्चिम में, पश्चिम रामगंगा घाटी में स्थित नौला ग्राम में डा0 मठपाल ने खोजे हैं। उन्हें अल्मोड़ा जनपद में ही नौगाँव, मुनिया–की–ढाई तथा जोयों ग्राम के समीप मेनहिर पर भी ऐसी ओखलियाँ मिली हैं। डा0 जोशी ने कुमाऊँ के ही खेखन, जसकोट, देवीधुरा आदि स्थलों में तथा डा0 यशवन्त सिंह कटोच ने गोपेश्वर के समीप तथा पश्चिमी नयार घाटी में ऐसी ओखलियों की खोज की है।

कप–मार्क्स एवं अन्य उत्कीर्णन :–

महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण साक्ष्य, उत्कीर्णन–कला के विविध उदाहरण हैं जो विभिन्न प्रकार के धंसावों (कप–मार्क्स), सर्पिल आकृतियों तथा अनेक प्रकार की सकेन्द्रित ज्यामितीय आलेखनों के रूप में मिलते हैं । महाष्म–शिलाओं में मानव निर्मित ऐसे अनेक धँसाव या गर्त मिले हैं, जिन्हें पुराविदों ने महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित माना है । इन धंसावों (कप–मार्क्स) का सर्वप्रथम उल्लेख कार्नाक ने 1877 ई0 में किया था, उसने द्वाराहाट, चण्डेश्वर, पाण्डुखोली,

सोमेश्वर आदि स्थलों में इनके देखे जाने का उल्लेख किया था । कार्नाक के बाद से आज तक अल्मोड़ा जनपद के जसकोट, सिमल्टी, ल्वेथाप, फलसीमा, कपड़खान, चूरीकोट, ड्योलीडांडा, कालामाटी जैसे अनेक स्थलों से महाष्म मानव द्वारा निर्मित कप–मार्क्स प्रकाश में आ चुके हैं ।

कुमाऊँ में प्राप्त महाष्मकालीन ऐसे धंसावों को 7 प्रकारों में विभाजित किया गया है । इस वर्गीकरण के अनुसार इनका उल्लेख यथावत है – (1) बिन्दु सदृश धंसाव, इनकी गहराई और व्यास लगभग 0.5 सेमी0 है, (2) छोटे छिद्र सदृश धंसाव जिनका व्यास लगभग 2 सेमी0 से 8 सेमी0 तक तथा गहराई 1 सेमी0 से 10 सेमी0 तक मिलती है, (3) सामान्य प्रकार के कप–मार्क्स जिनका व्यास 9 सेमी0 से 27 सेमी0 तथा गहराई 13 सेमी0 से 55 सेमी0 तक मिलती है, (4) आयताकार धंसाव जिनकी भुजाऐं 5 सेमी0 से 10 सेमी0 तक तथा गहराई 2 सेमी0 से 10 सेमी0 तक मिलती है, (5) सर्पाकार धंसाव जो केवल अल्मोड़ा के समीप स्थित ड्योलीडान में मिले हैं । (6) सिमल्टी ग्राम, अल्मोड़ा से प्राप्त इकलौता उदाहरण जिसमें बिल्ली/व्याघ्र भांति के जानवर का उत्कीर्णन मिलता है, तथा (7) नाशपाती के प्रकार के गर्त जिनका व्यास और गहराई 1.20 मीटर से 2.00 मीटर तक मिलती है।

इन धंसावों या कप–मार्क्स का क्या प्रयोजन था, इस विषय में आधिकारिक रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। जनपद में जो नाशपाती के आकार के बड़े गर्त मिले हैं, उन्हें बुर्जहोम से प्राप्त ठीक इसी प्रकार के धंसावों के साथ समीकृत करें तो पता चलता है कि बुर्जहोम में इन धंसावों का प्रयोग मानव आवास के लिए करता था, अतः जनपद अल्मोड़ा में प्राप्त ऐसे धंसावों को भी महाष्मकालीन मानव का निवास–स्थान माना जा सकता है; एम0पी0 जोशी भी इस प्रकार के धंसावों को आवास सम्बन्धी गर्त बतलाते हैं । जोशी ने अपने वर्गीकरण में से प्रकार 1, 2, 4, 5 और 6 को महाष्म मानव के किसी प्रकार के कर्मकाण्डीय प्रयोजन हेतु प्रयुक्त और प्रकार 3 को महाष्म मानव की अन्त्येष्ठि क्रिया से सम्बद्ध किया है।

अल्मोड़ा जनपद में इन कप–मार्क्सों के साथ ही विभिन्न आलेखन उत्कीर्ण मिलते हैं । कार्नाक ने चण्डेश्वर में लहरदार रेखा के मध्य पत्ती सदृश अभिप्राय उत्कीर्ण होने का उल्लेख किया है। एम0पी0 जोशी, सिमल्टी के समीप एक शिलाखण्ड के ऊपर बिन्दु सदृश धंसावों के साथ बिल्ली/ब्याघ्र का उत्कीर्णन होने, सिमल्टी में ही टेड़ी–मेड़ी, लहरदार, त्रिभुजाकार अथवा एक–दूसरे को काटती हुई धंसी रेखाओं जिनके साथ गोलाकार धंसाव हैं का उल्लेख करते हैं। मठपाल, बग्वाली पोखर में मानव–पद्चिन्ह का अंकन, कपड़खान से 7 कि0 मी0 आगे पतनिया नैल के जंगल में स्थित 12 कप–मार्क्सयुक्त चट्टान में बैल और सकेन्द्रित वर्ग का आलेखन, पोखरी से 3 किमी0 की दूरी पर देवलीधार में एक शिलाखण्ड में उकेरे गये दो बालकों का उल्लेख करते हैं ।

उपरोक्त पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर मध्य हिमालय में भी महाष्म कालीन संस्कृति के विद्यमान होने की पुष्टि होती है। इस संस्कृति के फैलाव के सम्बन्ध में एम0पी0 जोशी द्वारा किया गया अन्वेषण द्रष्टव्य है। जोशी के अनुसार कुमाऊँ में दीर्घाश्म तथा धंसाव सामान्यतः पथरीली सतहों और पहाड़ी ढलानों में मिलते हैं जबकि सिस्ट एवं शवागार घाटियों के साथ–साथ मिलते हैं । जोशी ने अपने अन्वेषण द्वारा यह संभावना व्यक्त की है कि अपनी भौगोलिक स्थिति के अनुसार दीर्घाश्मों और कप–मार्क्सों के निर्माता, आखेटक–संग्रहणकर्ता थे और महाष्म संस्कृति के प्रारम्भिक चरण से सम्बन्धित थे जबकि सिस्ट और शवागारों के निर्माता अपनी भौगोलिक स्थिति के अनुसार कृषक थे और संस्कृति के बाद के चरण के प्रतिनिधि थे ।

डा0 कटोच के अनुसार हरिद्वार से 13 किमी0 दूर बहादराबाद नहर खोदते समय 1951 में ताम्र उपकरण तथा गैरिक भाण्ड (ochre-coloured wave) के सदृश मृदभाण्ड प्राप्त हुए। इस स्थल का 1953 में यज्ञदत्त शर्मा द्वारा उत्खनन किये जाने पर पाषाण उपकरणों (stone tools) के साथ वही मृदभाण्ड प्राप्त हुए। उन्हें पुराविदों ने क्रमशः किसी ताम्रयुगीन एवं उत्तरप्रस्तर युगीन बस्ती के अवशेष माना हैं। देहरादून जनपद की कालसी घाटी में भी उपकरण प्राप्त हुए हैं जो आरम्भिक पाषाण युगीन माने गए हैं।

1956 ई0 में गढ़वाल हिमालय के मलारी ग्राम में कुछ शवाधान (Burials) खोजे गए हैं। जिन्हें सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय डा0 शिव प्रसाद डबराल को जाता है। 1983 तथा 2001 में गढ़वाल विश्वविद्यालय के इतिहास–पुरातत्व विभाग द्वारा इस क्षेत्र की समाधियों का सर्वेक्षण किया गया। प्रथम सर्वेक्षण में डा0 बी0 एम0 खण्डूरी के अनुसार आखेट के लिए लौह उपकरणों के साथ पशु का एक सम्पूर्ण कंकाल भी मिला है। इस पशु की पहचान अब हिमालयी वृषभ से की जा रही है। द्वितीय सर्वेक्षण में एक सम्पूर्ण मानव कंकाल के साथ शव के ऊपर से एक स्वर्ण मुखौटा तथा दस मृत्तिका पात्रों के साथ एक कांसे का कटोरा मिला है। मलारी में 'शवाधानों' के साथ काले एवं धूसर रंग के चित्रित मृदभाण्ड् भी मिले हैं जो टोंटी एवं हत्थेयुक्त हैं। इन सर्वेक्षणों द्वारा विदित हुआ कि पहाड़ी को काटकर गुफा रूप में मलारी के शवाधानों का निर्माण किया गया था।

अल्मोड़ा जनपद की पश्चिम राम गंगा घाटी में स्थित नौला–जैनल गाँवों के सामने लगभग दो किमी0 के दायरे में डा0 यशोधर मठपाल ने शवाधानों की सूचना दी है। उनके अनुसार ये महापाषाणकालिक हैं, लगभग तीन सहस्त्र वर्ष प्राचीन ये कृषि और पशुपालन जीवी लोग सभी धातुओं से परिचित थे। गढ़वाल विश्वविद्यालय द्वारा किये गये उत्खननों में रामगंगा घाटी से महापाषाणीय सभ्यता के अनेक शवाधान प्राप्त हुए हैं। सानणा तथा बसेड़ी ग्राम जहाँ उत्खनन किया गया

(भिकियासैंण से उत्तर की ओर दस किमी0 की दूरी पर) वहां दो प्रकार के शवाधान मिले हैं, 'सिस्ट' तथा 'अर्न बरियल'। उत्तराखण्ड से प्राप्त अवशेष प्राचीन मानव तथा पाषाण युग के उपरान्त धातु युग में भी मानवीय गतिविधियों के पुष्ट प्रमाण हैं किन्तु इन अवशेषों का गहन अध्ययन तथा वैज्ञानिक परीक्षण होना नितान्त आवश्यक है।

महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न अवशेष, मध्य हिमालय के समतल भू भागों में मिलते हैं, किन्तु उत्तराखण्ड के आद्य इतिहास (Proto-History) का प्रधान स्तोत्र साहित्य है।

वेदों में हिमालय की तलहटी पर बसे हुए गढ़वाल प्रान्त का वर्णन तो मिलता है किन्तु कूर्मांचल पर तनिक भी प्रकाश नहीं पड़ा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बद्रीनाथ का नाम आया है, ऐतरेय ब्राह्मण में 'उत्तरी कुरू' प्रदेश का उल्लेख है। 'कौशीतकी ब्राह्मण' में लिखा हुआ है कि 'वाक्देवी' का निवास स्थान बद्री आश्रम में है। उत्तराखण्ड की पावनता की प्रशंसा में 'केदार खण्ड' एवं 'मानस खण्ड' नामक दो ग्रन्थ हैं जो कि स्कन्द पुराण के ही अंश हैं। 'केदार खण्ड' के अनुसार शिवजी ने पार्वती जी से हिमालय के पाँच खण्डों– नेपाल, मानस, केदार, जालन्धर और कश्मीर का वर्णन इन्हीं नामों के पाँच प्रस्तावों में किया है। इसके साथ ही 'केदार खण्ड' में पावन एवं स्वर्गीय स्थल गढ़वाल की सीमाओं का विस्तार का भी वर्णन किया गया है जो कि लम्बाई में पचास योजन तथा चौड़ाई में तीस योजन है। ये गंगाद्वार अर्थात हरिद्वार से लेकर श्वेत पर्वत (हिमालय) तथा तमसा (वर्तमान में टोंस नदी) से लेकर बौद्धांचल या नन्दा पर्वत (बधाण नन्दादेवी) तक फैला है। (बधाण एक पट्टी ही नहीं वरन् एक पर्वतश्रेणी भी है जो आज भी गढ़वाल को कुमाऊँ से पृथक करती है।) यह इतना पुनीत स्थान है जिसमें जन्म लेने के लिये देवता भी तरसते हैं।

"इति तत परमं स्थानं देवानामपि दुर्लभम्।
पंचाशतयोनायाम् त्रिशद्योजन विस्तृतम्।।
इदं वे स्वर्गगमनं न पृथ्वीं तामहो विभो।।"

इस ग्रन्थ के अनुसार केदार मण्डल के विभिन्न तीर्थों में ध्रुव, सगर, दिलीप, भगीरथ, प्रह्लाद, कुबेर, अर्जुन, शिव, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि ने तपस्या की थी। ज्ञानियों में श्रेष्ठ श्री व्यास जी ने बद्रिकाश्रम में 'षष्टिलक्ष संहिता' की रचना की थी। जन्मेजय ने ब्रह्म–हत्या के निवारण के लिये बद्रिकाश्रम में 'व्यास गुफा' नामक स्थान पर व्यास जी से महाभारत की कथा सुनी थी। इसी ग्रन्थ में देवप्रयाग की प्रशंसा एक सहस्त्र से अधिक श्लोकों में की गई है। उसे समस्त तीर्थों का शिरोमणि एवं समग्र पापों का विनाशक कहा गया है।

इसी प्रकार श्री क्षेत्र (श्रीनगर) की महिमा का गान करते हुए कहा गया है यहाँ पर सत्नय संघ नरेश ने कोलासुर का बध किया था। 'मानस खण्ड' में उत्तराखण्ड के पूर्वी भाग कुमाऊँ या कूर्मांचल का वर्णन है। मानस खण्ड में वर्णन विष्णु के कूर्म अवतार और सृष्टि की उत्पत्ति से आरम्भ होता है। इस ग्रन्थ में कुमाऊँ की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ अयोध्या नरेश ऋतुपर्ण, राम, लक्ष्मण व सीता तथा द्वापर युग में दुःशासन आदि कूर्मांचल में पहुंचे थे। दक्ष–यज्ञ के पश्चात् शिवजी ने जागेश्वर में तपस्या की थी और यहीं कार्तिकेय जी का जन्म हुआ था। इस ग्रन्थ के अनुसार द्रोण, कौशिक, सत्यव्रत, गर्ग, मार्कण्डेय तथा सुतय ब्रह्म ने इस क्षेत्र में तपस्या की थी।

महाभारत के 'वन पर्व' में ऋषि धौम्य सम्राट युधिष्ठिर को भारत के तीर्थ–केन्द्रों के विषय में बताते हैं–

'राजन! सर्वप्रथम उत्तरी भारत में स्थित तीर्थ स्थानों की महिमा के विषय में सुनो। अपने उद्‌गम स्थल से बहती हुई उत्तुंग शिखरों को पार करती हुई पावन गंगा जिस स्थल पर मन्थर गति से गतिमान होती है उसे गंगाद्वार कहते हैं, जो कि गन्धर्वों तथा अप्सराओं का निवास स्थान है।

'सनत कुमार एवं ब्रह्म ऋषियों ने भी इस स्थान का पुण्य–लाभ प्राप्त करके पवित्र 'कनखल' (वर्तमान समय में गंगाद्वार 'हरिद्वार' को कहते हैं। कनखल नगर हरिद्वार के सन्निकट ही है) की यात्रा की।'

प्राचीन युग में यह क्षेत्र सम्भवतः हिमवत पर्वत के नाम से प्रसिद्ध था। 'वन पर्व' के अनुसार पाण्डवों ने जब बद्रीनाथ की तीर्थ यात्रा प्रारम्भ की तो दुर्गम पर्वतों की विषम जलवायु को देखकर युधिष्ठिर ने भीमसेन से यह कहा कि वह द्रौपदी तथा अन्य सेवकों के साथ गंगाद्वार में तब तक निवास करें जब तक वे बद्रीनाथ, गन्धमादन, कैलाश आदि की यात्रा से लौटकर न आ जाएँ।

ममागमनमाकाङ्‌गन्गङ्‌गाद्वारे समाहितः (महाभारत, 3/141/7)।

अन्त में यह निश्चय किया गया कि सभी तीर्थ–यात्रा पर जायेंगे। तत्पश्चात् वे 'सुबाहु विषय' में पहुंचे। वहां अपने सेवकों व सामग्री को रखकर वे पैदल ही हिमवन्त गिरि के लिये चल पड़े। अनेक सरोवरों, सरिताओं एवं वनों से युक्त पर्वतों को पार कर उन्होंने म्लेच्छ गणों के देश देखे।

ते व्यतीत्य बहुन्देशानुन्तराश्च कुरुनापि।

ददृशुर्विविधा श्चर्य कैलासं पर्वतोत्तमम्।। 15

अन्त में उत्तर कुरु आदि देशों में भ्रमण कर वे कैलाश, नर–नारायण पर्वत, बद्री, गन्धमादन, विशाला आदि तीर्थों के दर्शनार्थ गए। इन तीर्थों में विचरण करते हुए उन्होंने मैनाक, मन्दर, मेरु आदि पर्वत–शिखरों को भी देखा। तत्पश्चात वे 'सुबाहु–विषय' में लौट आये जहाँ से अपने सेवकों तथा सामान को लेकर 'दामुन' होते हुए अपने आश्रम की ओर लौट गए। इस यात्रा–विवरण में सर्वाधिक 'पर्वत' एवं 'हिमवत्' शब्दों का प्रयोग किया गया है जो 'कुमाऊँ' तथा 'गढ़वाल' के सबसे प्राचीन नाम प्रतीत होते हैं।

भौगोलिक रूप से डा0 कटोच के अनुसार गढ़वाल–कुमाऊँ और उसके आस पास का प्रदेश उत्तर कुरु का ही एक अंग था। उसके सबसे दक्षिणवर्ती भाग के मानव महाष्म काल में सीमित मात्रा में कृषि कार्यों के परिचायक हैं; तथापि इस क्षेत्र में कृषि के व्यापक विस्तार का श्रेय, कुरुजनों को दिया जा सकता है। महाकाव्य काल में मध्यहिमालय जिसका उत्तराखण्ड मध्यवर्ती अंग है का भौगोलिक एवं राजनीतिक चित्र कुछ अधिक स्पष्टता के साथ मिलता है। महाभारत के आदि पर्व में उत्तर कुरु तथा दक्षिण कुरु, दो देशों को स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। इस काल में भी उत्तराखण्ड क्षेत्र उत्तर कुरु के अन्तर्गत था। सभापर्व में भारत द्वारा वर्णित उत्तर–दिग्विजय प्रसंग में उत्तराखण्ड की भौगोलिक एवं जाति व्यवस्था को संदर्भित किया गया है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उत्तर–कुरुदेश से गंगा जल, पुष्प, बलसम्पन्न औषधियां, भार में पिपीलिका स्वर्ण तथा मधु भेंट में आया था। इस संदर्भ में यहाँ की जातियों के नाम, जागुड़, रामठ, खश, तङ्गण आदि के नाम मिलते हैं। डा0 कटोच का मानना है कि उद्योग पर्व में उल्लिखित महाभारत युद्ध में दुर्योधन के पक्षधर 'पर्वतीयाः' ऋग्वेद के 'पारावत' जन ही थे। इसका आशय यह है कि गढ़वाल तथा उसका पास पड़ोस जिस भौगोलिक प्रदेश में अवस्थित था, उसे इस काल में भी 'उत्तर कुरु' कहते थे तथा राजनीतिक दृष्टि से यह स्वतन्त्र होते हुए, हस्तिनापुर के कुरुओं को मात्र उपायन भेंट करता था।

महाभारत काल में इस प्रदेश की कुछ राजनीतिक इकाइयों का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। आदिपर्व के अनुसार अर्जुन का ऐरावतकुल के नागराज कौरव्य की कन्या उलूपी से विवाह गंगाद्वार में हुआ था। डा0 कटोच का मत है कि गंगाद्वार तब नागों की एक राजधानी ज्ञात होती है। इसी प्रकार इस प्रदेश में 'कुणिन्द–विषय' का उल्लेख, सभापर्व, आरण्यकपर्व एवं भीष्म पर्व तीनों में मिलता है। इसका राजा कुणिन्द सुबाहु कहा गया है। कुणिन्द विषय ही सुबाहु विषय है, जहाँ वनवास काल से लौटते समय पाण्डवों ने सुबाहुपुर में एक रात्रि विश्राम किया था। सुबाहुपुर की पहचान गढ़वाल में श्रीनगर से की जाती है।

इस प्रकार महाभारत काल में इस प्रदेश में खश, तङ्गण, किम्मपुरुष आदि जन जातियों के अस्तित्व के साथ कम से कम तीन राजनीतिक शक्तियां स्पष्ट हो

जाती हैं; गंगाद्वार (हरिद्वार) क्षेत्र में नागराज कौरव्य, सतलज से अलकनन्दा तक के विस्तृत भाग में कुणिन्द सुबाहु, राजधानी सुबाहुपुर अथवा श्रीनगर और मन्दाकिनी के उत्तरी भाग में सम्भवतः असुर बाण। मध्य हिमालय की ये समस्त जातियाँ महाभारत की रचना के समय उत्तर–कुरुक्षेत्र में निवास करती थीं।

डा0 कटोच का मत है कि छठी शती ई0पू0 में उत्तर भारत में कांस्य युग के मानव ने सातवीं शताब्दी ई0पू0 के आसपास ऐतिहासिक युग में प्रवेश कर लिया था और इस काल में मध्य हिमालय के कुछ जनपदों के नाम मिलते हैं जिन्हें कालकूट, कुलुन, कत्रि, युगन्धर, रंकु और भारद्वाज नाम सें अभिहित किया गया है। ये जनपद कुरु तथा उत्तर पांचाल राज्यों के उत्तर में स्थित थे। ज्ञात होता है कि छठी शती ई0पू0 के प्रारम्भ में कुणिन्दों की अनेक शाखाएं ही इस प्रदेश में प्रधान राज्य शक्तियाँ थी। इस प्रकार मध्य हिमालय सहित उत्तर भारत में इस काल में कोई सार्वभौम सत्ता नहीं थी, सिकन्दर के आक्रमण के समय (327–325 ई0 पू0) भारतीय अथवा यूनानी किसी भी स्त्रोत से मध्य हिमालय के उक्त जनपदों पर उसके अधिकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

मौर्यकाल (324 – 187 ई0पू0): कालसी में सम्राट अशोक के शिला प्रज्ञायन की प्राप्ति से यह प्रमाणित होता है कि यह प्रदेश अशोक के साम्राज्य की उत्तरी सीमा में था। डा0 राय चौधुरी का मानना है कि अशोक के स्तम्भों से उत्कीर्ण लेखों से सिद्ध होता है कि देहरादून जनपद तथा तराई क्षेत्र भी अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत था। परन्तु मध्य हिमालय के पर्वतीय भागों में शासन पूर्ववत् कुणिन्द नरेशों द्वारा ही होता रहा होगा। इसी काल में, अशोक के शासन काल के सत्रहवें–अठारहवें वर्ष में मध्य हिमालय में बौद्ध धर्म की पहली लहर पहुँची होगी। शुङ्गकाल (लगभग 187 – 75 ई0 पू0) में मध्य हिमालय का कुणिन्द जनपद, देहरादून सहित पूर्णतः स्वतन्त्र रहा होगा। यद्यपि सेना पानी में प्राप्त स्तूप के भग्नावशेष जिनका अध्ययन अभी नहीं हुआ है अनुमानित किए जाते हैं कि शुङ्गकालीन है किन्तु यह वन प्रदेश भी उनके अधिकार में नहीं था।

डा0 कटोच के अनुसार मध्य हिमालय में प्रायः 200 ई0पू0 से 300 ई0पू0 तक कुणिन्द सत्ता के इतिहास का एकमात्र स्त्रोत उनकी मुद्राएं है। जिनके तीन प्रकार हैं।

i) अमोघभूति प्रकार :

महाराजा अमोघभूति कुणिन्दों के सबसे प्रतापी राजा थे अतः स्पष्ट है कि 'अमोघभूति प्रकार' की मुद्राएं उस प्रतापी राजा के नाम से थी । रजत तथा ताम्र

मुद्राएं तथा उन पर अपूर्ण मुद्रालेख ब्राह्मी–खरोष्ठी में अथवा मात्र ब्राह्मी में मिलता है।

ii) अल्मोड़ा प्रकार :

ये मुद्राएं केवल उत्तराखण्ड में मिली हैं इनमें से अल्मोड़ा जनपद में मिली चार मुद्राएं ब्रिटिश संग्रहालय लंदन में हैं। इसके बाद कत्यूर घाटी में 54 मुद्राएं मिली हैं।

iii) चत्रेश्वर प्रकार :

यह मुद्राएं कुणिन्दों ने मान्यता अनुसार अपने अधिष्ठाता देव चत्रेश्वर अथवा छत्रेश्वर के नाम पर निर्गत की होंगी।

कुषाणों के शासन काल में भी (पहली सदी ई0 से तीसरी सदी ई0 तक) कुणिन्दों की स्वतन्त्र सत्ता थी। यद्यपि कुषाणों की महती शक्ति के समक्ष कुलिन्दों को अपने पर्वतीय भूभाग से ही संतुष्ट रहना पड़ा। महान कुषाण सम्राट कनिष्क प्रथम के परिवार को मध्य हिमालय के तराई प्रदेश पर अधिकार करने का श्रेय है। डा0 कटोच का मत है कि उनके उत्तराधिकारियों ने उनके द्वारा विजित प्रदेश को पूर्ववत् अपने अधिकार में रखा। कुषाणों की मुद्राएं उत्तराखण्ड की तराई और शिवालिक के समीप भी प्राप्त हो चुकी हैं। उत्तराखण्ड में कुषाण मुद्राओं के प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि कुणिन्दों के मैदानी भाग कुषाणों के अधिकार में चले गए थे परन्तु मध्य हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में तब भी कुणिन्दों का स्वतन्त्र राज्य स्थापित था। कुषाण–सत्ता अधिक समय तक स्थित न रह सकी और मैदानी क्षेत्र में कुणिन्द वंश पुनः स्थापित हो गया।

कुषाणोत्तर काल में मध्य हिमालय में जिन गणराज्यों व राज वंशों के शासन का ज्ञान उनकी मुद्राओं और अभिलेखों से मिलता है, वे हैं :

- यौधेय– उनका गणराज्य तृतीय–चौथी शती ईसवी में बहुत शक्तिशाली था। मध्य हिमालय के पश्चिमी भाग में उनके शासन की पुष्टि काँगड़ा, शिमला, जौनसार भाबर, काला डाँडा (गढ़वाल) और सहारनपुर में अत्यधिक मात्रा में प्राप्त उनकी मुद्राओं से होती है।

- परवर्ती कुणिन्द जो पर्वतीय प्रदेश में मैदानी भागों पर क्रमशः कुषाण तथा यौधेय अधिकार हो जाने के उपरान्त भी, पर्वतीय प्रदेश में किसी न किसी रूप से शासन करते रहे।

http://ou.ac.in

- युगशैल का वार्षगण्य गोत्रीय वंश जो कालसी प्रदेश में राज्य कर रहा था और जिसके प्रतापी राजा शीलवर्म्मन (250–300 ई0) ने यमुना के वाम तट पर अश्वमेध यज्ञ किए।

डा0 कटोच का मानना है कि, "गुप्त कालीन (तीसरी से पाँचवीं शताब्दी) मध्य हिमालय का राजनीतिक इतिहास अभी तामाच्छन्न है। प्रयाग प्रशस्ति तथा लाखामण्डल खण्डित शिलालेख से तत्कालीन राजनीतिक स्वरूप की एक अपूर्ण रूप रेखा ही हमें मिलती है।" समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में नेपाल के पश्चिम में स्थित कर्त्तृपुर का समीकरण गढ़वाल कुमाऊँ से किया जाता है, जिसमें रुहेलखण्ड और यमुना का पश्चिमी भाग भी सम्मिलित रहा होगा।

लाखामण्डल के खण्डित शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि यमुना के किनारे स्थित लाखामण्डल के आस पास का क्षेत्र उसके राज्य के अन्तर्गत था। यामुन प्रदेश में ही कालसी के आस पास, पूर्व गुप्त काल से यादवों की एक शाखा शासन कर रही थी।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त राजवंश का प्रताप ढलने लगा तथा गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ ही भारत के विभिन्न क्षेत्रों की भांति सम्भवतः मध्य हिमालय में भी राजनीतिक परिवर्तन आया। तदुपरान्त यहाँ परम्परागत राजवंश शासन कर रहे थे, जिनमें यादव तथा नाग प्रधान थे।

डा0 कटोच के अनुसार "यदुवंशीय राजाओं का ज्ञान हमें ईश्वरा की लाखामण्डल प्रशस्ति से होता है।" प्रशस्ति में इस राजवंश की ग्यारह पीढ़ियों के बारह शासकों का नाम उद्धृत है, जिनकी स्थिति प्राक्–गुप्तकाल से कम से कम हर्षवर्द्धन के काल तक रही होगी। प्रशस्ति में यमुना प्रदेश के यदुओं की राजधानी 'सिंहपुर' बतायी गई है; यह सिंहपुर लाखामण्डल प्रशस्ति का सिंहपुर हो सकता है।

मध्य हिमालय में छठी–सातवीं ईस्वी में नागवंश के अस्तित्व का पता चलता है। इस सूचना का प्रमुख स्त्रोत उस वंश के त्रिशूल–लेख का गोपेश्वर (गढ़वाल) में प्राप्त होना है। गोपेश्वर त्रिशूल लेख में चार नाग नरेशों के क्रमागत नाम दिये गये हैं; स्कन्दनाग, विभुनाग, अंशुनाग और गणपति नाग। गणपतिनाग उत्तरी नाग वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक प्रतीत होता है। उसका राज्य विस्तार हिमालय में कर्त्तृपुर (गढ़वाल तथा पास पड़ोस) में विस्तृत होने का अनुमान होता है।

हर्ष के पश्चात् मध्य हिमालय (648 ई0 – 750 ई0)

कान्यकुब्ज में 647 ई0 में वर्द्धनवंश का अन्त हो गया। फलतः मध्य हिमालय में स्त्रुघ्न, ब्रह्मपुर और गोविषाण के तीन जनपद डा0 कटोच के अनुसार अब

कान्यकुब्ज साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गए। ये तीनों जनपद कुणिन्द राज्य से विखण्डित होने पर एक लघु अवधि के लिए हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत आ चुके थे। इन जनपदों की सूचना चीनी यात्री युवान–च्वाङ् (624) के यात्रा वृत्तान्त से मिलती है।

- स्त्रुघ्न राज्य– इसकी पूर्वी सीमा पर चीनी यात्री के अनुसार गंगा बहती थी, और उत्तर में ऊँचे पर्वत अवस्थित थे, यमुना इसके मध्य में होकर बहती थी।

- पौरवों का ब्रह्मपुर राज्य– तीनों राज्यों में सर्वाधिक विस्तार वाला यह राज्य गंगा से पूर्व में करनाली नदी तक विस्तृत था। चीनी यात्री के अनुसार, इसकी उत्तरी सीमा पर महा हिमालय में सुवर्णगोत्र देश था। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्मपुर नरेश सोनवंशीय पौरव राजवंश के थे।

वंश :–

जहा तक पौरव–वर्मन शासकों के वंश का सम्बन्ध है ताम्रपत्रों में जुड़ी मुद्राओं से निम्नलिखित वंश की जानकारी होती है –

विष्णुवर्मन
|
वृषवर्मन
|
श्री अग्निवर्मन
|
द्विजवर्मन

ताम्रपत्रों के पाठ से पता चलता है कि ये विष्णुवर्मन द्वारा जारी किये गये हैं । इन ताम्रपत्रों और उनमें जुड़ी मुद्राओं के सम्मिलित पाठ से अग्रांकित वंश निश्चित किया जा सकता है –

अग्निवर्मन
|
द्युतिवर्मन
|
विष्णुवर्मन

http://uou.ac.in

इन मुद्राओं और ताम्रपत्रों के आधार पर नौटियाल ने अग्रांकित वंश सुझाया है –

विष्णुवर्मन
|
वृषवर्मन
|
अग्निवर्मन
|
द्विजवर्मन
|
विष्णुवर्मन

गोविषाण राज्य– कनिंघम के अनुसार इस राज्य में वर्तमान काशीपुर क्षेत्र के अतिरिक्त रामपुर एवं पीलीभीत जनपद भी थे तथा इसका विस्तार पश्चिम में रामगंगा से लेकर पूर्व में शारदा तक था। ब्रह्मपुर इसके उत्तर में स्थित था। इस राज्य की राजधानी गोविषाण की पहचान कनिंघम द्वारा वर्तमान काशीपुर से लगभग 1½ किमी0 दूर उज्जैन ग्राम के पास पुराने दुर्ग से की गई है।

उक्त तीन जनपदों के अतिरिक्त डा0 कटोच का मानना है कि, इस काल में सम्भवतः एक अन्य स्वतन्त्र राज्य भी था जो देवप्रयाग के आस पास गंगा के तटवर्ती प्रदेश में स्थित था। गढ़वाल के दक्षिणी भाग में पाण्डुवाला तथा मोरध्वज क्षेत्रों में भी लघु राज्यों का अस्तित्व था।

कार्त्तिकेयपुर राजवंश (प्रायः 700 ई0 – प्रायः 1050 ई0)

675 ई0 के आसपास मध्य हिमालय के सबसे बड़े राज्य ब्रह्मपुर का पतन हो चुका था। डा0 कटोच का मत है कि सतलज से लेकर पश्चिमी नेपाल तक समस्त मध्य हिमालय अनेक कबीलाई राज्यों में विभक्त था। उन्हीं में से प्राचीन कुणिन्दों की एक शाखा उत्तर–पश्चिमी गढ़वाल में अपनी शक्ति की वृद्धि में व्यस्त थी तथा अनेक लघु राज्यों को अधीन कर मध्य हिमालय में पुनः एक प्रबल शक्ति के रूप में सामने आयी। इस प्रकार प्रायः 700 ई0 से लेकर प्रायः तीन शतियों तक 'कार्त्तिकेयपुर राजवंश' ने मध्य हिमालय में प्रथम बार राजनीतिक एकता स्थापित की और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रारम्भ से ही वास्तु कला की अनमोल धरोहर छोड़ी है। मध्य हिमालय का यह प्रथम ऐतिहासिक राजवंश है। इस राजवंश के अब तक नौ अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं।

इस राज्य वंश के प्रथम तीन परिवारों के चौदह नरेशों ने उत्तराखण्ड तथा उसके पड़ोसी प्रदेशों पर प्रायः तीन सौ वर्षों तक शासन किया। वसन्तनदेव प्रथम परिवार का संस्थापक था और निम्बर द्वितीय परिवार का। सम्भवतः इस वंश के शासक इष्टगणदेव ने कार्त्तिकेयपुर राज्य की सीमाओं को वर्तमान कुमाऊँ–गढ़वाल तक विस्तृत कर उसका एकीकरण किया। डा0 कटोच के अनुसार उनके प्रतापी पुत्र ललितश्वर देव एक महान निर्माता थे और सर्वाधिक ताम्र शासन उन्हीं के मिले हैं। तृतीय परिवार का अन्तिम शासक सुभिक्षराजदेव थे।

डा0 कटोच का मत है कि इस राज्य वंश को कत्यूरी मानने का कोई आधार नहीं है। उनके अनुसार कत्यूरी वंश का नाम केवल लोक गाथाओं में मिलता है और इस नाम का प्रयोग सर्वप्रथम एट्किन्सन ने किया है। उनकी यह भ्रान्त धारणा अनुश्रुतियों एवं सुनी सुनाई बातों पर अवलम्बित थी।

कुमाऊँ और गढ़वाल नामों की उत्पत्ति–

कुमाऊँ शब्द की उत्पत्ति में यह किंवदन्ति प्रचलित है कि पिथौरागढ़ जिले की चम्पावत तहसील में 'कानदेव' नामक पहाड़ी पर भगवान ने कूर्म का रूप धारण कर तीन सहस्त्र वर्ष तक तपस्या की। हाहा, हूहू देवतागण तथा नारदादि मुनीश्वरों ने उनकी प्रशस्ति गाई। लगातार तीन सहस्त्र वर्षों तक एक ही स्थान पर खड़े रहने के कारण कूर्म भगवान के चरणों के चिन्ह पत्थर में अंकित हो गये जो अभी तक विद्यमान हैं। तब से इस पर्वत का नाम कूर्मांचल हो गया– कूर्म+अचल (कूर्म जहाँ पर अचल हो गये थे)।

कूर्मांचल का प्राकृत रूप बिगड़ते–बिगड़ते कुमू बन गया तथा यही शब्द बाद में कुमाऊँ में परिवर्तित हो गया । सर्वप्रथम यह नाम केवल चम्पावत तथा उसके समीपवर्ती गांवों को दिया गया किन्तु जब यहाँ चन्दों के राज्य की स्थापना हुई एवं उसका विस्तार हुआ तो कूर्मांचल उस समग्र प्रदेश का नाम हो गया जो इस समय अल्मोड़ा, नैनीताल एवं पिथौरागढ़ में शामिल है। तत्कालीन मुस्लिम लोग चन्दों के राज्य को कुमायूं कहते थे और यही शब्द आजकल कुमाऊँ के रूप में प्रचलित है।

'तारीख–ए–मुबारकशाही' के अनुसार सन् 1380 ई0 दिल्ली–सुल्तान फिरोजशाह ने कटेहर के विद्रोही सरदार खड़गू का दमन करने के लिये प्रवेश किया तो भयभीत होकर विद्रोही नेता ने कुमाऊँ में शरण ली।

कर्त्तृपुर अथवा कार्तिकेयपुर

यद्यपि पुराणों में वर्णित कूर्म अवतार के कारण इस अंचल का नाम कुमाऊँ पड़ा या कूर्मांचल कहा गया किन्तु अर्वाचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा प्राचीन ग्रन्थों

http://uou.ac.in

से ज्ञात होता है कि कूर्मांचल या कुमाऊँ दोनों शब्द बहुत बाद के हैं। सम्राट समुद्रगुप्त के प्रयाग–स्थित प्रशस्ति लेख में इस प्रान्त को (कार्तिकेयपुर) कहा गया है। तालेश्वर में उपलब्ध पाँचवीं तथा छठी शताब्दी के ताम्रपत्रों में 'कार्तिकेयपुर' तथा 'ब्रह्मपुर' दोनों नामों का उल्लेख हुआ है। प्रसिद्ध पाण्डुकेश्वर वाले ताम्रपत्रों में केवल 'कार्तिकेयपुर' शब्द आया है। किन्तु चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इसे 'ब्रह्मपुर' शब्द से सम्बोधित किया है।

डॉ0 ए0बी0एल0 अवस्थी ने अपनी पुस्तक "स्टडीज इन स्कन्द पुराण भाग–1" में लिखा है कि गढ़वाल एवं कुमाऊँ को ही सम्मिलित रूप से 'ब्रह्मपुर' पुकारा जाता था। इसके साथ ही जिस 'स्त्रीराज्य' का वर्णन ह्वेनसांग ने किया है, श्री अवस्थी उस प्रथा का प्रचलन क्षेत्र 'ब्रह्मपुर' के उत्तर में मानते हैं। डॉ0 डी0 सी0 सरकार 'स्त्रीराज्य' का प्रचलन क्षेत्र कुमाऊँ व गढ़वाल को मानते हैं। सम्भवतः ह्वेनसांग द्वारा वर्णित स्त्रीराज्य गढ़वाल में रहा होगा जो कि राजा सोनपाल के राज्यकाल तक प्रचलित रहा होगा। सोनपालकालीन ऐतिहासिक स्रोत तो नहीं के बराबर ही उपलब्ध हैं किन्तु जब से परमारों का आविर्भाव सन् 688 ई0 से गढ़वाल की श्यामल धरा पर हुआ ऐतिहासिक स्रोत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगे। गौरवशाली परमार वंश की ऊषा–किरण राजा कनकपाल के रूप में प्रस्फुटित हुई। यह राजा सोनपाल का घर जँवाई बना, जो कि गढ़वाल का निवासी नहीं था बल्कि प्रवासी था। यह सम्भव है कि सोनपाल का कोई पुत्र न होगा और ऐसी स्थिति में यदि उसे दत्तक पुत्र की आकांक्षा होती तो सर्वाधिक योग्य कनकपाल ही होता। इसके विरुद्ध सोनपाल ने कनकपाल को घर जँवाई बनाकर, अपनी पुत्री के हाथों में सत्ता सौंपकर अपने पूर्वजों द्वारा प्रचलित एवं आरोपित प्रथा को बरकरार रखा। राजा कनकपाल के बाद गढ़वाल में यह प्रथा तिरोहित सी हो गई।

गढ़वाल शब्द की उत्पत्ति

'गढ़वाल' शब्द परमारों की देन है। चौदहवीं शताब्दी में परमार वंश के ही एक 'दैदीप्तमान' नक्षत्र राजा अजयपाल ने 52 छोटे–छोटे गढ़ों में विभक्त इस अंचल को एक सूत्र में पिरो दिया और स्वयं उस राज्य का एकछत्र स्वामी अर्थात 'गढ़वाला' बना जिसका राज्य कहलाया गढ़वाल। डॉ0 शिवप्रसाद डबराल कहते हैं कि 'गढ़वाल' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इस स्थल के प्रसिद्ध चित्रकार श्री मोलाराम (सन् 1815) ने किया। श्री मुकन्दीलाल सन् 1743 से सन् 1833 तक श्री मोलाराम का काल मानते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'गढ़वाल' शब्द का उदय श्री मोलाराम से पूर्व हो चुका था, क्योंकि हिन्दी जगत के विख्यात कवि भूषण ने राजा फतेहशाह की प्रशस्ति में जो यशोगान किया था उसमें 'गढ़वार' शब्द स्पष्ट रूप से प्रयुक्त किया गया है–

"लोक ध्रुव लोक हूं ते ऊपर रहेगो भारी,
भानु ते प्रमानि को निधान आनि आनेगो।
सरिता सरिस सुर सरितै करैगो साहि,
हरि तै अधिक अधिपति ताहि मानैगो।।
अरध परारध लौ गिनती गनैगो गुनि,
बद ले प्रमाण सो प्रमान कछु जानैगो।
सुयश ते भली मुख भूषण भनैगो बाढ़ि,
गढ़वार राज्य पर राज जो बखानैगो।।"

इसके अतिरिक्त ठा0 शूरवीर सिंह, पुराना दरबार, टिहरी संग्रह में एक ताम्रपत्र संवत 1757 अर्थात 1700 ई0 का इस प्रकार है, जिसमें गढ़वाल शब्द का प्रयोग किया गया है–

श्री बद्रीनाथ जयन्ती

श्री साके 1622 संवत 1757 फाल्गुन मासे दिन 1 गते मंगल वासरे श्री नग्र शुभ स्थानै श्री महाराजा फतेपति साह देव ज्यूले पाजो कयी भाका पत्र लेषी।

बदरी नाथो दिग्विजयी
फतेपति साह
श्री महाराज
राजते सर्वदा

देवल गढ़ मंडल जो सीरसेड को छ श्री राजराजेस्वरी देवी का भोग को सो सेरो 70 जारा दकुन्याली मठयाणा का नौतीयालु ले षाणी कमौणी 4554 बारे साही 70 जारा की भारीया पायाले बहोतर दोण देवल गढ़ का कमीण भग भरणी छ 30 दोण साटी सेरा का बीज कुं राषणी जना कोठुड़ अैठाण नयाल गढ़ ग्वाड़काठ कुराला सेरा ष पीकमा 30 आयन साटी का भांरा थाती भीत्र सारी अयेन तनो सारणो कमौणो जब नज्ञु कमीण आव तब नोटयालु ले 905 रुपेज्ञा जोता 30 का देण देस पाइदी माफक सेरो सदामद षाणो यै वधे जमाउ **गढ़वाल** संतान ले चलौण बुकौण नी करणी 605 रुपेज्ञा भाका पत्र कराज्ञी की भेंट का आया साक्षी वृहस्पती जी गीरी धर लाल ओझा लक्ष्मण भट्ट मधुकर साह जी जै सींह स्यामसींह अमर सींह नेगी गरीब दास ठाकुर कमीण लीषति वीद्याधर डोमाल।

इन तथ्यों से यह विदित होता है कि सत्रहवी शताब्दि में 'गढ़वाल' और 'गढ़वार' दोनों ही शब्द प्रचलित थे।

http://uou.ac.in

उत्तराखण्ड के आदि निवासी

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ग्रियर्सन का मत है कि गढ़वाल तथा कुमाऊँ के आदि निवासी किरात थे। प्राचीन ग्रन्थों में पतित पावनी गंगा नदी एवं जगत माता दुर्गा, पार्वती को भी 'किराती' नाम से सम्बोधित किया है। संस्कृत 'कृ' तथा अत्' से किरात शब्द बना है। अतः स्पष्ट है कि यह किरात शब्द भौगोलिक नाम का द्योतक है। पर्वतीय क्षेत्र में गंगा की घाटियों के निवासी किरात कहलाते थे। चौथी सदी ईसा पूर्व के जग–विख्यात यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने अपनी रचना में इस क्षेत्र में किरात जाति का होना वर्णित किया है।

महाभारत–सभा–पर्व अध्याय 4, वन–पर्व अध्याय 51 तथा भीष्म–पर्व अध्याय 9 में किरात जाति के सम्बन्ध में सम्मानित वर्णन मिलता है। महाकवि कालिदास कृत 'रघुवंश' महाकाव्य के अध्याय 4/76 में इस पर्वतीय क्षेत्र में किरात निवासियों का वर्णन है। 'मत्स्य पुराण' एवं 'मार्कण्डेय पुराण' में भी यहाँ के किरात राज्य एवं किरात भूमि का वर्णन आता है। महाकवि बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' में किरात लोगों का इस भूखण्ड में निवास होना लिखा है। प्राचीन भूगोल शास्त्रज्ञ 'बाराहमिहिर' ने भी अपने ग्रन्थ 'बाराही संहिता' के अध्याय 14 में इन किरात लोगों का आवास बताया है।

महाभारत के 'वन–पर्व' अध्याय 140 में वर्णित है कि पाण्डवगण गन्धमादन पर्वत (बद्रीनाथ) जाते समय मार्ग में सुबाहु नरेश की राजधानी में ठहरे थे जो आज श्रीनगर (गढ़वाल स्थित) नाम से प्रसिद्ध है एवं इस राज्य के निवासी किरात, तंगण तथा पुलिन्द थे–

"किरात तंगण कीर्ण पुलिन्द रात संकुलम्।
हिमवत्य वरं जुष्टं पिकाश्चर्य समाकुलम।।"

रामचन्द्र जी के बनवास जाने पर उनके कुलगुरु वशिष्ठ जी इसी किरात भूमि 'हिमदाव' (हिंदाव, टिहरी गढ़वाल) में आकर यहाँ पर स्थित एक कन्दरा में अपनी पत्नी अरुन्धति के साथ कुछ काल तक रहे थे। बनवास के पश्चात् जब लक्ष्मण जी उन्हें लेने आए तो कुलगुरु ने इस क्षेत्र की महिमा का विशद् वर्णन करते हुए इसे शिवधाम बताया था।

अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि यह क्षेत्र रामायण तथा महाभारत काल में किरात भूमि के रूप में प्रसिद्ध था। इन किरातों के अधिपति या जननायक की उपाधि शिवसिद्ध होती है जिसका विश्वस्त प्रमाण महाभारत के वन–पर्व में मिलता है। वन–पर्व अध्याय 36 में लिखा है कि इस क्षेत्र के मध्य स्थित श्रीनगर के निकट ही किरातात्मा महादेव शिवजी से पाण्डुपुत्र अर्जुन का तुमुल संग्राम हुआ था। इस

http://uou.ac.in

घटना का विस्तृत वर्णन केदारखण्ड के (स्कन्दपुराण के अन्तर्गत) अध्याय 181 में भी किया गया है–

"किरातात्मा महादेव स्वबाणं प्रजाहारः
एव एव बभूवास्य फाल्गुनस्य शरस्तथा।
ततस्त्यक्त्वा तुतं भिल्लं किरातान्समपीडयत्
किराता समनुप्राप्ता असंख्यातास्तपोगीरेः।।
नाना शस्त्र प्रहरणः के चिल्लं गुडहस्तकाः।
सेना कैरातिकी दृष्ट्वां प्रजहासार्जुनस्तदा।।"

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थान किरातों का मुख्य गढ़ था और यहीं पर असंख्य किरातों ने अपने नेता शिव के झन्डे के नीचे अर्जुन से युद्ध किया था। जिस स्थान पर यह युद्ध हुआ वहाँ आज 'विल्लव केदार' नामक प्रसिद्ध तीर्थ–स्थान बन गया है जो कि श्रीनगर से 6 मील के अन्तर पर अलकनन्दा के बाँए तट पर विद्यमान है। यह 'शिव प्रयाग' के नाम से भी विख्यात है तथा यहाँ पर प्राचीन शिवलिंग स्थापित है।

आचार्य कवि राजशेखर ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्य मीमांसा' के भौगोलिक वर्णन में शिव के निवास स्थान का सुन्दर वर्णन किया है। किरात जाति के शौर्य एवं कान्तिमय व्यक्तित्व की भी इन्होंने भूरि–भूरि प्रशंसा की है–

"मार्गा पन्थानं प्रियांत्यक्ता दुराकृष्ठशिलीमुखम्।
स्थितं पन्थानं मा वृत्य किं किरात न पश्याति।।"

अतः सभी प्रामाणिक तथ्य यही सिद्ध करते हैं कि उत्तराखण्ड के आदि निवासी 'किरात' नाम से प्रसिद्ध थे।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये 'किरात' थे कौन? यदि सप्तसिन्धु को उत्तराखण्ड माना जाए तो किरात भी आर्य जाति के ही थे। वैदिक काल में ही आर्य लोग अपनी जन्मभूमि अर्थात उत्तराखण्ड से बाहर आकर चारों दिशाओं में फैलने लगे थे। आर्य सभ्यता के प्रसार हेतु इनमें से अधिकांश विद्वज्जन एवं धनुर्धारी वीर "कृणवन्तों विश्वमार्यम्" का जयघोष करते हुए भारत एवं विश्व के विभिन्न स्थानों में गए। यहाँ के सभी लोगों का बाहर जाना सम्भव न था। जो लोग अपनी जन्म–भूमि में ही रुक गए वही कालान्तर में 'किरात' कहलाये। इनमें वे प्रवासी भी शामिल हैं जो वैदिक काल में अपने आदि स्थान को त्यागकर गए थे किन्तु मैदानी भागों में रोगग्रस्त हो गये। इस कारण उन्हें पुनः अपनी जन्मभूमि उत्तराखण्ड को लौटना पड़ा।

"दोषं मत्वा पूर्व निवासं हिमवंतं जग्मुः।"

http://ignou.ac.in

हजारों वर्षों तक उत्तराखण्ड में बसे आर्यों की यह पीढ़ी विशुद्ध आर्य सभ्यता का अनुसरण कर स्वस्थ, सम्पन्न एवं ऐश्वर्ययुक्त जीवन व्यतीत करती रहीं। महाभारत में वर्णन मिलता है कि युधिष्ठिर जी द्वारा सम्पन्न राजसूय यज्ञ में किरात आदि उच्च कोटि के नरेशों ने बहुमूल्य उपहार तथा श्रेष्ठ स्वर्ण भी भेंट किया।

भौगोलिक व्यवधानों के कारण उत्तराखण्ड का जनजीवन बाद की ऐतिहासिक उथल–पुथल एवं उससे उत्पन्न विकृतियों से भी दीर्घकाल तक अछूता रहा था। किन्तु समय ने करवट ली, महाभारत के प्रचण्ड गृह–कलह ने बाह्य आक्रान्ताओं को भारत की ओर उन्मुख होने के लिये प्रेरित किया तो मैदानी निवासी आर्य पुनः अपने पूर्वजों की जन्मभूमि उत्तराखण्ड में शरणार्थी के रूप में लौटे। 'शरणार्थी' 'स्वामी' बन गए अपने पाशविक बल व धूर्त्तता द्वारा। विजेता शरणार्थियों ने अपनी विजय का घृणित एवं कुत्सित प्रतिदान लिया, पराजित किरातों ने अपनी पराजय का भुगतान भरा और उनका जातिगत सम्बोधन ही बदल गया– आर्यों ने उन्हें 'शूद्र' 'अर्द्धशूद्र' की संज्ञा दे डाली। वर्तमान समय में उत्तराखण्ड के 'हरिजन' जिन्हें 'शिल्पकार' नाम से जाना जाता है, किरातों के ही वंशज हैं। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि उत्तराखण्ड के ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य सभी अपना नाता मैदानी भूभागों से जोड़ते हैं और अपने पूर्वजों को भारत के विभिन्न स्थानों से यहाँ आकर बसा हुआ कहते हैं किन्तु यहाँ के हरिजन स्वयं को उत्तराखण्ड का ही आदि निवासी होना स्वीकार करते हैं। उनमें ऐसी कोई जनश्रुति भी प्रचलित नहीं है कि उनका कोई पूर्वज बाहर से यहाँ आकर बसा हो।

डॉ0 शिवप्रसाद डबराल का मत है कि कोल या मुन्ड जाति भारत और हिमालय की प्राचीनतम और उसके पश्चात् क्रमशः किरात और खश जातियाँ हिमालय प्रदेश में आ बसीं। डॉ0 मजूमदार का कथन है कि मूल आस्थोलोइद जाति उत्तर प्रस्तर युगीन संस्कृति लेकर आई थी। उसकी भाषा के अध्ययन से विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि उस जाति ने भारत में सभ्यता का प्रकाश लाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। मूल आस्थोलोइद ने तत्कालीन अन्य जातियों, विशेषतः 'नेग्रितो' जाति (जो उसके आगमन से पूर्व भारत में बस गई थी), से घुलमिलकर 'कोल' या 'मुन्ड' जाति को जन्म दिया था। डॉ0 डबराल के अनुसार कोल उत्तराखण्ड के आदि निवासी हैं। एक समय था जब 'कोल' या 'मुण्ड' जाति उत्तर भारत के समग्र मैदानी प्रदेशों में छाई हुई थीं। कालान्तर में उत्तरी भारत में द्रविड़ जाति के प्रसार के कारण उसे दक्षिण के पठार में तथा हिमालय के वन प्रदेश में शरण लेनी पड़ी। 'मुण्ड' जाति एक स्वतन्त्र जाति के रूप में इसी नाम से मध्य भारत के ऊबड़–खाबड़ भागों में आज भी मिलती है।

जब किरात जाति का पर्वतीय क्षेत्रों में प्रसार हुआ तो कोल जाति को या उसका ग्रामसेवक बनना पड़ा अथवा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु दुर्गम व बीहड़

पठारों, उच्च पर्वतीय ढालों या भोटांतिक प्रदेश की उन संकीर्ण निर्जन घाटियों में शरण लेनी पड़ी जिनसे आगे बढ़ने का मार्ग भारत–तिब्बत सीमा पर स्थित हिमाच्छादित श्रेणियाँ रोके हुए हैं। कुछ समय पश्चात् पश्चिम की ओर से खश जाति ने हिमालय के उत्तम चराई क्षेत्रों से किरात जाति को उत्तर की दुर्गम घाटियों की ओर धकेल दिया। वहाँ पहले से ही बसी हुई कोल जाति को उनसे अधिक शक्तिवान किरात जाति ने आमूल नष्ट कर दिया।

किरात जाति पशुचारक व आखेटक जाति थी। वह भेड़ें पालती एवं काले कम्बल की गाती से शरीर ढकती थीं। हाथ में धनुष–बाण लिए हुए तथा कमर में कटार खोंस कर वह वनों में आखेट करती थीं। जब लघु हिमालय के पठारों में किरात लोगों का पूर्ण प्रसार हो गया तो कई शताब्दियों पश्चात् पश्चिम में ईरान व अफगानिस्तान से 'दरद' तथा 'खश' नामक पशुचारक जातियों की टोलियों ने 'दरदिस्तान' व कश्मीर के रास्ते पूर्व की ओर से लघु हिमालय के पठारों पर आगमन प्रारम्भ कर दिया। 'खश' जाति भी पशुचारक, आखेटक एवं वीर जाति थी। अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु इस जाति को बेबीलोनिया, एशिया माइनर, ईरान व अफगानिस्तान में अपने शत्रुओं से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। 'खश' जाति की प्रतिद्वन्द्विता में 'किरात' टिक न सके। शनैःशनैः 'खश' लोगों ने किरातों के अच्छे चारागाहों को छीनकर कश्मीर, कांगड़ा, हिमांचल, गढ़वाल, कुमाऊँ तथा पश्चिमी नेपाल में स्थित लघु हिमालय की ढालों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

खश जाति–

'खश' लोगों की मुखाकृति लम्बी, सीधी एवं ऊँची नासिका, मूँछ दाढ़ी की प्रचुरता, अपेक्षाकृत लम्बा आकार तथा हृष्ट–पुष्ट शरीर होता था। अपने विगत इतिहास एवं साहित्य स्रोतों के नितान्त अभाव के कारण इस जाति को शौर्यवान होने पर भी वह सार्वभौमिक ख्याति एवं स्थान न प्राप्त हो सका जो कि आर्य जाति को उसके गौरवमय साहित्य की चकाचौंध से प्राप्त हुआ। फलतः खश जाति के वंशज आर्यों से इतने प्रभावित हुए कि स्वयं को आर्यों की सन्तान कहलाने में उन्हें गर्व की अनुभूति होने लगी। वर्तमान काल में केवल हिमालय प्रदेश के निवासी ही खश जाति से सम्बन्धित माने जाते हैं जबकि प्राचीन काल में गंगाजी के मैदान तथा दक्षिण के पठार में दूर–दूर तक इस जाति का प्रसार हुआ था।

गढ़वाल–कुमाऊँ से प्राप्त कुछ प्राचीन लेखों के आधार पर कनिंघम का अनुमान है कि मौर्यवंश का अन्तिम नरेश राजपाल विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी में उत्तराखण्ड के राजा शकादित्य द्वारा मारा गया था। इससे अनुमान लगाया जाता है कि विक्रम की दूसरी व तीसरी शताब्दी से पूर्व किसी भी समय हिमांचल प्रदेश व उत्तराखण्ड में शक जाति आ बसी थी।

शक जाति–

शक जाति भी पशुचारक एवं अश्वपालक थी। इन लोगों में भी मिश्रवासियों की भाँति मृतकों की समाधि में उनकी प्रिय वस्तुयें रखने की प्रथा थी। लद्दाख, लाहुल, चम्बा और किन्नौर में लिप्प स्पू से आगे तिब्बती सीमान्त पर स्थित भारत के अन्तिम गाँव नमग्या और भलारी तक तथा मध्य तिब्बत में भी ऐसी कई समाधियाँ पाई गयी हैं जिनमें शक समाधि की सी समानता मिलती हैं।

'खश' व 'शक' दोनों जातियों में रूप, रंग, आकार–प्रकार, रुचि व पेशे में पर्याप्त समानता पाई जाती है। 'शकों' के आगमन से बहुत काल पूर्व ही कश्मीर से पश्चिम नैपाल तक समग्र हिमालय 'खश देश' बन चुका था। आगन्तुक शक तथा अन्य जातियाँ कालान्तर में उसी 'खश सागर' में विलीन हो गई और 'खश' रीति–नीतियों को अपनाकर उससे अभिन्न हो गयीं।

विख्यात इतिहासकार श्री राहुल का मत है कि 'शक' मूलतः खशों के ही वंशज थे। 'खश' शब्द ही उलटकर 'शख' या 'शक' हो जाता है। इसी के साथ वे कहते हैं कि हिमालय का प्रथम ऐतिहासिक वंश कत्यूरी भी शकों से सम्बन्धित था। कत्यूरी नरेशों के समकालीन यशोवर्मन चन्देल के खजुराहो शिलालेख के अनुसार उसने 'खश' नरेश की शक्ति को तोला था।

"गौड क्रीडालता सिस्तु लतखसबल कौशलः कौशलानाम्"

यह खश नरेश निश्चय ही पांचाल के उत्तर में स्थित उत्तराखण्ड का कत्यूरी नरेश रहा होगा। कत्यूरी नरेशों के समकालीन धर्मपाल, देबपाल, नारायणपाल के अभिलेखों में 'खश नरेश' या 'खश देश' को उनके आधीन बताया गया है। कत्यूरी राज्य के 'अशोक चल्ल' के 'बोध गया' शिलालेख में उसे खश देश का नरेश बताया गया है। इसलिये यह माना जा सकता है कत्यूरी वंश का सम्बन्ध खश जाति से था। कत्यूरी वंश की सामाजिक स्थिति भी उसका सम्बन्ध खश जाति से जोड़ती है। प्राचीन काल में उत्तराखण्ड की ब्राह्मण व राजपूत जातियों में ऊँच–नीच का भेदभाव अधिक व्यापक था। उच्च जाति के राजपूत खश जाति के वंशजों को हेय समझते थे। कुमाऊँ के चन्दवंशी नरेश समकालीन कत्यूरी परिवारों की कन्याओं से विवाह तो कर लेते थे किन्तु उन्हें स्वयं से हीन समझकर अपनी पुत्रियाँ उन्हें नहीं देते थे। पुरातत्ववेत्ता कनिंघम कहते हैं कि कत्यूरी राजाओं की राजधानी लखनपुर या विराट–पतन थी जो रामगंगा के किनारे है। चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने भी ब्रह्मपुर व लखनपुर का आँखों देखा वर्णन लिखा है कि इन स्थानों पर ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों ही मतावलम्बी रहते थे। कुछ लोग विद्याव्यसनी थे तथा अन्य खेती करते थे। सम्भव है कि यह कत्यूरियों की राजधानी रही होगी। लखनपुर में ह्वेनसाँग सातवीं शताब्दी

में आये थे इसलिये अनुमान किया जाता है कि यह नगर छठी सदी से पूर्व ही बस गया होगा। कत्यूरियों की शीतकालीन राजधानी ढिकुली के निकट थी। गानेवाले भड़ कहते हैं–

"आसन वाका वासन वाका, सिंहासन वाका, वाका ब्रह्म, वाका लखनपुर।"

एटकिन्सन महोदय का अनुमान है कि 'आसन' तथा 'वासन' कत्यूरी राजाओं के नाम होंगे किन्तु आसन का अर्थ बैठने की वस्तु तथा वासन वस्त्रों को भी कहते हैं। ब्रह्मपुर तथा लखनपुर तो राजधानी के नाम हैं। कनिंघम ने ब्रह्मपुर तथा लखनपुर का मानचित्र दिया है उससे स्पष्ट है कि यह राज्य कुमाऊँ में था।

कत्यूरी वंश की स्थापना एवं इतिहास

डा0 ताराचन्द्र त्रिपाठी के अनुसार तालेश्वर तथा पाण्डुकेश्वर के दान पत्रों से कार्तिकेयपुर राज्य की अनेक प्रशासनिक इकाइयों और उनमें स्थित स्थानों का उल्लेख मिलता है। तालेश्वर दान पत्रों में कार्तिकेयपुर के अन्तर्गत वर्णित सभी स्थान कत्यूर घाटी में विद्यमान हैं। अतः यह निश्चित है कि कार्तिकेयपुर नरेशों के युग से बहुत पहले कार्तिकेयपुर कत्यूर घाटी में विद्यमान था। पर जब पाण्डुकेश्वर दानपात्रों में वर्णित कार्तिकेयपुर और उसके अन्तर्गत सांकेतिक स्थान–नामों को पहचानने का प्रयास किया जाता है तो लगभग सभी स्थान–नाम वर्तमान जोशीमठ तहसील में ही मिल जाते हैं। पाण्डुकेश्वर के प्रथम दो दानपात्र और कंडारा से प्राप्त एक दान पत्र कार्तिकेयपुर नरेश ललितश्वर देव का है, एक दानपत्र पद्मटदेव का है, एक दानपत्र देशटदेव का और एक सुभिक्षराज देव का है। जोशीमठ और कत्यूर घाटी, दोनों ही पुरावशेषों की दृष्टि से सम्पन्न क्षेत्र हैं। कदाचित् पहले राजधानी जोशीमठ और कालान्तर में राज्य का विस्तार हो जाने के कारण जोशीमठ को राजधानी के लिए अनुपयुक्त पाते हुए कत्यूर घाटी की ओर संक्रमित हुए होंगे और कत्यूरी वंश के नाम से जाने गए होंगे।

जनश्रुति के अनुसार कत्यूरी वंश का संस्थापक वासुदेव था किन्तु उसका नाम किसी भी अभिलेख या वंशावलि में नहीं मिलता। काबुल के कटोरमान वंश का अन्तिम नरेश भी वासुदेव था। एटकिन्सन दोनों को एक मानने के पक्ष में है किन्तु बागेश्वर में प्राप्त त्रिभुवनराज के शिलालेख से विदित होता है कि प्रथम कत्यूरी नरेश का नाम बसन्तनदेव था, न कि बासुदेव। कत्यूरी नरेश 'ललितशूर' की राज्य अवधि को ध्यान में रखते हुये यही अनुमानित है कि 'बसन्तनदेव' का राज्यकाल सन् 633 ई0 से 645 ई0 तक किसी समय भी आरम्भ होता है। कार्तिकेयपुर के नरेशों के अब तक आठ अभिलेख मिले हैं। सभी अभिलेखों की लिपि कुटिला है जो नवीं

व दसवीं सदी के मगध के पालवंशी नरेशों के अभिलेखों में तथा कुछ तिब्बत से प्राप्त ताम्रपत्रों में मिलती है।

कत्यूरी अभिलेखों से विदित होता है कि एक ही राजवंश के तीन परिवारों ने कार्तिकेयपुर या उसके आसपास अपनी राजधानी स्थापित कर एक–दूसरे के पश्चात् शासन किया था। इन राजपरिवारों के संस्थापक बसन्तनदेव, निम्बरदेव और सलोणादित्य थे। अभिलेखों की शब्दावली, अधिकारियों के नाम की सूची तथा अन्य प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि सलोणादित्य के परिवार ने निम्बरदेव के परिवार के पश्चात् राजसिंहासन प्राप्त किया था।

ललितशूर के राज्यकाल के 21वें व 22वें वर्ष के दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि ललितशूर का राज्यारम्भ सन् 832 तथा मृत्यु सन् 854 ई0 के बाद हुई। यही नहीं उन ताम्रपत्रों से यह भी सिद्ध होता है कि ललितशूर कत्यूरी वंश का सर्वाधिक प्रतापी एवं शौर्यवान नरेश था।

अभिलेखों में कत्यूरी नरेशों की सतयुगी धर्म का अवतार, प्राचीन मर्यादाओं के रक्षक तथा अत्यधिक चरित्रवान बताया गया है। वे आदर्श जीवन बिताते थे एवं विद्यानुरागी थे। उनकी सभा में सुदूर स्थानों से विद्वान ब्राह्मण पधारते थे जिन्हें बहुमूल्य उपहार, स्वर्ण आदि प्रदान कर सम्मानित किया जाता था। इसीलिये राजा को ईश्वर का अंश माना जाता था जिसके दर्शनमात्र से पाप मुक्त हो जाते थे।

कत्यूरियों की राजधानी वर्तमान जोशीमठ में थी। जोशीमठ से आगे भारत–तिब्बत सीमा तक बहुत कम गाँव हैं। यदि यहाँ पर तिब्बत का अधिकार होता तो कत्यूरी नरेशों की राज्य सीमा कम से कम भारत व तिब्बत के मध्यवर्ती गिरिद्वारों वाली श्रेणी तक होती। प्राचीन जनश्रुति के अनुसार जोशीमठ को राजधानी बनाकर शासन करने वाले कत्यूरी नरेशों का राज्य पश्चिम में सतलुज नदी के तट से लेकर दक्षिण के मैदान तक फैला था। वर्तमान सम्पूर्ण रूहेलखण्ड उनके शासन के अन्तर्गत आता था।

चन्द्रगुप्त मौर्य की ही भाँति कत्यूरी नरेशों के निम्नांकित विभिन्न पदाधिकारी होते थे :–

- **प्रान्तपाल**– सीमाओं का जागरूक प्रहरी सीमाओं की सुरक्षा का भार लिये होता था।
- **घट्टपाल**– विभिन्न गिरिद्वारों के रक्षक होते थे।
- **वर्मपाल**– सीमावर्ती मार्गों से आने व जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर कड़ी निगाह रखता था।
- **नरपति**– नदी घाटों पर आवागमन की सुविधा, कर की वसूली तथा

संदिग्ध व्यक्तियों की गतिविधियों की छानबीन करता था।

- **सेना–** कत्यूरी वीरवाहिनी अपने शौर्य व सफलताओं के लिये जग–प्रसिद्ध है। इसी के बल पर कत्यूरी नरेशों ने उत्तर व दक्षिण के आक्रान्ताओं को पराजित कर उत्तराखण्ड पर कई वर्षों तक शासन किया। सेना चार भागों में विभाजित थी– पदातिक, अश्वारोही, गजारोही एवं ऊष्ट्रारोही। पदातिक (पैदल सेना) 'गौल्मिक' कहलाते थे। अश्वारोही सेना का सर्वोच्च नायक 'अश्वबलाधिकृत' गजारोही का 'हस्तिबलाधिकृत' तथा ऊष्ट्रारोही का 'ऊष्ट्रबलाधिकृत' कहलाते थे।

तीनों आरोही सेनाओं का सर्वोच्च पदाधिकारी 'हस्त्यासवोष्ट्रबलाधिकृत' कहलाता था। सैन्य संचालन नरेश द्वारा होता था।

- **पुलिस व्यवस्था–** प्रजा के जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा हेतु तथा राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिये एक पुलिस विभाग था। इस विभाग के अनेक अधिकारियों के नाम कत्यूरी ताम्रलेखों में सुरक्षित हैं।

'दाण्डिक' व 'खड्गिक' सम्भवतः दण्ड और खड्गधारी सिपाही थे, जो राज्य तथा जनता की सम्पत्ति की सुरक्षा का ध्यान रखते थे। अपराधियों को पकड़ने वाला सर्वोच्च अधिकारी 'दोषापराधिक' कहलाता था। गुप्तचर विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दुःसाध्यसाधनिक था जो षड़यन्त्रों का उन्मूलन करता था। 'दण्डपाशिक', 'दण्डनायक', 'महादण्डनायक' पुलिस विभाग के बड़े–बड़े अधिकारी थे। चोर डाकुओं को पकड़ने वाला महकमा 'चोरोद्धरणिक' के अन्तर्गत होता था। ताम्रपत्रों में लिखे साक्ष्य इस तथ्य को उजागर करते हैं कि प्रजा को उत्पीड़ित करने वाले तत्वों का कठोरता से दमन किया जाता था। जागेश्वर एवं गोपेश्वर के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि कत्यूरी नरेश प्रजा की सम्पत्ति, जीवन एवं सम्मान की सुरक्षा को अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य मानते थे। कत्यूरी शासनकाल में शान्ति, सुव्यवस्था एवं सुरक्षा व्याप्त थी, इस तथ्य की पुष्टि समसामयिक भारत के विभिन्न स्थलों से आये तीर्थयात्रियों से होती है जिनकी उत्तराखण्ड के तीर्थों की यात्राएँ सदैव ही निष्कंटक तथा निर्विघ्न ही पूर्ण होती थीं। मार्गों में यात्रियों की सुविधा हेतु 'पाठशालाओं' की स्थापना एवं सार्वजनिक स्थानों पर प्याऊ लगाये जाते थे।

आय के साधन–

http://uou.ac.in

राज्य की आय के प्रमुख साधन कृषि, खनिज सम्पदा एवं वन थे। 'क्षेत्रपाल' राज्य में कृषि की उन्नति का ध्यान रखता था, 'प्रभातार' का कार्य भूमि की विधिपूर्वक नाप करता था। 'उपचारिक' या 'पट्टकोषचरिक' नामक अधिकारी भूमि के अभिलेख रखता था। भूमि की नाप उसमें बोए जाने वाले बीज के अनुसार होती थी। कत्यूरी शासन में द्रोणाबापम के अतिरिक्त नालीबापम या एक नाली (¾ 9 पाथा ¾ 2 सेर) बीजवाली भूमि का भी उल्लेख है। अब भी उत्तराखण्ड में द्रोण (दूण) और नाली (पाथा) का प्रयोग उसी प्रकार चला आता है।

खनिजों और वनों का स्वामित्व सम्भवतः राज्य को प्राप्त था। खण्डपति व 'खण्डरक्षास्थानाधिपति' नामक अधिकारी खनिज तथा वनों की रक्षा तथा सम्बन्धित उद्योगों की व्यवस्था करता था। उत्तराखण्ड के लौह, ताम्र, स्वर्णचूर्ण, भोजपत्र, बाँस, रिंगाल आदि वस्तुओं की उन दिनों मैदानी प्रदेशों में बड़ी माँग थी। ऊन तथा ऊनी वस्त्र, पालतू पशु–पक्षी, मधु तथा वन–औषधियों के विक्रय से जनता तथा राज्य को प्रचुर लाभ होता था।

कर–

कत्यूरी अभिलेखों में विभिन्न करों के नाम मिलते हैं। 'भोगपति' व 'शौल्किक' नामक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जिनका कार्य योग और शुल्क आदि करों को वसूल करना था। कृषि तथा पशुओं से प्राप्त पदार्थों का निश्चित अंश कर के रूप में लिया जाता था। भट और 'चार–प्रचार' नामक अधिकारी प्रजा से बिष्टि या बेगार लेते थे। जो भूमि किसी देव मन्दिर को अग्रहार के रूप में दी जाती थी उस पर बसे लोगों से भट और चाट बिष्टि नहीं ले सकते थे और न उनसे अन्य किसी प्रकार का योग या शुल्क लिया जाता था। वे इन करों को राजा को न देकर मन्दिर को देते थे।

राजस्व संबंधी पैमाने :–

ताम्रपत्रों में– द्रोण, कुल्य, खारि– जैसे भूमि माप के विभिन्न पदों का उल्लेख आया है। इससे पता चलता है कि भूमि–माप की परंपरा विद्यमान थी। इन इकाईयों का विश्लेषण अग्रांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है –

द्रोणवाप :–

संस्कृत में 'वप्' का अर्थ बीज बोने से है। प्राचीन अभिलेखों में 'वाप' प्रत्यय लगाकर बीज की मात्रा प्रकट करने की परंपरा मिलती है। एक द्रोण प्रायः 32 सेर का माना जाता है। अन्य मानकों से तुलना करते हुये एक द्रोण वाप 32 सेर या 16 नाली का बताया गया है द्रोण आज भी 'दुन' के रूप में प्रचलित है। अतः एक

द्रोण वाप को हम उतने क्षेत्र से समीकृत करेंगे जितने में 32 सेर बीज छिटक कर बोया जा सके। ब्रिटिश काल में एक नाली को मानकीकृत कर 240 वर्ग गज निश्चित किया गया था जो आज भी में व्यवहृत है। इस आधार पर एक द्रोण माप 3840 वर्ग गज क्षेत्र का द्योतक है।

कुल्यवाप :–

'कुल्यवाप' पद भी प्राचीन अभिलेखों में मिलता है। गुप्तकाल में 'कुल्य' पद बहुतायत से उल्लिखित हुआ है। वर्तमान में इस पद का स्पष्ट अर्थ लगाना कठिन है, इसका अर्थ 'कुलि' बतलाया जाता है और एक कुलि आठ द्रोण के बराबर माना जाता है। इस आधार पर एक कुलि वाप उतना क्षेत्र माना जाना चाहिए जिसमें 256 सेर बीज छिटक कर बोया जा सके । ब्रिटिश मानकों के आधार पर यह 30720 वर्ग गज क्षेत्र का द्योतक है ।

खारिवाप :–

पाणिनी ने खारिवाप को द्रोणवाप से बड़ा बतलाया है। प्रचलित एक खारि 20 द्रोण की मानी जाती है। अतः एक खारिवाप ऐसे भू–क्षेत्र को बतलायेगी जिसमें 20 द्रोण या 640 सेर बीज छिटक कर बोया जा सके। ब्रिटिश मानकों के आधार पर यह क्षेत्र 76800 वर्ग गज क्षेत्र का द्योतक है।

राज परिवार–

अभिलेखों में केवल राजा की महादेवी (प्रधान रानी) तथा उसके उत्तराधिकारी पुत्र के ही नाम मिलते हैं। अभिलेखों में जिस क्रम से राज्य के अधिकारियों को सम्बोधित किया गया है, यथा– (राजा, राजान्यक, राजामात्य, सामन्त, महासामन्त, ठक्कुर, महामनुष्य, महाकर्त्ता....) इससे विदित होता है कि राजवंश में उत्पन्न सुयोग्य पुरुषों को राज्य में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जाता था। 'ललितशूर' आदि नरेशों का विरुद 'महाराजाधिराज' था। उनके अभिलेखों में 'राजा' शब्द का प्रयोग सम्भवतः युवराज के भ्राताओं के लिये होता था। डोटी परिवार के छोटे राजकुमार 'रैंका' कहलाते थे, जो राजन्यक का ही दूसरा रूप है। नरेश के भ्राता आदि के पुत्र राजपुत्र कहलाते थे।

सामन्त–

राज्य के अन्तर्गत शक्तिशाली ठकुराइयाँ थीं। इन ठकुराइयों का शासन सामन्तों के द्वारा होता था।

जनपद शासन–

http://uou.ac.in

नरेश राज्य का सर्वोपरि शासक था। राज्य कतिपय प्रान्तों में विभाजित था जिनका शासन 'उपरिक' (राज्यपाल) के द्वारा होता था। 'उपरिक' के अन्तर्गत आयुक्तक प्रान्त के विभिन्न भागों में शासन चलाते थे। प्रान्तों को विषयों (जिलों) में बाँटा गया था जिनका सर्वोच्च पदाधिकारी 'विषयपति' कहलाता था। कत्यूरी शासनों से चार विषयों तथा लोकगाथा से एक अन्य विषय का पता लगता है।

(1) कार्तिकेयपुर विषय– सम्भवतः प्राचीन कत्यूर, जोशीमठ से गोमती उपत्यका तक।

(2) टंकणपुर विषय– अलकनन्दा–भागीरथी संगम से ऊपर अलकनन्दा उपत्यका तक।

(3) अन्तराग विषय– भागीरथी तथा अलकनन्दा की मध्यवर्ती उपत्यका।

(4) एशाल विषय– सम्भवतः भागीरथी तथा यमुना की मध्यवर्ती उपत्यका।

(5) मायापुरहाट– हरिद्वार के निकटवर्ती भाबर–प्रदेश यदि कत्यूरी नरेशों का राज्य सतलुज से गंडकी तक फैला था तो सतलुज यमुना–दोआब तथा कालीगंगा–गेडकी दोआब पृथक विषयों के अन्तर्गत रहे होंगे।

नरेश की सम्पत्ति–

कत्यूरी अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राज परिवार को व्यक्तिगत सम्पत्ति में अनेक पशु, मुख्यतः गाय, भैंस, घोड़े, खच्चर भी होते थे। उनकी देखरेख करने वाला प्रमुख अधिकारी 'किशोर–बडवा–गो–महिष्याधिकृत' कहलाता था। दुधारू पशुओं से दुग्धादि प्राप्त करने का कार्य 'आभीर' का होता था।

धार्मिक सहिष्णुता–

कत्यूरी राज्यकाल में उत्तराखण्ड में अधिकांश निवासियों की श्रद्धा हिन्दू धर्म के प्रति थी। धुर दक्षिणी भाग में भाबर की पट्टी में बौद्ध और जैनमत के कुछ अनुयायी बसे थे। इससे प्रमाणित हो जाता है कि कत्यूरी शासन के अन्तर्गत बौद्ध तथा जैन मतावलम्बियों को अपने मत के अनुसरण की एवं प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

जोशीमठ से कत्यूर आने की कहानी–

http://uou.ac.in

डॉ0 शिवप्रसाद डबराल का अनुमान है कि कत्यूरी राजाओं का मूल निवास स्थान जोशीमठ (ज्योतिर्धाम) था। वहाँ से वे कत्यूर आए। उनके कत्यूर आगमन की कहानियाँ इस प्रकार हैं–

(1) राजा वासुदेव के कोई गोत्रधारी मृगया के लिये गए थे। घर में विष्णु भगवान नृसिंह के रूप में आये। रानी ने अपूर्व आदर–सत्कार कर भोजनादि करवाया तत्पश्चात् नृसिंह राजा के पलंग पर विश्राम हेतु आसीन हुए। राजा लौटकर आये और अन्तःपुर में अपने पलंग पर किसी अन्य व्यक्ति को देख क्रोधोन्मत हो गये और उन्होंने तलवार का भरपूर वार नृसिंह पर किया, किन्तु आश्चर्य! रक्त के स्थान पर उनके हाथ से दूध निकलने लगा। इस घटना से किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो वे रानी के पास गये। रानी ने बताया कि वे कोई देवता हैं जिन्होंने बड़ी पवित्रता के साथ भोजन किया एवं विश्रामार्थ पलंग पर सो गये। तब राजा को अत्यधिक पश्चाताप हुआ। उन्होने हाथ जोड़कर नृसिंह देवता को प्रणाम किया और अपने दोष के लिये दंड देने की याचना की। देवता ने कहा– 'मैं नृसिंह हूँ। तेरे शासन से प्रसन्न था। इसलिए तेरे महल में आया। तेरे अपराध का यही दंड है कि तू जोशीमठ से कत्यूर चला जा, वहीं तेरी राजधानी होगी। याद रख यह घाव तेरे मन्दिर की मूर्ति में भी दिखाई देगा। जब मूर्ति टूट जायेगी तभी तेरे वंश का भी नाश हो जायेगा।" ऐसा कहकर नृसिंह अर्न्तध्यान हो गए।

दूसरा दृष्टांत उस समय का है जब स्वामी शंकराचार्य कत्यूरी रानी के पास आये उस समय राजा विष्णु प्रयाग में स्नान करने गये। यह घटना भी उपर्युक्त से ही मिलती–जुलती है।

इन घटनाओं से यह स्पष्ट है कि यदि कत्यूरी राजा गढ़वाल से कुमाऊँ में आये तो अवश्यमेव कोई धार्मिक कलह उपस्थित हुआ होगा जिस कारण राजा वासुदेव व उनके कुटुम्बी जोशीमठ से कार्तिकेयपुर आने को बाध्य हुये। डा0 पातीराम की कल्पना है कि जब संवत 756 (799 ई0) में कनकपाल मालवा में आया तो उन दिनों सोनपाल एवं कत्यूरी नरेश गढ़वाल में छोटी–छोटी ठकुराइयों के स्वामी थे। सोनपाल का दामाद कनकपाल गढ़वाल के मध्यवर्ती भाग का शासक बन बैठा किन्तु कनकपाल, जिसे गढ़वाल में परमार वंश की स्थापना का श्रेय प्राप्त है, वह सन् 688 ई0 में ही गद्दी पर बैठ चुका था और इसी वर्ष गढ़वाल के कुछ अंश पर तत्पश्चात् गोरखा आक्रमण तक सम्पूर्ण गढ़वाल पर परमारों की सत्ता सुदृढ़ हो चुकी थी। इसी प्रकार कुमाऊँ में चन्द वंश की जड़ें शनैः–शनैः गहरी और व्यापक होती गयीं।

परिशिष्ट–1

–मदन मोहन जोशी

भारत में पाषाण युगीन उपकरणों का वर्गीकरण अभी भी पर्याप्त विवादास्पद है। अध्ययन की सुविधा के लिए इसे दो चरणों में विभाजित किया गया है। इनमे प्रथम चरण मानव का वह है जब उसका जीवन आखेट एवं संग्रहण पर आधारित था, इस चरण को उपकरणों के विभिन्न आकार प्रकार एवं निर्माण की तकनीकी के आधार पर चार युगों निम्न पुरापाषाण युग (लोअर पैलियोलिथिक), मध्य पुरापाषाण युग (मिडिल पैलियोलिथिक), उच्च पुरापाषाण युग (अपर पैलियोलिथिक) एवं मध्य पाषाण युग (मैसोलिथिक) में विभाजित किया जा सकता है। द्वितीय चरण मानव का वह स्तर है जब मानव ने अन्न उत्पादन सीखा, घरेलू पषु पाले, मृद्भाण्डों का निर्माण किया और स्थायी जीवन बिताने लगा, यह चरण पुरातत्व में नवपाषाण या नवाष्म युग कहा गया है।

भारत में अधिकांष हिमयुग आरंभिक अथवा निम्न पुरापाषाण युग में गुजरा, इस युग का विषिष्ट उपकरण मुष्ठिकुठार है हॉलाकि विदारक, पत्तियाँ, खुरचनियाँ, तक्षणियॉ जैसे उपकरण भी इस युग के स्तर से प्रकाष में आये हैं। उत्तराखण्ड के कालसी तथा श्रीनगर के समीप से एवं आदिबद्री, पष्चिमी रामगंगा घाटी और खुटानी नाले से इस युग के उपकरण मिलने का दावा स्थानीय पुराविदों द्वारा किया गया है। मध्य पुरापाषाण युग में प्रमुखतः शल्क उपकरण मिलते हैं, इन उपकरणों में शल्कों से निर्मित विभिन्न प्रकार के बर्मे, खुरचनियॉ और धार वाले उपकरण शामिल हैं। ये उपकरण निम्न पुरापाषाण युगीन उपकरणों की तुलना में कुछ छोटे और सुन्दर हैं। नौटियाल एवं साथियों ने गढ़वाल में श्रीनगर के समीप से इस काल के बर्मे खुरचनियां एवं शल्क उपकरण प्राप्त होने की सूचना दी है।

उच्च पुरापाषाण युग की जलवायु कम आर्द्र थी, इस युग का विस्तार हिमयुग की उस अंतिम अवस्था में रहा जब जलवायु अपेक्षाकृत गर्म हो गयी थी। इस युग में नए चकमक औजार उद्योगों का और आधुनिक किस्म के मानव का उदय हुआ। भारत में प्राप्त इस युग के विषिष्ट उपकरण फलक और तक्षणियां हैं। उत्तराखण्ड से अभी तक उच्च पुरापाषाण युग का कोई भी उपकरण प्रकाष में नही आया है।

पुरापाषाण युग की समाप्ति, हिमयुग के अंत के साथ–साथ लगभग 8000 ईस्वी पूर्व में हुई। अब जलवायु पहले की अपेक्षा उष्ण और शुष्क हो गयी थी। जलवायु के साथ ही वनस्पति एवं जीव जन्तुओं में भी परिवर्तन हुए और मानव के लिए नये क्षेत्रों की ओर बढ़ना संभव हुआ। पाषाण युगीन सभ्यता में आज से

http://uou.ac.in

लगभग दस हजार वर्ष पूर्व एक मध्यकालीन अवस्था की शुरूआत हुई जिसे मध्य पाषाण युग कहा गया है, यह पुरापाषाण युग और नवाष्म युग के बीच का संक्रान्ति काल है। इस काल में इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि मानव ने स्थायी जीवन और प्रारंभिक कृषि कार्यों की ओर कदम बढ़ाना आरम्भ कर दिया था, इस काल में मानव ने अपने मृतकों के अंतिम संस्कार के लिए स्थायी भूमि का चयन भी किया है, इस प्रकार के अनेक शवाधान प्रकाष में आये हैं। मध्य पाषाण युग (मेसोलिथिक) के विषिष्ट उपकरण लघुपाषाण है, ये आकार में अत्यन्त छोटे हैं इसीलिए इन्हें सूक्ष्माष्म (माइक्रोलिथ) कहा गया है। जहॉ तक उत्तराखण्ड का प्रष्न है इस सम्बन्ध में एम0पी0 जोषी ने जसकोट के निकट से क्वार्ट्जाइट पत्थर की रोडी के ढेर खोजने की सूचना दी है, जिसमें पान की पत्ती के आकार सदृष त्रिभुजाकार उपकरण एवं सूक्ष्माष्म मिलने की बात की गयी है।

भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित नवाष्म युगीन बस्तियां 8000 वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। दक्षिण और पूर्वी भारत में तो कुछ बस्तियों की स्थापना ईसा पूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी में हुई प्रतीत होती है। इस युग का मानव पालिषदार पत्थर के उपकरणों का प्रयोग करता था। इस युग का विषिष्ट उपकरण पत्थर की कुल्हाड़ियां हैं, जो प्रायः सम्पूर्ण भारत में पर्याप्त मात्राा में मिलती हैं, नवाष्म संस्कृति की प्रमुख विषेषता कृषि का आविष्कार एवं पषुपालन है। जिसके फलस्वरूप आखेट एवं खाद्य संग्रहण के स्तर से हटकर मानव जीवन अधिक स्थायी एवं स्थानबद्ध हो गया, पष्चिम एषिया के इतिहास में इस काल में प्रथम प्रौद्योगिक क्रान्ति घटित हुई क्योंकि इसी काल में मानव ने कृषि, बुनाई, मृद्भाण्ड, गृहनिर्माण और पषुओं को पालतू बनाने आदि कलाओं का आविष्कार किया था। जहाँ तक उत्तराखण्ड का प्रष्न है, यहाँ ऐसे अनेक पुरातात्विक अवषेष मिलते हैं जिन्हें भारत में अन्यत्र नवाष्म संस्कृति के साथ सम्बन्धित किया गया है। इन अवषेषों में नौटियाल एवं साथियों द्वारा उल्लिखित पाषाण उपकरण जो घिस कर बनाये गये हैं, यषोधर मठपाल द्वारा उल्लिखित बग्वाली पोखर, एम0पी0 जोषी द्वारा उल्लिखित जसकोट एवं कर्नाक द्वारा उल्लिखित द्वाराहाट आदि स्थलों में पाये गये षिलाओं में निर्मित कप मार्क्स तथा षिलाओं में निर्मित विषाल गर्त जो कष्मीर की बुर्जहोम संस्कृति के समान आवासीय गर्त के रूप में पहचाने गये हैं, महत्वपूर्ण हैं।

स्पष्ट है कि उत्तराखण्ड में भी पाषाणयुगीन उपकरण प्रकाष में आये हैं और पाषाण युग में मानव का यहां निवास करना स्थापित हुआ है, उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा जनपद एवं चमोली जनपद में पाषाणयुगीन षिलाश्रय भी मिले हैं, ये षिलाश्रय प्राचीन मानव द्वारा अपने आवास के लिए प्रयुक्त किये गये प्रतीत होते हैं क्योंकि तत्कालीन मानव ने इन षिलाश्रयों में अपनी अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न रंगों से भांति–भांति के चित्र बनाये हैं, इनमें से कुछ चित्रों का अंकन स्पष्ट है तो कुछ

चित्र प्रतीक चिन्हों के द्वारा बनाये गये हैं, पुराविदों ने इन चित्रों का विस्तार से वर्णन किया है, उत्तराखण्ड में शैल चित्रण (षिलाओं में चित्रकारी) के अलावा शैल उत्कीर्णन (षिलाओं में धारदार हथियार से अंकन) भी मिलता है, इसके अन्तर्गत महाष्म संस्कृति (इस संस्कृति की विषेषता अपने शवाधानों के निर्माण एवं स्मृति स्तंभों हेतु विषाल षिलाखण्डों का प्रयोग करना है) से सम्बन्धित षिलाखण्डों में निर्मित गोलाकार या चतुर्भुजाकार धंसाव (कपमार्क्स), विभिन्न प्रकार की टेडी मेडी, त्रिभुजाकार, लहरदार या एक दूसरे को काटती रेखाएं एवं अन्य अभिप्राय मिलते हैं।

महाष्म संस्कृति के अनेक शवागार (बरियल) उत्तराखण्ड में मिलते हैं, कार्नाक, एटकिंसन तथा मठपाल ने इसका उल्लेख किया है, महाष्म संस्कृति से सम्बन्धित सिस्ट मिलने की सूचना एम0पी0 जोषी, ए0के0 शर्मा, यषोधर मठपाल, बी0एम0 खण्डूरी तथा अन्य पुराविदों ने दी है, सिस्ट का तात्पर्य भी ऐसी प्रस्तर संरचना से है, जो मकबरों के रूप में विषाल एकाष्म प्रस्तर खण्डों को भी प्रयुक्त होती थी, महाष्म संस्कृति के लोगों ने स्मृति स्तंभ के रूप में विषाल एकाष्म प्रस्तर खण्डों को भी प्रयुक्त किया, ऐसे स्मृति स्तंभ दीर्घाष्म या मेनहिर कहे जाते हैं।

उत्तराखण्ड में ताम्र मानवाकृति भी मिली है, ये अल्मोड़ा जनपद तथा पिथौरागढ़ जनपद से प्रकाष में आयी है। ताम्र मानवाकृति, गंगा घाटी की ताम्र संचय निधि संस्कृति (इस संस्कृति की विषेषता तांबे के विभिन्न उपकरणों का निर्माण एवं उपयोग रहा) का एक विषिष्ट उपकरण रही है, इस प्रकार के उपकरण विष्व के किसी भी भाग में नहीं मिलते हैं। अब तक जो भी ताम्र मानवाकृतियां मिली हैं, उनमें अधिकांषतः गंगा घाटी में प्राप्त हुई हैं, यहॉ यह बताना प्रासंगिक है कि बनकोट से एक साथ आठ ताम्रमानवाकृतियां, गंगा–घाटी सहित भारत के किसी भी भाग में इकट्ठे अब तक नहीं मिली हैं, ये उपकरण उत्तराखण्ड और गंगा घाटी की ताम्र संचय निधि संस्कृति के मध्य महत्वपूर्ण आदान प्रदान की सूचक हैं। ष्ष

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

अध्याय–दो

कुमाऊँ का चन्द राज्य वंश

–डा0 श्याम लाल
(फोटो संकलन – डा0 अजय सिंह रावत, डा0 श्याम लाल)

कुमाऊँ के चन्द्रदवंशी राजपूत प्रयाग में गंगा के पार झूसी के निवासी थे। कुमाऊँ में इनका मूल पुरूष सोम चंद था। सोम चंद के 'चंद' नामांत पर ही पूरे वंशजों ने अपने नामों के अंत में 'चंद' या 'चन्द्र' लगाया। झूसी नाम का यह स्थान इलाहाबाद में फूलपुर से करीब 21–22 किमी0 दूर दक्षिण–पश्चिम में गंगा के बायें तट पर स्थित है। इतिहास में इसे चंद्रवंशी राजाओं का राजधानी–प्रतिष्ठान कहा जाता है।

सोमचंद के आगमन के समय कुमाऊँ में कत्यूरी नरेश ब्रह्मदेव का आधिपत्य था। टनकपुर–नेपाल के मध्य ब्रह्मदेव मंडी उसी राजा की देन है। सोमचंद में राजोचित योग्यता, रूप–रंग व उसका व्यक्तित्व देखकर कत्यूरी नरेश ने अपनी एकमात्र संतान पुत्री का उसके साथ विवाह कर उसे संस्थापित कर दिया। इस समय समूचे कुमाऊँ में राजनीतिक अव्यवस्था छाई हुई थी। इसका लाभ सोमचंद जैसे योग्य राजकुमार ने उठाया और अपने को शासक घोषित कर दिया। चूंकि वह 1019–20 ई. में झूंसी से इस क्षेत्र में आया था, इसलिए कुमाऊँ में उसके द्वारा स्थापित चन्द्रवंश की स्थापना का समय 1020 तथा 1025 ई. के मध्य मानना चाहिए। सुविधा के लिए हम सोमचंद द्वारा चंदवंश की स्थापना का समय 1025 ई. मान सकते हैं। यही समय कत्यूरियों के पतन का भी था, जब उस वंश के राजकुमार कत्यूर छोड़कर मणकोट, अस्कोट, डोटी, लखनपुर–बैराट व मानिला–सल्ट की ओर चल पड़े थे।

सोम चन्द से त्रिलोक चंद तक चंदवंशी राजाओं का विवरण

कुमाऊँ में कत्यूरी–राज्य के अवसान पर चंदवंश की स्थापना हुई। सोमचंद शिव का उपासक था। उसने चंपावती देवी के नाम पर बसे चंपावत को राजधानी बनाकर धीरे–धीरे राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ किया। इस समय समूचे काली कुमाऊँ में अनेक खस, नाग, द्रविढ़, मेद, चाण्डाल आदि ठकुरातियों का राज्य था ये समूचे राजा दो धड़ों में विभक्त थे, जिनके मुखिया महरा और फर्त्याल थे। कोलीढेक में कोली राज्य करते थे। सोमचंद ने सर्वप्रथम चार किलेदार नियुक्त किये। ये थे– कार्की, बोरा, तड़ागी व चौधरी। ये मूलतः नेपाल के निवासी थे। ये किलों में रहते थे, जिन्हें 'चार आल' कहा जाता था। अब संक्षेप में इसे 'चाराल' कहा जाता है। सोमवंश ने सर्वप्रथम दोण कोट (दोन कोट) के रावत राजा को परास्त किया। महरा,

http://uou.ac.in

फर्त्यालों को उसने मंत्री व सेनापति बनाया। महरा लोग कटोलगढ़ व फर्त्याल डुंगरी में रहते थे। डुंगरी भी सुई के किले के पास था। राज्य की सारी रणनीति इन्हीं दो धड़ों के हाथों में थी। यही नहीं, उसने जन सामान्य की श्रद्धा व राजभक्ति अर्जित करने के लिए उन्हें भी सम्मानित किया। कुछ योग्य एवं विद्वान ब्राह्मणों के अलावा राजकोली, बखरिया (सईस), विश्वकर्मा (वास्तुकार), तमोटा, बाजदार व बजनिया राजबुंगा के आसपास बसाये, ताकि उनकी सहायता से अच्छा राजकाज चल सके। ग्रामों में बूढ़ों एवं सयानों की नियुक्ति की। ये ही अपने–अपने गांवों में पुलिस का कार्य करते व लगान वसूल कर राजा तक पहुंचाते थे।

सोमचंद एक छोटा–सा मांडलिक राजा था और डोटी के राजा को कर दिया करता था। डोटी के ये राजा मल्लवंशी थे, और रैका राजा या राई राजा कहलाते थे। सोमचंद के समय संभवतः अन्य मल्ल अथवा जयदेव मल्ल डोटी का राजा था। इस मल्ल वंश के प्रारम्भिक राजा वामदेव ने अपनी इष्ट देवी चंपावती के नाम पर अपनी राजधानी का नाम चंपा रखा था। चंपावत नाम भी इसी का अन्य रूप है। चंपावती नदी भी इसी का पर्याय नाम है। उसने ध्यानीरौ, चौमौंसी, सालम व रंगोड़ पट्टियों को अपने राज्य में मिलाकर राज्य का विस्तार किया। वह बड़ा धर्मात्मा, संयमी तथा नीति कुशल पुरूष था। डा0 के0पी0 नौटियाल के अनुसार उसने संभवतः जागेश्वर में भी कुछ मंदिर बनवाये थे। उसने लगभग 1025–46 ई0 तक राज्य किया।

सोमचंद के पश्चात् उसकी कत्यूरी रानी से उत्पन्न पुत्र आत्मचंद गद्दी पर बैठा। उसने लगभग 20 वर्षों तक राज्य किया। उसने चंद राज्य यथावत् बनाये रखा। उसके बाद पूर्णचंद गद्दी पर बैठा। उसने 1066 ई. से लेकर 1084 ई. तक राज्य किया। पूर्णचंद के बाद उसका पुत्र इन्द्रचंद गद्दी पर बैठा। अटकिंसन महोदय के अनुसार इसने अपने यहां रेशम–उत्पादन व उससे रेशमी वस्त्र बनाने का कार्य प्रारंभ किया। इसके लिए देश के मैदानी भागों से पट्टवायों (रेशम के बुनकरों) की श्रेणियों को लाया गया, जिन्होंने श्रेणीबद्ध होकर रेशमी वस्त्र बनाये और उनका यत्र–तत्र निर्यात किया। इसके लिए नेपाल के मार्ग से चीन से व्यापारिक–सम्बन्ध साधा गया। रेशम के उत्पादन व व्यापार से इसने चन्द्र–राज्य की 'श्री' में वृद्धि की थी।

इन्द्रचंद के बाद संसार चंद सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके बाद क्रमशः सुधाचंद, हरिचंद व वीणा चंद सिंहासनासीन हुए। इनके समय में कोई विशेष घटना नहीं घटी। वीणाचंद को एक विलासी राजा बताया गया है। इससे आसपास के खस राजाओं को सिर उठाने का मौका मिल गया। ये खस राजा डोटी–राज्य की आधीनता स्वीकार करते थे। 1191 ई. के पश्चात् यहां डोटी (नेपाल) के 'चल्ल' नामांत वाले राजाओं द्वारा राज्य करने के पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं।

चंपावत के बालेश्वर मंदिर से क्राचल्लदेव का 1223 ई. का एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसमें दस मांडलिक राजाओं के नाम उत्कीर्ण हैं। ये हैं– श्री याहड़देव मांडलिक, श्री चन्द्रदेव–मांडलिक, श्री हरिराज राउत राज, श्री अनिलादित्य राउत राज, श्री विनय चन्द्र मांडलिक, श्री विद्यालचंद मांडलिक, श्री जयसिंह मांडलिक, श्री जीहलदेव मांडलिक, श्री बल्लालदेव मांडलिक, श्री मूसदेव मांडलिक।

उपरोक्त सूची में कम से कम तीन चंदवंशी मांडलिकों का उल्लेख है, शेष खस राजा प्रतीत होते हैं। ये मांडलिक राजा एक प्रकार के सामंत होते थे, जो अपने अधिपति के अधीन शासन करते थे। अधिपति अधिकांशतया नेपाल स्थित डोटी–राज्य के होते थे, जो कुमाऊँ को विजित कर यहां अपने अनेक मांडलिक राजाओं को नियुक्त किये रहते थे। बास्ते (पिथौरागढ़) ताम्रपत्र में मोहन थापा के अलावा अन्य मांडलिकों का भी उल्लेख है, जिनका अधिपति शक्तिबम था, जिसका मूल नेपाल था। उसके पूर्व आसलदेव व सुहड़देव राजा रह चुके थे। अतः वीणाचंद की अंतिम तिथि 1175 से 1223 ई. के मात्र अड़तालीस वर्षों के अंतराल में ही चंदों की तीन शाखायें क्राचल्लदेव के अधीन शासन करती थी, जिससे प्रतीत होता है कि जिन खसों ने उनके विरूद्ध विद्रोह किया था, वे उनसे पराजित हो गये थे। चंदवंश की मुख्य शाखा श्री चन्द्रदेव के नेतृत्व में आगे बढ़ी और शेष दो शाखायें उसके सम्बन्धियों की प्रतीत होती हैं। उसका विरुद्ध 'देव' कत्यूरी राजाओं की परम्परा पर आधारित था।

गोपेश्वर–त्रिशूल–लेख से ज्ञात होता है कि 1191 ई. में यहां अशोक चल्ल का आधिपत्य था। सहणपाल व पुरूषोत्तम सिंह के बोध गया शिालालेखों में उसे शिवालिक की पहाड़ियों में स्थित खस देश का राजाधिराज कहा गया है। यह रवसदेश कुमाऊँ व गढ़वाल दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। वह 'वैराथ' कुल का था, और नेपाल स्थित डोटी–राज्य के अन्तर्गत 'दूलू' का निवासी था। उसके आक्रमण के समय वीर चंद, कुमाऊँ का राजा था। उसने पुरूषोत्तम सिंह को यहां का सामंतराज नियुक्त किया था, जो समस्त मांडलिकों के ऊपर शासन करता था। वीणा चंद के समय जो विप्लव उत्पन्न हुआ था उसका शमन वीरचंद ने अशोक चल्ल की सहायता से किया था। लगभग 1206 ई. में वीरचंद की मृत्यु हो गई। वीरचंद के बाद क्रमशः नरचंद, थोहरचंद और त्रिलोकचंद राजा हुए। प्रसिद्ध विद्वान गुए महोदय ने नरचंद की तिथि 1297 से 1321 ई. निर्धारित की है किंतु यह तिथि स्वीकार्य नहीं है। नरचंद संभवतः 1236 ई. के आसपास गद्दी पर बैठा था। उसने 1260–61 ई. तक शासन किया। उसके बाद 1261 ई. में थोहर चंद गद्दी नसीन हुआ। 1303 ई. में त्रिलोक चंद की मृत्यु के उपरांत उमर चंद गद्दी पर बैठा और उसने 18 वर्षों तक राज्य किया। तदोपरांत धर्मचंद, अभय चंद व कर्मचंद गद्दी पर

बैठै। एक वर्ष राज्य करने के बाद वह मणकोटी राजा के पास चला गया, और उसकी जगह ज्ञानचंद गद्दी पर बैठा।

ज्ञानचंद ने 1365 ई. से 1420 ई. तक राज्य किया। वह पहला चंद राजा था, जो दिल्ली के सुल्तान फिरोजशाह तुगलक के दरबार में भेंट अर्पित करने गया था। इस समय तराई भाबर में कटेहरियों का आधिपत्य था। अतः फिरोज शाह ने तराई का क्षेत्र ज्ञानचंद को सौंप दिया। इसे सुल्तान ने 'गरूड़' की उपाधि से भी विभूषित किया था। इससे प्रतीत होता हे कि वह गरूणेश्वर विष्णु का उपासक था, और गरूड़ उसका राजचिन्ह था। सेरा खड़कोट (पिथोरागढ़ खास) के ताम्रपत्र में उसके और विजय ब्रह् के द्वारा एक संयुक्त भूमि–संकल्प किया गया था। इसमें उसे 'राजाधिराज महाराज' कहा गया है, जबकि विजय बम का कोई विरूद नहीं मिलता। इससे अनुमान लगता है कि विजय बम इस समय मात्र एक सामंत राजा था, क्योंकि उसके मझेड़ा ताम्रपत्र में उसे 'श्री राजा विजय ब्रह्म' कहा गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सोर का विजेता ज्ञान चंद था, न कि भारती चंद, जैसा कि कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है। 1418 ई. के गोबसा ताम्रपत्र में उसके द्वारा कुजौली (पिथौरागढ़ खस) का गांव देवराज तिवाड़ी को संकल्प वृत्ति के रूप में देने का उल्लेख है। सेराखड़कोट–ताम्रपत्र के अनुसार उसने 1420 ई. तक राज्य किया था।

1420 से 1433 ई. के मध्य हरिहरचंद, द्वान चंद, आत्मचंद व हरिचंद ने क्रमशः राज्य किया। इनका समय किसी विशेष घटना के अभाव में शून्य में रहा। उनके बाद 1423 ई. में विक्रमचंद गद्दी पर बैठा। उसके दो ताम्रपत्र अब तक प्राप्त हुए हैं। बालेश्वर मंदिर ताम्रपत्र में उसकी तिथि 1423 ई. व चंपावत ताम्रपत्र में 1434 ई. ठहरती है। इससे प्रतीत होता है कि उसने 1423 ई. से 1434 ई. तक राज्य किया था।

विक्रम चंद के पश्चात् धर्मचंद राजा बना। 1437 ई. में भारतीचंद गद्दी नसीन हुआ। इस राजा के अब तक अनेक ताम्रपत्र यत्र–तत्र मिल चुके हैं। भारतीचंद के पंवाड़े कुमाऊँ के इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण हैं। कुमाऊँ की प्रसिद्ध वीरांगना भागाधौन्यान के साथ भारती चंद के द्वन्द्व–युद्ध का भी पंवाड़ों व भड़ाकों में गुणगान किया गया है। भारतीचंद ने 1437 ई. से लेकर 1477 ई. तक शासन किया था।

भारती चंद एक लोकप्रिय, साहसी, बहादुर एवं राजोचित गुणों से युक्त राजा था। उसी ने सर्वप्रथम चंद–वंश की श्रीवृद्धि की और डोटी की दासता से छुटकारा पाने के लिए एक विशाल सेना लेकर डोटी–राज्य के विरूद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। उसकी फौज में सभी जातियों के लोग थे। इस समय नेपाल में मल्लवंशी

राजाओं का राज्य था। मल्लों ने सीरा (डीडीहाट क्षेत्र) को अपने राज्य में मिलाकर इसे 'पर्वत डोटी का देश' नाम देकर एक वृहत्तर डोटी–साम्राज्य की स्थापना की थी। मल्ल राजा कुमाऊँ को 'पर्वत–डोटी' कहते थे। मल्लों ने नवीं सदी से लेकर 18वीं सदी तक डोटी में राज्य किया था। इन्हें 'रैका' राजा कहा जाता था। डोटी के राजकुमार, जिन्हें सीरा मंडल का प्रशासन सौंपा जाता था, भी 'राई' या 'रैका' कहे जाते थे। भारती चंद के समय यक्षमल्ल या जयमल्ल नेपाल (डोटी) का राजा था तथा सीरा मंडल में बलिनारायण संसार मल्ल शासक था। सीरा के अतिरिक्त सोर (पिथौरागढ़) में भी इसी वंश की एक अन्य शाखा बम अथवा बर्मशाही के नाम से शासन करती थी। सीरा से मल्लों का प्राचीनतम ताम्रपत्र शाके 1275 (1353 ई0) का, व सोर से बमों का 1337 ई0 (1259 शाके) का प्राप्त हुआ है।

भारती चंद जैसे एक स्वाभिमानी राजा को नेपाल की आधीनता बर्दाश्त नहीं थी। 'मडुवा'गुड़ौल' में 'भारती चंद का कटकु' से ज्ञात होता है कि उसने समाज की समस्त जातियों की एक 'कटक' (सेना) बनाई और सोर की ओर प्रस्थान कर पिथौरागढ़ के मुख्यालय में इसका पड़ाव बना दिया। इसका साक्ष्य यहां देवसिंह मैदान के पास अब बंद पड़ा 'कटकू नौला' है। दूसरा पड़ाव काली नदी के आसपास बड़ालू से लेकर गौड़ीहाट तक के क्षेत्र में जमा दिया। जिस स्थान पर शिविर लगा था, उसका नाम 'बाली–चौड़' था। यह काली के किनारे था।

12 वर्षों तक नेपाल का घेरा डालने के बाद अंत में मल्ल राजा पराजित हुआ। फलतः डोटी के आधिपत्य से चंद राज्य को मुक्ति मिल गई। डोटी की यह विजय 1451–52 ई0 में हुई थी, क्योंकि 1452 ई0 में बड़ालू व आसपास के क्षेत्र में भारती चंद के एक अन्य पुत्र कुंवर पर्वत चंद का शासन था। पं0 पद्मादत्त पंत जी के अनुसार इस अभियान में भारती चंद ने बड़ालू के निकट बर्तियाकोट को अपना निवास स्थल बनाया था। 1451 ई0 के हुड़ेती ताम्रपत्र में भारती चंद द्वारा एक गांव दान देने का वर्णन है। यद्यपि भारती चंद से पूर्व ज्ञानचन्द के समय ही सोर पर चंदों का आधिपत्य होने का उल्लेख है।

डोटी–विजय के फलस्वरूप भारती चंद ने अपने पुत्र रत्न चंद की सहायता से सोर, सीरा, थल आदि पर अधिकार कर लिया। सोर से विजय बम का राज्य भी समाप्त हो गया। सीरा के मल्ल भी काली के पार भाग गये। सीरा में भारती चंद ने डुंगरा बसेड़ा को अपना सामंत नियुक्त किया। डुंगरा बसेड़ा के बाद मदन सिंह व रायसिंह बसेड़ा सीरा के सामंत बने। किंतु ये बसेड़ा राजा यहां अधिक समय तक शासन नहीं कर सके और मल्लों ने सीरा पर पुनः अधिकार कर लिया। बसेड़ों से पूर्व सीरा में कल्याणमल्ल का शासन था। इस प्रकार सीरा में बसेड़ों ने 1452 ई0 से लेकर 1539 ई0 तक राज्य किया, क्योंकि 1539 ई0 में राई मल्ल सीरा का राजा था। इसके बाद शोभा मल्ल व हरिमल्ल सीरा के राजा बने। शोभामल्ल ने चंदों से

वैवाहिक–सम्बन्ध स्थापित कर अपनी पुत्री का विवाह बालो कल्याण चंद के साथ कर दिया। कल्याण चंद के पुत्र रूद्र चंद ने हरिमल्ल को पराजित कर सीरा को अपने चंद राज्य में मिलाया और इस विजय के उपलक्ष्य में उसने थल में एक शिव मंदिर की स्थापना कर दी यह घटना लगभग 1590 ई0 की है।

भारती चंद के बाद उसका युवराज–पुत्र रत्न चंद 1477 ई0 में गद्दी पर बैठा और 1488 ई0 तक राज्य करता रहा। वह अपने पिता के साथ अनेक युद्धों में कीर्ति अर्जित कर चुका था। संभवतः सुजान कुंअर भी भारती चंद का एक पुत्र था, जिसका उल्लेख खेतीखान ताम्रपत्र में हुआ है। लोहाघाट व हुड़ेती के ताम्रपत्रों में कुंअर रत्न चंद का नाम आया है। सोर, सीरा, थल, जुमला, बजांग आदि की विजय में उसी ने अपने पिता की सहायता की थी।

रत्नचंद के बाद 1488 ई0 में किराती चन्द या कीर्तिचंद राजा बना। उसने लगभग 1506 ई0 तक राज्य किया। संभवतः 1488 से 1499 ई0 के मध्य उसने भी कुंअर की हैसियत से राजकाज में भाग लिया था, और इस अवधि में रत्न चंद वृद्धावस्था के कारण शासन करने में असमर्थ था, जिससे शासन की बागडोर कीर्तिचंद के हाथो में थी।

कीर्तिचंद के बाद प्रताप चंद, ताराचंद, मानिक चंद, कल्याण चंद, पूर्णचंद व भीष्मचंद क्रमशः राजा हुए। कलपानी गाड़–भेटा (पिथौरागढ़) से प्राप्त ताम्रपत्र में जिस 'महाराजाधिराज श्री कल्याणचंद्र देव' का नाम आया है, वह भीष्म चंद का उत्तराधिकारी था, और उसने भीष्म चंद द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्र का जीर्णोद्धार किया था और नरि पांडे को भेजा में जमीन दी थी। इस ताम्रपत्र की तिथि 1545 ई0 है, जिससे ज्ञात होता है कि वह 1545 ई0 में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने 1545 ई0 से 1565 ई0 तक राज्य किया। तदोपरान्त उसका यशस्वी पुत्र रूद्र चंद गद्दी पर बैठा। भेटा ताम्रपत्र में किसनचंद को महाराजकुमार (युवराज) कहा गया है। संभवतः किसन चंद युवराज काल में ही स्वर्ग सिधार गया था अथवा रूद्रचंद ने जोर–जबरदस्ती से उसे हटाकर स्वयं गद्दी हथिया ली थी। बालो कल्याणचंद ने मणकोटी–राज्य को भी चंद–राज्य में मिलाकर चंपावत से राजधानी अल्मोड़ा पहुंचाई, और मणकोट के उप्रेती व पंतों को राज्य कर्मचारी बनाकर अल्मोड़ा ले गया। चंपावत के झिझाड़, सेलाखोला आदि गांवों के दीवान जोशियों को उन्हीं गांव–नामों पर अल्मोड़ा में बसाया। इनके अलावा अन्य समस्त कर्मचारियों को भी चंपावत से अल्मोड़ा स्थानांतरित कर दिया।

सम्पादकीय टिप्पणी–

वास्तव में 16वीं शताब्दि में राजा भीष्म चन्द द्वारा चन्द वंश की राजधानी चम्पावत से अल्मोड़ा स्थानांतरित की गई, परन्तु राजा भीष्म चन्द

अपनी राजधानी स्थाई रूप से स्थापित नहीं कर पाये। तदुपरान्त उनके पुत्र बालू कल्याण चन्द द्वारा अल्मोड़ा को नई राजधानी के रूप में स्थापित किया गया।

रूद्रचंद–

बालो कल्याणचंद के पश्चात् रूद्रचंद गद्दी पर बैठा। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर इसका समय 1565 से 1597 ई0 के मध्य ठहरता है। वह दिल्ली के मुगल बादशाह अकबर का समकालीन था। रूद्रचंद प्रारम्भ में (1565–87) तो एक स्वतंत्र राजा बना रहा, किंतु 1587 के बाद उसने अकबर की आधीनता स्वीकर कर कुमाऊँ को एक करद–राज्य बना दिया। उसके समय में हुसैनखां ने तराई पर कब्जा कर लिया था। फलतः रूदद्रचंद को तराई पर हमला करना पड़ा। तराई पर अधिकार कर उसने आधुनिक रूद्रपुर नगर की स्थापना की। इस खुशी में उसने अकबर को तिब्बती याक (झुप्पू) कस्तूरी, हिरनों की खालें आदि भेंट की थी। मुगल बादशाह ने उसे 'चौरासी माल परगना' का फरमान दे दिया, और उसे तब से 'जमींदार' कहना प्रारम्भ किया। अल्मोड़े का 'मल्ला महल' उसी का बनवाया हुआ है।

रूद्रचंद ने नये सिरे से सामाजिक–व्यवस्था भी स्थापित की। इसके लिए उसने 'धर्म–निर्णय' नाम की पुस्तक लिखवाई। इसमें ब्राह्मणों के गोत्र व उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अंकन किया गया। गढ़वाल के 'सरोला ब्राह्मणों (रसोईयों) की भांति कुमाऊँ में भी ऊँचे (चौथानी) ब्राह्मणों की मंडली बनाई जो परस्पर विवाह कर सकते थे। उसके नीचे पचबिड़िये (तिथानी) व उनके भी नीचे हलिये या पितलिये ब्राह्मणों के वर्ग बनाये। उसी के समय में गुरू, पुरोहित, वैद्य, पौराणिक, सईस (बखरिया), राजकोली, पहरी, बाजदार, बजनिया, टम्टा (ताम्रपत्रों के निर्माता व उत्कीर्णक), आदि पद निर्धारित किये गय। सईस, साहू व रंतगली के लिए गांव–गांव में दस्तूर निर्धारित किये गये। ओले पड़ने पर थाली बजाकर सभी को सतर्क करने वाले ओली ब्राह्मणों का वर्ग बनाया। उनके लिये भी गांवों में अनाज के रूप में दस्तूर निर्धारित किया। अनाज का छटा भाग गांवों से वसूलकर राजधानी पहुंचाने के लिए 'कैनी–खसों' का कार्य निर्धारण किया। घरों में सेवा कार्य के लिए 'छयोड़े' तथा 'छयोड़ियां' रखवाईं। शेष समस्त सामान्य जनता का नाम 'पौड़ी पन्द्रह विस्वा' रखा। नाई, कुम्हार, दर्जी, लोहार आदि शिल्पियों के लिए भी अनाज के रूप में दस्तूर की व्यवस्था की।

रूद्र चंद के पास एक अच्छी खासी सुसंगठित सेना भी थी, जो प्रायः राजा की रक्षार्थ राजधानी में रहती थी। युद्धकाल में उसके रजवार या 'ठक्कुर' (ठाकुर) अपने आदमियों को लेकर उसके साथ युद्ध में जाते थे। त्रिमल चन्द्र के समय काल गडयूड़ी उसका ठाकुर था, जिसे विजयोपरान्त जमीन 'रौत' (पुरस्कार) में मिली थी।

सीरा (डीडीहाट) से रूद्र चंद के भूमि–सम्बन्धी दस्तावेज प्राप्त हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उसने सीरा को मल्लों से पूर्णतया विजित कर उसमें अपना आधिपत्य कायम किया और पूरे सीरा मंडल (परगने) की भूमि का विधिवत् बंदोबस्त किया। रूद्रचंद की भूमि–सनदों में प्रत्येक गांव व उसके अन्तर्गत आने वाली भूमि का उल्लेख मिलता है। सीरा की विजय के फलस्वरूप अस्कोट, दारमा व जोहार भी उसके अधिकार में आ गये। ब्यांस–चौदांस की घाटियां पूर्ववत् जुमला–राज्य के आधीन बनी रही।

लक्ष्मी चंद–

रूद्रचंद की मृत्यु के पश्चात् 1597 ई0 में उसका छोटा पुत्र लक्ष्मी चंद गद्दी पर बैठा। इस राजा के और भी नाम मिले हैं। सीरा से प्राप्त चंदों की वंशावली में उसे लछिमीचंद, मूनाकोट ताम्रपत्र में लछिमन चंद तथा 'मानोदय–काव्य' में लक्ष्मण कहा गया है।

लक्ष्मीचंद का बड़ा भाई शक्ति गुसाईं, जो जन्मांध था, वास्तव में, प्रशासन की व्यवस्था वहीं करता था। उसने नये सिरे से दारमा घाटी की व्यवस्था की, जिसमें शौकों के अधिकार व कर्त्तव्य निर्धारित किये गये। उनसे बन्दोबस्त के बदले अनेक तिब्बती वस्तुओं को राजदरबार में पहुंचाने का करार किया। सिरती व राजकर की शर्तें भी नियत कीं तथा सीमाओं पर सीमा सूचक पत्थर लगवाये। राजधानी में बंदोबस्ती–कार्यालय की स्थापना की। भूमि पर अनेक प्रकार के कर नियत किये गये, जिनके नाम ज्यूला, सिरती, बैकर, रछया, कूत, भात, नेगि, साउ, रतगलि, कनक, बखरिया, सीकदार–नेगी आदि मिलते हैं। भिन्न–भिन्न चीजों को रखने की जगहों का भी नामकरण किया गया। न्योवाली न्याय वाली व बिष्टाली नामक कचहरियां बनाईं। इनमें न्योवाली नामक कचहरी समस्त जनता के लिए व बिष्टाली केवल सैनिक मामलों के न्याय के लिए होती थीं। राज्य–कर्मचारियों की तीन श्रेंणिया बनाई गई। ये थीं– 1. सरदार, जो परगने का शासक होता था, 2. फौजदार' यह सेना का अधिकारी था, 3. नेगी–ये राज्य के छोटे कर्मचारी होते थे, जिन्हें अनाज के रूप में दस्तूर (नेग) मिलता था। नागरिक–प्रशासन भी इन्हीं के हाथों में होता था।

लक्ष्मी चंद एक बड़ा निर्माता भी था। उसने बड़े–बड़े बाग–बगीचे लगवाये। नरसिंह बाड़ी, पांडे खोला, कबीना तथा लक्ष्मीश्वर आदि बगीचे उसी के समय में स्थापित किए गए। उसने यत्र–तत्र मंदिर भी बनवाये तथा पुराने जीर्ण–शीर्ण मंदिरों का जीर्णोद्धार भी किया। बागेश्वर के बाघनाथ–मंदिर का जीर्णोद्धार उसने 1602 ई0 में किया था। इसके शिवलिंग में ताँबे की नई शक्ति लगवाई थी। चंद राजा मंदिर व नौलों (बावड़ियों) को बनाने के बड़े शौकीन थे। इन कार्यों के लिए उन्होंने देश

के मैदानी भागों से कारीगरों (शिल्पियों) की बड़ी–बड़ी श्रेणियों (गिलड्स) को लाकर यहां विभिन्न स्थानों पर बनाया था तथा उन्हें जमीनें 'रौत' (बहादुरी पुरस्कार)– में दी थीं। पृथ्वीचंद रजबार के अठिगांव (मल्ली गंगोली) ताम्रपत्र में शाके 1532 (1610 ई0) में किसी तमोटा (टम्टा)को एक अधाली (आठ नाली या पंद्रह किलो अनाज बोने की क्षमता वाली जमीन) भूमि देने का उल्लेख है।

लक्ष्मीचंद के पश्चात् उसका योग्यतम पुत्र **त्रिमल चंद 1616 ई0** में गद्दी पर बैठा। गडयूड़ा ताम्रपत्र में उसे 'महाराज कुमार' (युवराज) कहा गया है। उसने अपने पिता के गढ़वाला– अभियानों में पूरी सहायता की थी। युवराज के रूप में ही उसमें पाचं वर्षों तक अपने बूढ़े पिता की ओर से राजशासन चलाया था। उसने 1616 से 1621 ई0 तक युवराज के रूप में शासन किया और 1625 ई0 में विजय चंद की मृत्यु के बाद 1625 से 1638 तक राजा के रूप में शासन किया था। 1621 से 1624 ई0 तक दिलीप चंद ने राज्य किया था। मात्र एक–दो साल के लिये 1625 में विजय चंद गद्दी पर बैठा था तथा 1625 ई0 में ही एक षडयंत्र के तहत मारा भी गया था। मेरे द्वारा 'पहाड़' 3–4 में प्रकाशित कराये गये अनेक ताम्रपत्रों में एक विजय चंद का पाभै (पिथौरागढ़) ताम्रपत्र भी है, जिसमें उसके द्वारा विवाह कराने के उपलक्ष्य में बसु पुरोहित को चौकी (चंपावत) में पचौली नामक व्यक्ति की जमीन दिये जाने का उल्लेख है। यह पचौली एक जाति–नाम था।

यह विवाह गंगा के तट पर हुआ, और कर्नवास के घाट पर पवित्र जल से राजा ने संकल्प के साथ भूमि पुरोहित के नाम कर दी थी। अटकिंसन महोदय के अनुसार विजय चंद ने आधुनिक बुलंद शहर स्थित अनूप शहर के किसी बड़गूजर की पुत्री से विवाह किया था। जहां तक सामाजिक सम्बन्धों का प्रश्न है, चंदों का वैवाहिक सम्बन्ध बड़ गुर्जरों के साथ नहीं हो सकता था। इससे राज–दरबार में अशांति छा गई एवं राजकाज ठप्प पड़ गया। फलतः त्रिमल चंद सदृश उत्साही एवं राजशासन में दक्ष राजकुमार ने सुखराम कार्की के मारफत विजयचंद को मरवा दिया।

दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच फंसकर अपनी बुद्धिमत्ता दिखाना कितना खतरनाक होता है। इस बात को सुखराम कार्की बहुत जल्दी समझ गया। 1625 ई0 में जब त्रिमल चंद का राज्यारोहण हुआ, तो उसने सर्वप्रथम षडयंत्रकारियों में से एक ओर विजय चंद के हन्ता सुखराम कार्की को मरवा डाला तथा विनायक भट्ट की आंखें निकलवा दीं। पीरू लाला का देश निकाला कर दिया। चूंकि विजय चन्द को मरवाने में रसोइयों व राजचेलियों (छ्योड़ियों) का भी हाथ था, अतः उन्हें भी बदला गया, और अपने विश्वास पात्रों की इस कार्य के लिए नियुक्ति कर दी। यही नहीं, रसोई के भी नियम बना दिये।

त्रिमल चंद ने छखाता व ध्यानीरौ के खसों का विद्रोह दबाया उसकी मृत्यु के बाद **1638 ई0 में बाज बहादुर चंद** गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठने के बाद उसे सर्वप्रथम अपने साथ चंवर, कस्तूरी, निरबीसी, गजगाह, घोड़े, खांड़ां खुकरी तथा सोने–चांदी के बर्तन लेकर दिल्ली के बादशाह शाहजहां के पास जाना पड़ा। कारण था कि नौलखिया माल या चौरासी माल (तराई) में कटेहरी राजपूतों ने अधिकार कर लिया था, जो मुगल बादशाही की कृपा पर आश्रित थे। इस चौरासी कोस के लंबे भू–भाग से चंद राजाओं को प्रतिवर्ष नौ लाख रूपये की आमदनी होती थी। इसके हाथ से निकल जाने से उनकी अर्थव्यवस्था लगभग ठप्प पड़ी थी। मुगल शहंशाह (पादशाह) शाहजहां ने उसके अनुरोध पर कटेहर का प्रांत उसे देना मंजूर किया, और उसकी राजभक्ति तथा गढ़वाल–युद्ध में साथ देने के उपलक्ष्य में उसे 'बहादुर' व 'जमींदार' की उपाधियों से विभूषित किया। उसे माल (तराई) का प्रांत भी मिल गया। इस कार्य में मुरादाबाद के सूबेदार रूस्तम खां ने उसकी सहायता की और कटेहरियों से माल का इलाका दिलाने में भी उन पर उसी ने दबाव डाला। इसके बाद उसने यहां अपने अधिकारी नियुक्त किये, सर्वत्र सुव्यवस्था कायम की और शासन की सुविधा के लिए इसे पट्टियों व ग्रामों में विभक्त किया। अपनी यादगार में उसने यहां 'बाजपुर' नामक नगर की स्थापना की, जिसके खंडहर आज भी मौजूद हैं।

बाजबहादुर चंद ने कत्यूरी राजकुंवरों के गढ़ मानिला–गढ़ पर हमला कर कत्यूरी–कुंवरों को वहां से गढ़वाल की ओर खदेड़ दिया। उन्होंने तत्पष्चात् गढ़वाल के पूर्वी भागों में लूट–पाट मचानी प्रारम्भ करदी। फलतः गोला रावत भूप सिंह थोकदार की पुत्री तीलू रौतेली को इन्हें गढ़वाल की सीमाओं से खदेड़ने के लिए हथियार उठाने पड़े। यह घटना बाजबहादुर चंद के समय से प्रारम्भ हुई और उसके पुत्र उद्योत चंद के समय तक चलती रही। पहले तो भूप सिंह रावत ने अपने पुत्रों के साथ इन उत्पातियों का प्रतिरोध किया, किंतु जब वे और उनके दोनों पुत्र लड़ाई में मारे गये, तो वीरांगना किंतु कुंआरी तीलू ने बशरंबु पट्टी से लड़ाकू कोली राजपूतों व अन्य रावत, नेगी, सज्वाण, असवाल आदि जातियों के वीरों को बुलाकर एक सुदृढ़ फौज तैयार की तथा खांड़े, खुकुरी, धनुष–वाण, भाला, बर्छी, कुल्हाड़ी लेकर कुमाऊँनी उपद्रवियों पर हमला कर दिया। फलतः कुमाऊँ के वीर कुमाऊँ की सीमा की ओर भाग खड़े हुए। यहां बर्किंडा में बर्किंडों से भयंकर लड़ाई हुई। इसके पश्चात् देघाट व तामाढौन में लड़ाई हुई। तदोपरान्त टकोलीखाल में युद्ध हुवा। यहां गढ़–सैनिक विजयी हुए। कालांतर में उद्योत चंद के द्वारा नेपाल के अजमेर गढ़ को जीत चुकने के बाद अपनी सेना का मुख पश्चिम की ओर किया, तो मल्ला सलाण स्थित सावनी, खाटली तथा सैंजधार से गढ़वालियों को सीधे वीरौंखाल की ओर भगा दिया, फिर भी, कलिंकाखाल की लड़ाई में गढ़वाल की इस जोन ऑफ आर्क ने कुमाऊँनी सेना के छक्के छुड़ा दिये। इसी क्रम में उसने खैरागढ़ को भी विजित

कर लिया। फलतः चंदो को कोट, (चौंद–कोट) व अल्मोड़े का पश्चिमी भाग सदैव गढ़वालियों के अधिकार में बना रहा। इस प्रकार शत्रुओं के विरूद्ध युद्धरत रहने व अपने देश की आन–बान–शान के लिए अपना सर्वस्व लुटा चुकने के बाद जब यह वीरांगना हारी–थकी पूर्वी नयार नदी में नहा रही थी, तभी एक शत्रु ने तलवार से उसकी गर्दन उड़ा दी। युद्ध में जीतने के बजाय उस वीरांगना को नहाते समय चोरी से मार डालना इतिहास का एक महाकलंक है।

बाजबहादुर ने कैलाश–मानसरोवर के तीर्थ यात्रियों के लिए 1673 ई0 में गूंठ भूमिदान दी थी। 'गूंठ' उस भूमि को कहा जाता था, जिसे मंदिरों की देखभाल व उनमें खर्च होने वाले अनाजादि की व्यवस्था के लिए पुजारियों को दिया जाता था। भोटियों व शौकाओं द्वारा तिब्बत को दी जाने वाली दस्तूर पर उसने रोक लगा दी। किंतु बाद में तिब्बतियों के अनुरोध पर उसे पुनः जारी कर दिया। उसने मानसरोवर जाने वाले यात्रियों को भोजन, वस्त्र व स्थान आदि की व्यवस्था के लिए पांच गांवों की मालगुजारी भी मुकर्रर कर दी तथा अस्कोट के रजवार को अपने इलाके में सुव्यवस्था व न्याय का शासन स्थापित करने के लिए हिदायत दी।

इसके पहले 1669 ई0 में वह सोर की यात्रा कर चुका था। इसे उस समय सोर खड़ायत का परगना कहा जाता था। सोर–स्थित उर्ग नामक गांव को बाजबहादुर के पूर्वज भारती चन्द ने सदानंद जोशी को पूर्व में दे रखा था, किंतु इस समय बाज बहादुर चंद ने रतन जोशी को उर्ग के बदले तल्ला रयांसी में एक ज्यूला जमीन दे दी। ताम्रपत्र में सदानंद जोशी को लटोला राठ कहा गया है। लटोला जोशी के पूर्वज पहले मणकोट (गंगोली) के लटौला गांव में रहते थे, इसीलिए उनहें लटोला जोशी कहा जाता था। इस ताम्रपत्र में 'मुकाम अल्मोड़ा' उल्लिखित है। अस्तु, बाजबहादुर सोर में डोटी के राजा से मिला। इस समय डोटी का राजा देवपाल था। यहां से वह ब्रह्देव मंडी की ओर चल पड़ा, क्योंकि यहां चितौना के राजा ने कालीघाट के ऊपर एक किला बनाकर अपने को स्वतंत्र घोषित कर रखा था। बाजबहादुर ने किले को छीनकर राजा को वहीं पेड़ पर लटकवा दिया। इस प्रकार वहां शांति स्थापित कर वह ब्यांस की ओर चल पड़ा। वहां के दर्रों में भी अधिकार कर तिब्बतियों से शर्तें लिखवाईं। भोटियों व हुनियों (तिब्बतियों) को 'सिरती' नामक कर चुकाने को बाध्य किया। यह कर नकद के रूप में लिया जाता था। ज्वार–मुनस्यारी से सिरती वसूलने के अनेक विस्तृत विवरण अभी तक प्राप्त हुए हैं। अपने निजी प्रयोग के लिए उनसे सोने का चूरा (फेटांग), कस्तूरी, नाभा तथा नमक–कर ठहराया।

बाजबहादुर चंद का राज्य–काल तेजस्वी रहा। उसने कई नये–नये क्षेत्रों को विजित कर अपने राज्य में मिलाया। दरबार को मुगल–दरबार के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। अनेक नये पद सृजित कर कर्मचारियों का उनके काम के अनुरूप

नामकरण किया। यथा– पानी भरने वाले को पनेरू, फल लाने वाले को फुलेरिया, प्रातः हर–हर की आवाज कर राजपरिवार को जगाने वालों को हरबोला, मंदिरों की रक्षा करने वालों को मठपाल, आदि, आदि। बाजबहादुर काफी धर्म परायण तथा धर्म–कर्म प्रेमी राजा था। उसने अनेक मंदिरों का भी निर्माण किया था। थल (पिथौरागढ़)– स्थित 'एक हथिया देवाल' उसी का बनवाया हुआ था। इस देवाल को एक ही बड़े पाषाण–खंड में बड़ी ही खूबसूरती के साथ तराशा गया है। इसीलिए इसे 'एक हथिया देवाल' कहा जाता है। इसकी बनावट एलोरा के कैलाश मंदिर की जैसी है।

उद्योत चंद–

1678 ई0 में बाजबहादुर चंद की मृत्यु के उपरांत उसका बड़ा पुत्र उद्योत चंद गद्दी पर बैठा। चंद राजाओं में भारती चंद के बाद यही वह राजा था जिसने नेपाल पर आक्रमण कर वहां की ग्रीष्मकालीन राजधानी अजमेरगढ़ पर अधिकार किया था। उद्योत चंद के अभी तक अनेक ताम्रपत्र प्राप्त हो चुके हैं। इनमें एक ताम्रपत्र बरम (मुवानी–पिथौरागढ़) से प्राप्त हुआ है। यह 1679 ई0 का है। इसमें उद्योत चंद की धाईमाता की बीमारी का उल्लेख हैं, प्रतीत होता है कि धाईमाता को अंततः राजवैद्य ने ठीक किया और सूर्यग्रहण के दिन संकल्प की गई भूमि को राजा ने वरदेव जोशी को प्रदान कर दिया, वह राजवैद्य था।

अन्य पूर्ववर्ती राजाओं की भांति उद्योत चंद ने भी गद्दी नशीन होने के तुरंत बाद गढ़वाल पर आक्रमण किया था। उसे गढ़वाल के साथ–साथ डोटी–राज्य से भी खतरा बना हुआ था, क्योंकि उसके विरूद्ध गढ़नरेश व डोटी के राजा देवपाल ने संधि कर रखी थी, जिसके अनुसार दोनों ने एक साथ पूर्व व पश्चिम से कुमाऊँ पर हमला करने का संकल्प ले रखा था। उन दिनों समूचे नेपाल को 'डोटी' कहा जाता था, और सीरा में मल्लों द्वारा राज्य स्थापित कर लेने पर सीरा को वल्ली डोटी कहा जाता था। बहरहाल, डोटी नरेश देवपाल ने चंदों की पुरानी राजधानी चंपावत पर हमला कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। यह घटना उद्योत चंद के राज्याभिषेक के दो–तीन वर्ष के अंदर ही घट गई थी। फलतः उद्योत चंद को पूर्व व पश्चिम दोनों ओर एक साथ उपरोक्त आक्रमणों से जूझना पड़ा, क्योंकि गढ़ नरेष ने भी दूनागिरी व द्वाराहाट (दोराहाट) पर हमला कर दिया था। लछिमन चन्द्र के मूनाकोट ताम्रपत्र में इसे दोरा कहा गया है। उद्योत चंद ने दोनों राजाओं का एक साथ मुकाबला कर उन्हें अपनी राज्य–सीमा से खदेड़ बाहर किया और उन पर चौकसी रखने के लिए दोराहाट, दूनागिरी, चंपावत, सोर और ब्रह्देव मंडी में छावनियां स्थापित कर दीं। डोटी से पुनः युद्ध तथा अजमेरगढ़ का विध्वंस–उपरोक्त

विजयों को देवताओं का प्रसाद समझकर अब उद्योत चंद प्रयाग राज में स्नान करने निकल पड़ा। 1682 ई0 में उन्होंने प्रयाग राज के रघुनाथपुर घाट में स्नान किया। उसकी इस अनुपस्थिति का लाभ उठाकर डोटी के रैका राजा देवपाल ने पुनः काली कुमाऊँ पर अधिकार कर लिया। उद्योत चंद ने जल्दी में अपनी राजधानी की ओर कूचकर एक बड़ी सुदृढ़ सेना बनाई और डोटी नरेश को सबक सिखाने के लिए चंपावत की ओर चल पड़ा। उद्योत चंद का आगमन मात्र सुनकर डोटी नरेश काली पार अपनी ग्रीष्मकालीन राजधानी अजमेरगढ़ की ओर भाग खड़ा हुआ। फिर क्या था, उद्योत चंद की सेना ने काली नदी पार कर उसकी राजधानी अजमेरगढ़ पर चढ़ाई कर दी। यह गढ़ उड़ेलधुरा के पास स्थित था। उद्योत चंद की सेना द्वारा उड़ाई गई धूल की हवा मात्र सूंघ कर वह वहां से भी अपनी शीतकालीन राजधानी जुराइल–दिपाइल कोट की ओर भाग गया, जो सेटी नदी के किनारे पर अवस्थित थी। उद्योतचंद की सेना ने अजमेरगढ़ को लूटकर उसे धूल में मिला दिया, और लूट का माल लेकर उसकी सेना वापस चली आई। संभवतः उसने इसे अपने अधिकार में नहीं किया था, और नही इसमें अपनी कोई सेना रखी। देवपाल ने लौटकर भी उसका प्रतिरोध नहीं किया। डोटी का राजा चंद राजा से इसलिए चिढ़ता था कि चंदों ने सीरा व सोर से डोटी का आधिपत्य समाप्त कर उनमें अपना अधिकार कर लिया था। इस सैनिक अभियान में उद्योत चंद का सेनापति हिरू देउबा मारा गया था, जिसके वंशजों को राजा ने आठ गांव 'रौत' (बहादुरी) में दिये थे। अजमेर गढ़ पर 1683 ई0 के आसपास विजय की गई थी।

प्रतीत होता है कि अब उद्योत चंद अजमेर गढ़ की विजय से वापस अपनी राजधानी आया था, तो डोटी नरेश ने सीमाओं पर उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया था। अंतः उद्योत चंद को पुनः डोटी पर चढ़ाई करनी पड़ी। इस बार के आक्रमण में कुमाऊँनी सेना ने उसे जुराइल–दिपाइल कोट से भी भगाकर देश के खैरागढ़ नामक किले में शरण लेने को बाध्य कर दिया। 1688 ई0 में उद्योत चंद ने खैरागढ़ पर अधिकार कर लिया। वहां अंततः दोनों के मध्य एक संधि हुई। संधि के फलस्वरूप डोटी नरेश ने कुमाऊँ नरेश को कर देना स्वीकार किया। इससे उद्योत चंद प्रफुल्लित हो उठा और अल्मोड़ा पहुंचकर उसने खुशी में एक महल का निर्माण किया। चाटुकारों को खुश करने के लिए त्रिपुरा सुंदरी, पार्वतीश्वर व उद्योत चंदेश्वर नामक मंदिर भी बनवा दिये।

किंतु, 1696 ई0 में उसने उद्योत चंद को कर देना बंद कर दिया। इस पर पुनः तीसरी बार उद्योत चंद डोटी परचढ़ बैठा। इस बार जुराइल–दिपाइल कोट में भीषण संग्राम हुआ। जिसमें डोटियालों की करारी चोटों से कुमय्यूं के पैर उखड़ गये। उद्योत चंद भागकर अल्मोड़ा आ गया, और शिरोमणि जोशी इसमें मारा गया। सेना में भी भगदड़ मच गई। डोटियालों के हाथ जो भी पड़ा, उसे ही मार डाला।

बचे–खुचे सैनिक भी भागकर चले गये। इससे उद्योत चंद इतना दुःखी व निराश हुआ कि उसने युद्ध करने से ही तौबा कर दी।

अब वह शांति की खोज में लग गया। एतदर्थ दूर–दूर से ज्योतिषी, विद्वान व विद्याव्यसनी बुलाये गये। शेष जीवन उसने धर्म–कर्म में लगाना प्रारम्भ कर दिया। कोटा भाबर के पास नई–नई आम्रवाटिकायें लगवाई गईं। यत्र–तत्र खूब फलदार वृक्ष लगवाये गये। सर्वत्र पूजा–पाठ की शंख–ध्वनि व घंटे–घड़ियाल बजने लगे। मंत्र–तंत्रों के इन्द्रजाल ने कुछ ही दिनों में राजधानी को गुंजायमान कर दिया। पर, राजा को तो अपनी नियति का आभास हो गया था। फलतः 1698 में स्वयं अपने हाथों राज–पाठ का भार अपने पुत्र ज्ञानचंद को सौंपकर राजा उद्योतचंद गोलोकवासी हो गया।

ज्ञानचंद–

चूंकि ज्ञानचंद का प्रथम तामपत्र–अभिलेख 1698 ई0 का प्राप्त हुआ है। अतः वह 1698 में गद्दी पर बैठा था। उसने 1698 से 1708 ई0 तक शासन किया। पूर्ववर्ती राजाओं की भांति उसने भी गद्दी पर बैठते ही गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया। अपने पूरे राज्यकाल में वह गढ़वाल व डोटी से युद्ध लड़ने में लगा रहा। उसका पहला आक्रमण गढ़वाल की पिंडर घाटी में हुआ, जहां से उसने थराली तक के उपजाऊ प्रदेश को रौंद डाला। 1699 ई0 में बधानगढ़ को लूटा व विजित किया।

यहां से वह नंदा देवी की स्वर्ण–प्रतिमा भी अपने साथ ले गया, जिसे उसने अल्मोड़े में स्थित नंदादेवी के मंदिर में स्थापित किया। अगले वर्ष 1700 ई0 में उसने रामगंगा को पार करके मल्ला सलाण स्थित साबली, खाटली व सैंजधार नामक गांवों की लूट–खसोट की। तीलू रौतेली की मृत्यु के उपरान्त गढ़ नरेश ने इन गांवों में पुनः अधिकार कर लिया था। 1701 ई0 में गढ़नरेश फतेशाह ने चंद राज्य में स्थित पाली परगने के गिंवाड़ व चौकोट को लूटकर इन्हें बिल्कुल वीरान कर दिया। फलतः पीड़ित क्षेत्रों की जनता में भगदड़ मच गई।

डोटी अभियान–

1704 ई0 में पिता की करारी हार का बदला लेने के लिये उसने डोटी पर आक्रमण कर दिया। इस बार यह युद्ध कुमाऊँ की सीमा में ही स्थित मलेरियाग्रस्त

http://ignou.ac.in

भाबर में लड़ना पड़ा। इसमें डोटी नरेश तो हारकर भाग गया, किंतु कुमाऊँनी सेना मलेरिया की शिकार हो गई। फलतः ज्ञानचंद राजधानी वापस चला आया। ज्ञात होता हे कि ज्ञानचंद का आगमन मात्र सुनकर डोटी नरेश ने उसे सीमांत क्षेत्र में ही रोक लिया था, और चंद–सेना डोटी में प्रवेश नहीं कर सकी थी।

ज्ञानचंद भी देवी–देवताओं की पूजा–पाठ में पर्याप्त रूचि लेता था। पिता की भांति उसने भी मंदिर व बावड़ियां बनवाई थीं। डोटी–अभियानों के दर्मियान उद्योत चंद व ज्ञानचंद ने सोर व सीरा में भी अनेक मंदिर बनवाये थे। उनके बनवाये मंदिरों को देवल अथवा द्यौल कहा जाता था। देवस्थल (पिथौरागढ़) के चौपाता, नकुलेश्वर, कासनी, मर्सोली आदि स्थानों के मंदिर चंदशैली पर इन्हीं राजाओं के बनवाये हुए हैं। इस प्रकार लगभग 10 वर्षों तक राज्य करने के बाद सन् 1708 ई0 में ज्ञानचंद की मृत्यु हो गई, और इसी वर्ष उसका प्रतापी पुत्र जगत चंद गद्दी पर बैठा था।

जगत चंद–

जगत चंद्र का काल चंदों के इतिहास में एक सर्वाधिक उत्कर्ष का काल था। यद्यपि जगत चंद्र ने मात्र बारह वर्षों तक ही शासन किया था, किंतु उपरोक्त अल्पावधि में भी उसने अपने राज्य की जनता के मध्य जो यश प्राप्त किया वह अन्य किसी भी चंद नरेश को नसीब नहीं हुआ था। वह एक ऊँचे दर्जे का मिलनसार व्यक्ति था, और सारी प्रजा उसके प्रति अपार श्रद्धा रखती थी। वह प्रजा के कार्य में प्रभूत रूचि लेता था। देश धन–धान्य से परिपूर्ण था तराई भाबर से 9 लाख रूपये की आय इसी के समय में होती थी। विद्वानों ने उसके काल को कुमाऊँ का स्वर्ण काल कहा है।

गढ़वाल पर चढ़ाई–

उद्योत चंद व ज्ञानचंद की भांति जगत चंद को भी गढ़ राज्य से आये दिन चुनौतियां मिल रही थीं। अपने पिता ज्ञानचंद के साथ वह पहले गढ़राज्य के विरूद्ध लड़ चुका था। जगत चंद के बरम (मुवानी) ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि ज्ञानचंद्र के समय वीरेश्वर जोशी वैद्यकुड़ी ने बधानगढ़ की लड़ाई में जासूसी की थी, जिससे राजा को बधानगढ़ फतह करने में सफलता मिली थी। इस बावत ज्ञानचंद ने वीरेश्वर जोशी को रौत में जो अमीन दी थी, उसके ताम्रपत्र किसी अग्नि कांड में

http://ou.ac.in

जल गये थे। फलतः जगतचंद्र को पिता की मृत्यु के बाद पुनः दूसरा ताम्रपत्र वीरेश्वर जोशी के पुत्रों को देना पड़ा।

जगतचंद ने अपने राज्याभिषेक के पहले ही वर्ष लोहबागढ़ व बधानगढ़ पर चढ़ाई करके वहां से गढ़सेना को मारभगाया था, क्योंकि ज्ञनचंद्र की मृत्यु के तुरंत बाद गढ़नेरश ने बधानगढ़ को अपने कब्जे में कर लिया था। इन दोनों गढ़ों को फतह करने के बाद वह श्रीनगर की ओर चल पड़ा। श्रीनगर में गढ़नरेश फतेहशाह से इसका भीषण संग्राम हुआ। फलतः फतेहशाह हार मानकर देहरादून की ओर कूच कर गया। यह भी कहा जाता है कि वह देहरादून न जाकर रानीहाट गया था। श्रीनगर पर जगतचंद का अधिकार हो गया उसने इस नगरी की खूब लूट–खसोट की और उसे लगभग वीरान ही कर डाला। श्रीनगर में अपना एक प्रतिनिधि रखने के बाद जगत चंद जब वापस आया, तो फतेहशाह ने इस प्रतिनिधि को मार भगाया, और एक बड़ी सेना लेकर कुमाऊँ की कत्यूर घाटी में आक्रमण कर दिया। गरूड़ा ग्राम (गरूड़) व बैजनाथ घाटी को रौंदने के बाद उसमें गरसार ग्राम को बद्रीनाथ मंदिर को चढ़ा दिया, जिसकी आय से बद्रीनाथ का सत्र चलने लगा।

जगत चंद ने अपने पूर्वजों की भांति मुगल सम्राट बहादुरशाह को अनेक कीमती पहाड़ी चीजें भेंट की थीं। इनमें घोड़े, चंवर, खांड़े, खुकरी, कस्तूरी, निखीसी, गजगाह व सोने–चांदी के बर्तन आदि प्रमुख चीजें थीं। बदले में दिल्ली पति ने उसे अभयदान दिया था। जगतचंद ने जुआरियों पर भी कर लगाया तथा चेचक से अंत में उसकी दुःखद मृत्यु हुई।

चंद राज्य का अवनति काल–

1720 ई0 में जगतचंद की मृत्यु के बाद उसका बड़ा पुत्र देवीसिंह गद्दी पर बैठा। वरम ताम्रपत्र में उसे 'महाराजकुमार श्री देवीसिंह गुसाईं' तथा झिझाड़ (चंपावत) ताम्रपत्र में 'महाराजकुमार श्री देवीसिंह गुसाईं ज्यू' कहा गया है। वह अपने पिता के समय राज–काज में पर्याप्त भूमिका निभा चुका था, जिससे उसे राजकाज के विषय में पर्याप्त जानकारी थी।

देवीचंद ने भी गढ़वाल पर आक्रमण किये थे। गद्दी पर बैठते समय उसे अपने खजाने में प्रभूत धन की प्राप्ति हुई थी। कहा जाता है कि वह चाटुकारों से धिरा रहता था तथा चाटुकार पंडितों की सलाह पर कुमाऊँ का विक्रमादित्य बनने के लालच में उसने काफी धन इन्हीं चाटुकारों को दान–दक्षिणा देने में व्यय कर दिया था। इस अर्थ में उसे कुमाऊँ का मुहम्मद तुगलक' कहा जाता है।

देवीचंद्र के बाद क्रमशः अजीत चंद, कल्याणचंद, दीप चंद, मोहन चंद, प्रद्युम्न चंद (गढ़नरेश प्रद्युम्न शाह), शिवचंद व अंतिम राजा महेन्द्र चंद कुमाऊँ की गद्दी पर बैठे। पर इनका कार्यकाल किन्हीं विशेष घटनाओं के अभाव में प्रभाव शून्य रहा केवल कल्याण चंद के समय (1730–1747) कुमाऊँ में रूहेलों का आक्रमण हुआ था। लखनऊ संग्रहालय में निक्षिप्त ताम्रपत्र नं0 51.284 तथा E–73, 1.7.39 से ज्ञात होता है कि कल्याण चंद को डोटी से कुमाऊँ में लाकर गद्दी पर बैठाया गया था। ताम्रपत्र के अनुसार कुमाऊँ की गद्दी खाली होने पर अनूप सिंह तड़ागी तथा सम्पूर्ण कुमाऊँ राज्य के योग्य पुरूष मान गैड़ा के साथ पीपली के राज नरपतिसिंह से उसके बेटे को मांगने गये। वहां पहुंचकर अनूप सिंह ने कुमाऊँ के लोगों को अपने साथ मिलाकर नरपति सिंह से कहा कि वह अपने पुत्र को न दें। परन्तु उसके साथ गये अन्य लोगों ने गैड़ा का साथ दिया। फलतः अनूप सिंह तड़ागी भागकर कुमाऊँ आया। यहां उसने सब जगहों के भ्रदजनों व थोक–थोक के लोगों से सलाह–मशविरा कर कल्याण चंद को लाने हेतु डोटी की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार उक्त परिस्थितियों में कल्याणचंद बहादुर का राजतिलक हुआ। गद्दी पर बैठते ही उसने मान गैड़ा व उसके पुत्र नूरन मल को मरवा डाला। तदोपरान्त अल्मोड़े में उसने एक चौमहला महल बनवाया। ताम्रपत्र नं E.73 में राजधानी को 'राजबुंगा' कहा गया है। कल्याण चंद का 1746 ई0 का एक पाटो पत्र सल्ट–स्थित सैणमातुर से भी मिला है जिसमें लछी गुसाईं मनराल को सयानचारी सौंपने का उल्लेख है। उसे एक अत्याचारी राजा बताया जाता है।

1743–44 ई0 में रूहेलखंड (कटेहर) के सरदार अली मुहम्मद खां ने कुमाऊँ पर आक्रमण कर दिया। इसी समय अवध के नवाब मंसूर अली खां (सफदरजंग) ने भी कुमाऊँ–राज्य के अन्तर्गत तराई में स्थित बिलारी और सरबना के ग्रामों पर अधिकार कर लिया। फलतः उनका प्रतिरोध करने हेतु कल्याणचंद ने एक सेना भेजी। भीमताल के नीचे परगना छखाता में स्थित विजयपुर में दोनों सेनाओं के मध्य एक घमासान लड़ाई हुई, जिसमें रूहेलों की मार से कुमाऊँनी सेना में भगदड़ मच गईं। भगदड़ का कारण एक तो कुमाऊँनियों में एकता का अभाव था, और दूसरा सेना के साथ गये पंडे–ज्योतिषियों ने भय से हाहाकार मचा दी। फलतः भागती हुई सेना का पीछा करते हुए रूहेले` रामगढ़, प्यूड़ा तथा सुयाल नदी के मार्ग से होते हुए अल्मोड़ा पहुंच गये। कल्याण चंद भाग कर गढ़वाल की ओर चल पड़ा। अल्मोड़ा रूहेलों के हाथ लगा।

अल्मोड़े पर रूहेलों का अधिकार हो जाने पर फिर क्या था, लूट और विनाश का तांडव–नृत्य अनेक दिनों तक चलता रहा। राजप्रासाद, कचहरी और मंदिरों को

तोड़ डाला। भारी संख्या में नर नारियों को दास बनाकर मैदानी भागों में बेचने के लिए भेज दिया। डर के मारे अनेक लोग मुसलमान बन गये और आज भी अल्मोड़ा में बहुत से हिंदू मुसलमान बनकर भी हिंदू जाति–नाम लिखते हैं।

कुमाऊँ तथा नेपाल के सम्बन्ध :

नेपाल व कुमाऊँ का अति प्राचीन काल से ही बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा है। भारत से नेपाल में बौद्ध धर्म गया। सम्राट अशोक ने अपनी पुत्री चारूमती (चारूमित्रा) का विवाह नेपाल के राजकुमार देवपाल से किया था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में सीमांतवर्ती राज्यों की सूची में नेपाल का भी उल्लेख है। हर्ष व नेपाल नरेश अंशुवर्मन के मध्य मैत्री–भाव का उल्लेखर भी इतिहास में मिलता है। नेपाल स्थित दुलू के राजा क्राचल्ल व अशोक चल्ल द्वारा कुमाऊँ में आक्रमण कर उसे विजित करने का उल्लेख पूर्व–पृष्ठों में किया जा चुका है। गुरू गोरखनाथ नामक प्रसिद्ध संत द्वारा नेपाल में अपने धर्म का प्रचार करने का उल्लेख भी मिलता है, जिनका साक्षात्कार कुमारिल भट्ट से प्रयाग पार झूंसी (प्रतिष्ठानुपुर) में हुआ था। उत्तर प्रदेश में गोरखपुर व नेपाल में 'गोरख' नामक पहाड़ियों का नामकरण भी उन्हीं के नाम पर हुआ। इसी 'गोरख' पहाड़ी पर निवास करने वाली जाति को 'गोरखा' या 'गोरखाली' कहा जाता है। अल्मोड़े में घर–घर पूजा जाने वाला प्रसिद्ध देवता 'गंगनाथ' स्वयं चंद वंशी राजकुमार था, जो साधू बनकर कुमाऊँ में आया और यहीं मारा भी गया था। प्रसिद्ध फकीर गोपी चंद भी नेपाल का ही था। नेपाली भाषा नेवारी व खसकुरी का कुमाऊँनी भाषा में पूरा प्रभाव देखने व सुनने को मिलता है। नेपाली रीति–रिवाजों में जो भी विशेषतायें मिलती हैं, वे सब हिन्दुओं के रीति–रिवाज हैं, जो कुमाऊँ के माध्यम से नेपाल पहुंचे थे। कुमाऊँ में हिलजात्रा, आठं, देवजात्रा, पुषूड़िया (मकर संक्रांति–पर्व), घुरूड़िया, घी त्यौहार, हरेला, ओलगा–प्रथा आदि सब नेपाली रीति–रिवाज, पर्व व उत्सव हैं। कुमाऊँ में पवित्र गोरिल का मूल भी नेपाल ही है। इसे अब 'गोल देवता' कहने का रिवाज चल पड़ा है। सीरा में प्रचलित 'रौत' देवता की पूजा का मूल भी नेपाल ही है। छुरमल, कलसिन, कटारमल, भूमियां, ऐड़ी, सैम आदि जो भी देवता यहां पूजे जाते हैं, उनका मूल भी नेपाल ही है। पिथौरागढ़ जनपद में कुछ ऐसी भी प्रथायें हैं जिनका मूल नेपाल रहा है। घास के लिए डोके की प्रथा, पीठ में बोझ रखना, कपाल में नाक के सिरे से लेकर ऊपर सिर तक पिठां (रोली) लगाना, मुर्दे को बांधकर जल्दी–जल्दी भगा ले जाना– ये सब नेपाल की देन हैं।

जहां तक कुमाऊँ एवं नेपाल के मध्य राजनैतिक स्थिति का प्रश्न है, वह भी काफी रोचक एवं महत्वपूर्ण है। कुमाऊँ का इतिहास सदैव नेपाल का इतिहास रहा है। किरातों द्वारा कुमाऊँ एवं नेपाल में समान रूप से राज्य करने का उल्लेख प्राचीन साहित्य व पुरातात्विक–साक्ष्यों में मिलता हैं। नेपाल में इसे किराती व राई

कहा जाता है। राई जाति की बहादुरी से प्रसन्न होकर गोरखा राजाओं ने इन्हें 'सुब्बा' की उपाधि से विभूषित किया था। राई की भांति 'खस' जाति ने भी कुमाऊँ व नेपाल में साथ–साथ राज्य किया था। इनके नाम से 'खसकुरी' भाषा की व्युत्पत्ति हुई थी। नेपाल में जिस लिच्छवी' नामक राजवंश ने शासन किया था, उस कुल की राजकुमार से गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम ने विवाह किया था, जिसका ज्वलंत उदाहरण उसके एक सिक्के से प्राप्त होता है, जिसमें राजा के साथ–साथ उसकी रानी कुमारदेवी का भी चित्र है और मुदालेख 'कुमारदेवी' के साथ–साथ 'लिच्छवयः' भी उत्कीर्ण है। प्रयाग स्तंभ लेख में समुद्र गुप्त को 'लिल्च्छवि दौहित्र' कहा गया है।

कुमाऊँ में चंद राजाओं के पूर्व जिन कत्यूरी राजाओं ने राज्य किया था, उनके वैवाहिक सम्बन्ध भी नेपाल से थे। कत्यूर में जब पारिवारिक विप्लव की स्थिति उत्पन्न हुई थी, तब कत्यूरियों की एक शाखा डोटी व दूसरी अस्कोट में जाकर बस गई थी। ऐसे ही पारिवारिक कलहों के समय कुमाऊँ के राजा व राजकुंअर भागकर नेपाल में शरण लेते थे और वहां के राजकुंअर कुमाऊँ में शरण लेते थे। अस्कोट के रजबार महेन्द्रपाल (1622 ई0) के पिता कल्याण पाल को उसी के दीवान गोपिया ओझा ने मार डाला और भागकर काली पार नेपाल चला गया। ऐसे ही चंद–खानदान के राजकुंअर कल्याण चंद (1730–46 ई0) ने भी पारिवारिक कलह के समय भागकर डोटी (नेपाल) में शरण ली थी, जिसे बाद में अनूप सिंह तड़ागी कुमाऊँ में लाया और उसे यहां का राजा बनाया।

सीरा में मल्लवंश, सोर में या ब्रह्म, चंपावत (काली कुमाऊँ) में 'चल्ल' व 'सिंह' नामान्त राजाओं का मूल स्थान भी नेपाल ही था। सीरा से मल्लों का प्राचीनतम अभिलेख 1353 ई0 तथा सोर के बमों का प्राचीनतम ताम्रपत्रभिलेख 1337 ई0 में प्राप्त हुआ है। अशोक चल्ल का गोपेश्वर त्रिशूल–लेख इनसे भी पुराना 1191 ई0 का है। इनसे प्रकट होता है कि अति प्राचीनकाल से ही कुमाऊँ में नेपाली मूल के राजाओं ने राज्य करना प्रारम्भ कर दिया था। सोर, सीरा, मणकोट आदि राज्यों को विजित करके ही कुमाऊँ के चंद राजाओं ने इस भू–भाग में चिरकाल तक शासन किया था। उन्हीं चंदों के भू–भाग में अंततः नेपाली गोरखों ने अपना अधिकार स्थापित कर लगभग 25 वर्षों तक प्रचंड, शासन किया था, जिनका 'नरसाही का मंगल', 'गोरख्योल', 'गोरखाराज' व 'गोर्ख्याणी आज भी कुमाऊँ व गढ़वाल में मारधाड़ व अराजकता के लिए स्मरण किये जाते हैं।

चंद राजाओं के मुस्लिम शासकों से सम्बन्ध–

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में बताया जा चुका है महमूद गजनवी के आक्रमण के फलस्वरूप ही चंदवंशी राजकुमार सोम चंद का कुमाऊँ में आगमन हुआ था। महमूद गजनवी के बाद यद्यपि मुहम्मद गोरी, तैमूर, नादिरशाह व अहमदशाह दुरानी (अब्दाली) ने भी भारत में आक्रमण किये थे, परन्तु उन्होंने सीधे कभी भी कुमाऊँ में आक्रमण नहीं किया। इतना अवश्य था कि उनके क्रूर हमलों से भयभीत होकर देश के मैदानी भागों के लोग भागकर इधर पर्वतों की शरण में अवश्य आते थे। कुछ जातियों को चंद राजा कन्नौज, बनारस, हरिद्वार, प्रयाग आदि स्थानों से इधर पर्वतों में लाकर बसाते थे, और कुछ जातियां मुसलमानों से भयभीत होकर स्वयं ही यहां आकर बस गईं। तैमूर ने शिवालिक की पहाड़ियों व हरिद्वार तक आकर लूटपाट अवश्य की, किंतु वह भी यहां नहीं आया। कुमाऊँ का तराई भाग (माल) ही सदैव मुस्लिम हमलावरों का केन्द्र–स्थल रहा था। रूहेले अवश्य कुमाऊँ में हमलावर बनकर पहुंचे थे, किंतु वे भी कुछ काल तक ही यहां रह पाये थे।

कुमाऊँ का पहला राजा गरूड़ ज्ञान चंद था, जो सर्व्रपथम दिल्ली के सुल्तान फिरोजशाह तुगलक के पास उसके दरबार में गया था। अटकिंसन महोदय के अनुसार यह सुल्तान या तो मुहम्मद–बिन–तुगलक था, या दौलतखां लोदी जो भी हो, सुल्तान ने ज्ञानचंद द्वारा प्रस्तुत की गई बहुमूल्य भेंटों से प्रसन्न होकर उसे 'गरूड' की उपाधि दी, और इसके साथ ही कुमाऊँ का तराई प्रांत भी उसे सौंप दिया। किंतु शीघ्र ही इस पर संभल के नवाब ने अधिकार कर लिया, जिसे बाद में पुनः उसे वापस करना पड़ा। ज्ञानचंद के पश्चात् माणिक चंद के समय खवास खां पर्वतों तक घुसता चला आया और यहां कुमाऊँ में राजा माणिक चंद ने उसके निर्वाह के लिए कुछ गांव उसे दिये थे। दिल्ली के सुल्तान इस्लाम शाह ने संभल के सूबेदार ताजखां को कुमाऊँ से खवासखां को पकड़वाने के लिये भेजा। खवासखां पकड़ा गया और सिरसी के पास उसकी हत्या कर दी गई।

रूद्रचंद के पश्चात् लक्ष्मीचंद ने मुगल बादशाहों से अपने मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। उसके समकालीन मुगल बादशाह अकबर एवं जहांगीर थे। लक्ष्मीचंद गढ़ नरेश के राज्य में तो बार–बार आक्रमण करता रहा, किंतु मुगल बादशाहों सदृश सशक्त विदेशियों के सम्मुख भीगी बिल्ली बनकर रहता था। इसी अर्थ में उसे 'लखुली विराली' उपनाम दिया गया था। अपने ही स्वजातीय राजाओं के विरूद्ध इनकी दिग्विजय भी होती थी, और अश्वमेघ भी। बहरहाल, उसने मुगल बादशाहों के समक्ष अपनी पैत्रिक 'जी हुजूरी' कायम रखी। वाकियाते–जहांगीरी का लेखक हमें बताता है कि रूद्रचंद की भांति लक्ष्मी चंद ने भी मुगल दरबार में अपनी फरशी सलामी व पायबोस अर्पित की थी। वह अपने साथ अनेक बहुमूल्य व दुर्लभ वस्तुएं व नकद धनराशि भेंट के रूप में ले गया था। इन भेंटों में 'गूंठ' नामक उत्कृष्ट पहाड़ी घोड़े, बाज व शिकरे, तलवारें व खांडे–खुकरियां शामिल थीं।

बाज बहादुर चंद के समय कुमाऊँ के तराई प्रदेश में मुगल बादशाह की शह पाकर कटेहरियों ने अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः उसने शाहजहां के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाया। इस अवसर पर वह अपने साथ चंवर, कस्तूरी, निरवीसी, घोड़े व खुकरी तथा सोने–चांदी के बर्तन बादशाह सलामत की खिदमत में ले गया। यही नहीं उसने गढ़–राज्य के विरूद्ध बादशाह का साथ भी दिया। बदले में बादशाह ने उसे 'कुमाऊँ का जमींदार घोषित किया और मुरादाबाद के सूबेदार रूस्तम खां व नवाब खलीलुल्ला खां की सहायता से उसे माल का प्रांत भी दिलवा दिया। शाहजहां के बाद औरंगजेब गद्दी पर बैठा। 1665 से 1673 के मध्य बाज बहादुर ने उसकी भी मित्रता स्वीकार कर ली। यही नहीं, भ्रातृघातक युद्ध में दाराशिकोह व सुलेमान शिकोह को भी कुमाऊँ में शरण लेने के लिये आना पड़ा था। परन्तु बाज बहादुर ने सुलेमान को शरण नहीं दी। फलतः उसे गढ़वाल के राजा के पास जाना पड़ा। बाद में गढ़ नरेश के पुत्र मेदिनी षाह ने विश्वासघात कर सुलेमान शिकोह को औरंगजेब को सौंप दिया और धोखे से औरगंजेब ने उसे दिल्ली बुलाकर मरवा डाला।

बाजबहादुर के पश्चात जगत चंद ने भी मुगल बादशाह बहादुरशाह के पास बहुमूल्य भेंटें भेजी थीं। बदले में दिल्ली पति शाह आलम बहादुर शाह ने उसके लिए फरमान व खिल्लत भेजी थी।

दिल्ली के सुल्तानों एवं मुगल बादशाहों के साथ कुमाऊँ के चंदवंशीय राजाओं के सम्बन्धों का पता सिक्कों से चलता है। कुमाऊँ में आज भी घर–घर, खास तौर पर पुराने मंदिरों में, तांबे के सिक्के मिलते हैं। इनमें उत्कीर्ण लिपि पर्शियन है, जो खरोष्ठी–लिपि की भांति दायें से बाईं ओर पढ़ी जाती है। चंद राजाओं के अभी तक अपने कोई सिक्के नहीं मिले हैं। कुमाऊँ में दाम, ढेपुना, टंका, रूपया, पैसा आदि प्रचलित रहे होंगे। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा प्रचलित जीतल व मुगल शासकों की मोहरें भी यहां प्रचार में रही थीं। अवध के नवाब मंसूर अली खां के सिक्के यहां रूहेलों द्वारा लाये गये थे। मुहम्मद–बिन–तुगलक के ताम्र–सिक्के भी यहां मिलते हैं। इनमें अग्रभाग पर 'मुहम्मद तुगलक' तथा पृष्ठ भाग पर सिकः जर खैज दर अहद बंद– अमीद्वार, मुहम्मद तुगलुक' उत्कीर्ण मिलता है।

सन् 1982 में गंगोलीहाट के कालिका–मंदिर के पास देवदार वृक्षों के झुरमुट के नीचे एक व्यक्ति को जमीन के अंदर घड़े में तीन सौ तांबे के सिक्के मिले थे, जिन्हें जिला प्रशासन द्वारा लखनऊ म्यूजियम में रखने हेतु भेज दिया गया था। ये तांबे के सिक्के सभी एक–से नहीं थे। कोई बड़ा था, कोई छोटा। मोटाई में भी ये काफी बड़े थे। इनमें जो लिखावट थी, वह भी एक सी नहीं थी। इनसे प्रतीत होता है कि ये अलग–अलग सुल्तानों द्वारा जारी किये गये थे, और रूहेलों द्वारा लाये गये मंसूरी सिक्कों के प्रचलन में आ जाने व उनकी लूटपाट से बचने के उद्देश्य

से इनके संग्रहकर्त्ता ने इन्हें जमीन में छिपा दिया था। लेखक को इनका अध्ययन करने का अवसर मिला। ये दिल्ली के सुल्तान एवं मुगलों के सिक्के थे। लक्ष्मीचंद के मूनाकोट ताम्रपत्र व जगत चंद के बरम तथा झिझाड़ (चंपावत) ताम्रपत्रों में रूपया व पेसे का उल्लेख मिलता है, जो निश्चय ही मुगलों के साथ चंदों के सम्बन्धों के प्रतीक है। चंदों के राज्य में दिल्ली के सिक्के प्रचलित थे।

अतः उपरोक्त समस्त प्रमाणों से ऐसा ज्ञात होता है कि चंद राजाओं के दिल्ली के सुल्तानों व बादशाहों के साथ राजनैतिक सम्बन्ध थे और अपने राज्य में उन्हीं की मुद्राओं से लेनदेन करते रहते थे। उनके समय में सैनिकों व अन्य राज कर्मचारियों को काम के बदले जमीन दी जाती थी, जिनसे सम्बन्धित ताम्रपत्र व कागज के पट्टे अभी तक मिलते रहते हैं। नकद लेनदेन कम ही होता था। कुछ सीमावर्ती गांवों में तिब्बती–सिक्के भी प्रचलन में रहे होंगे क्योंकि तिब्बती तांबे के सिक्के भी यत्र–तत्र प्राप्त हुए हैं। इनका यहां प्रचलन भोटिया व शौकाओं का तिब्बत के साथ व्यापार करना रहा था। गढ़वाल में अवश्य तीन राजाओं द्वारा सिक्के ढालने का उल्लेख मिलता है। ये तीन राजा हैं– फतेपतिशाह, प्रदीप शाह व प्रद्युम्न शाह। ये मुद्रायें लखनऊ संग्रहालय में रखी हुई है तथा हरिकृष्ण रतूड़ी व डा0 अजय सिंह रावत महोदय द्वारा इन्हें प्रकाशित कराये जाने का उल्लेख मिलता है। फतेपति शाही मुद्रा के पृष्ठभाग पर मुद्रा लेख 'बद्रीनाथ कृपया मुद्रा जयति राजते 1757 इस बात की ओर संकेत करता है कि यह मुद्रा बद्रीनाथ–मंदिर में चढ़ाने के लिए ढाली गई थी, क्योंकि बद्रीनाथ व केदारनाथ सदृश महान व सर्वोच्च पावन धामों में मुस्लिम शासकों के नामों वाले सिक्के चढ़ाना उचित प्रतीत नहीं रहा होगा। यही स्थिति अन्य दो राजाओं के परिप्रेक्ष्य में भी लागू होती है। तात्पर्य है कि कदाचित गढ़वाल में भी दिल्ली के सिक्के चलते होंगे।

चंदों का प्रशासन–

चंदों के इतिहास की भांति उनका प्रशासन भी कम रोचक नहीं हैं वस्तुतः चंदों का शासनकाल काफी दीर्घावधि तक रहा था, और इस अवधि में उन्हें डोटी, गढ़वाल, कमोबेश तिब्बत व दिल्ली के मुस्लिम शासकों के सम्पर्क में रहकर उनकी प्रशानिक व अन्य व्यवस्थाओं से अवगत होना पड़ा। उनके पूर्व भी इस भू–भाग में सिंहपुर, ब्रह्पुर, गोविषाण व कत्यूरी राजा शासन कर चुके थे, जिनके अभिलेखों में उस समय की शासन–पद्धति व प्रशासनिक नाम उत्कीर्ण मिलते हैं। बंगाल के पालों, कश्मीर के कर्कों–टकशासक ललितादित्य मुक्ता पीड़, प्रतिहार, चंदेल व गाहड़वाल शासकों की शासन पद्धति का उन पर अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। उनके प्रशासनिक नाम मुख्यतया दिल्ली के मुस्लिम शासकों द्वारा प्रचलित नामों की नकल हैं। यही नहीं, डोटी (नेपाल) में प्रचलित प्रशासनिक नाम भी चंदों के ताम्रपत्रों में उत्कीर्ण मिलते हैं।

चंद राजाओं ने उस युग में प्रचलित समस्त उपाधियां धारण की थीं। प्रतीत होता है कि उस युग में रजबार, सामंत राजा, सार्वभौम व अधिपति राजा प्रायः एक सी उपाधि (विरूद) धारण करते थे। जहां कत्यूरवंशी राजकुमारों की उपाधि 'रजबार' थी, वहीं चंदों के राजकुमार अपने नाम के पूर्व 'महाराज कुमार', 'कुंअर' व 'गुसाईं' लगाते थे। 'महाराजकुमार' नाम के पहले लगता था, जबकि 'कुंअर' व 'गुसाईं' नाम के अंत में प्रयुक्त होते थे। इनमें 'महाराजकुमार' व 'गुसाईं' प्रायः युवराजों के लिये प्रयुक्त उपाधि होती थी। अपवादस्वरूप, भारती चंद के जाख (बड़ालू–पिथौ0) ताम्रपत्र में पर्वतचंद के नाम के पूर्व 'कुंवर' लिखा है, और रतन चंद के नाम के अंत में 'कुंवर' मिलता है। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय चंद का बड़ा पुत्र पर्वत चंद था और रतन चंद छोटा, क्योंकि छोटे राजकुमारों को भी कुंवर व गुसाईं कहा जाता था। राजाओं की उपाधि 'श्रीराजाधिराज', 'राजाधिराज महाराजा श्री ज्ञानचंद', श्री राजा जगत चंद्र देव' 'श्री राजा गयान चंद्रदेव ज्यूं, 'श्री महाराजाधिराज श्री राजा लछिमन चंद देव', 'महाराजाधिराज श्री राजा बाज बहादुर चंद देव', 'महाराजाधिराज श्री राजा कल्याणचंद्र, बहादुर देव', आदि, आदि होती थी। जहां तक चंद नरेशों द्वारा अपने ताम्र शासनादेशों में प्रयुक्त की गई भाषा का प्रश्न है, वह नेपाली मिश्रित कुमाऊँनी थी, जिसे हम 'जन–भाषा' कह सकते हैं। इसका कारण था– जनमानस को अपने आदेशों से अवगत कराना। प्रारम्भिक चंद राजाओं के ताम्रपत्रों में भूमि–दान सम्बन्धी संस्कृत श्लोकों का उल्लेख भी मिलता है। यथा– 'स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेच्च वसुंधराम्। षष्टिर्वर्ष सहस्राणि विष्टायां जायते कृमिः।। चंदों के ताम्रपत्रों में कत्यूरी राजाओं के ताम्रपत्रों की भांति राजवंशावली नहीं मिलती है। केवल जगत चंद के बरम ताम्रपत्र में उसके पिता का नाम 'श्री राजा ग्यान चंद्र देव ज्यू' मिलता है, जो ताम्रपत्र के सबसे ऊपर दाईं ओर उत्कीर्ण हैं। 'कृष्ण' शुभ शब्द के बाद 'सही' और कटार की मूंठ का राज–चिन्ह उत्कीर्ण रहता है। इससे अनुमान लगता है कि ताम्रपत्र की वैधता को प्रमाणित करने के लिये हस्ताक्षर के स्थान पर कटार की मूंठ उत्कीर्ण कराने की प्रथा चंदों की देन है।

ताम्रपत्रों के उत्कीर्णकों को कहीं 'सुदार' तो कहीं 'सुनार' कहा गया है। इनमें 'सुदार' या 'सुतार' 'सूत्रधार' (ओड़ या राजमिस्त्री या लोहार) का अपभ्रंश रूप है, और 'सुनार' 'स्वर्णकार' के लिये प्रयुक्त हुआ है। ताम्रपत्रों के लेखक जोशी होते थे, जिन्हें प्रायः 'जोइसी' लिखा मिलता है। भारती चंद के लोहाघाट ताम्रपत्र में लिखित 'विप्रदास पंडितेन' उत्कीर्ण है,, तो शक्ति बम के वास्ते (अप्रकाशित) ताम्रपत्र में 'लिखितमिति दैवज्ञ मधुकरेण' उत्कीर्ण है। यहां पर 'दैवज्ञ' ज्योतिषी के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो 'ज्योतिषी' अथवा 'जोशी' के लिए ही प्रयुक्त माना जा सकता है। भारतीय चंद के खेतीखान ताम्रपत्र में लेखक को 'विप्र पुरोहित' तथा एक अन्य ताम्रपत्र में 'विप्रदास पंडित' व उत्कीर्णक को 'जैतु साहू' कहा गया है। ग्यान चंद

के गोबसा ताम्रपत्र में लेखक के लिये 'लिखित इंद पद्याकरेण' नाम प्रयोग में लाया गया है।

चंदों का राज्य प्रारंभ में केवल काली नदी की निचली उपत्यका तक ही सीमित था, किंतु बाद में उनके राज्य–विस्तार के फलस्वरूप तराई–भाबर (माल) का सम्पूर्ण क्षेत्र, सोर, सीरा दारमा–जोहार, ब्यांस–चौदांस, गंगोली–मणकोट व अल्मोड़ा जनपद का समूचा पश्चिमी भाग उसमें शामिल हो गया। यहां तक कि डोटी की राजधानी अजमेर गढ़ व जुराइल–दिवाइल कोट तक भी उन्होंने अपनी विजय–पताका फहराई थी। चंदों की प्रारम्भिक राजधानी चंपावत में थी, जो काली और चंपावती नदी के तट पर थी। बाद में यह अल्मोड़ा चली गई जहां कोसी नदी बहती थी। उनके ताम्रपत्रों में राजधानी के लिए 'बुंगा', 'रसजबुंगा', 'राजपुर' तथा 'राजधाई' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। राजमहल को 'चौमहल' कहते थे। अल्मोड़े के अलावा रूद्रपुर, काशीपुर व बाजपुर नामक नगर भी थे। जिनमें शीतकालीन राजधानियां बनी हुई थी। देवीसिंह के समय 'देवीपुर' भी राजधानी थी।

चंदों का शासन–तंत्र एक तरह का पंचायती राजतंत्र था किन्तु इसी के साथ निरंकुश राजतंत्र के भी उदाहरण मिलते हैं। वे अपने नाम के अंत में 'देव' विरूद धारण करते थे। यह ठीक वैसा ही विरूद था, जैसा मौर्य सम्राट अशोक अपने लिए 'देवानांप्रिय', कुषाण सम्राट चीनी पद्धति पर अपने को 'देवपुत्र' तथा बर्द्धन व राजपूत नरेश भी अपने नाम के अंत में 'देव' लगाते थे। अतः उन्हीं का अनुकरण चंद राजाओं ने भी किया। कत्यूरी राजाओं ने भी यह उपाधि धारण की थी। इसी कारण राजा अपने को देव–प्रतिनिधि समझते थे। राजा ही राज्य का सर्वोच्च शासक होता था। वही प्रधान न्यायाधीश भी था। राज्य की समूची भूमि उसके अधीन थी। जमीन को गूंठ, संकल्प या रौत में केवल राजा व युवराज ही दे सकते थे। पर्वत चंद, रतन चंद व त्रिमल चंद ऐसे ही राजकुंअर थे, जिन्होंने पिता के होते हुए भी जमीनें रौत या दान में दी थीं।

वाह्य युद्ध के समय राजा स्वयं युद्ध में जाता था, और उसके साथ युवराज, मंत्री, बक्सी (सेनापति), वैद्य, गुप्तचर आदि भी जाया करते थे। शांति–काल में वह राजदरबार में बैठकर प्रजा की शिकायतें सुनता तथा सभासदों के परामर्श से फैसला सुनाता था। दिल्ली के सुल्तानों व बादशाहों के सम्पर्क में आकर चंद राजाओं ने आखेट करना, मद्यपान करना तथा जुआ (पासा) खेलना भी सीख लिया था। राजा के चार व्यसन– आखेट, मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा व मल्ल–युद्ध ये सभी चंद राजाओं में थे। अपने मल्लविद्या–व्यसन के कारण ही सीरा के रैका राजा 'मल्ल' कहे जाते थे। युवराज का कार्य कामकाज में अपने पिता की सहायता करना होता था। राजा के बूढ़े व अशक्त हो जाने पर वही सेना का नेतृत्व करता था। रतन चंद व त्रिमल चंद इसके उदाहरण हैं। जब भी राजा किसी बहादुरी के लिये किसी व्यक्ति को जमीन

रौत में देता था, तो उसमें युवराज प्रथम गवाह होता था और कभी–कभी वही उस ताम्रपत्र को प्राप्तकर्त्ता के पास पहुंचाता था। राजा के बाद युवराज ही सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था। लक्ष्मी चंद की गढ़ देश के सीमावर्ती प्रदेश पर विजय त्रिमल चंद के सेनापतित्व में ही हुई थी। भारती चंद के समय जुमला, बजांग, सीरा व थल की विजय युवराज रतन चंद ने की थी। राजकाज में युवराज की सहायता करने के लिये युवराज–मंत्री होते थे। चंदों के दरबार में प्रायः जो अशान्ति छायी रहती थी, उसके जनक ये ब्राह्मण मंत्री ही होते थे।

चंद राजाओं के समय महरा व फर्त्याल उनके परामर्शदाता होते थे। इनके साथ ब्राह्मण व अब्राह्ण (देव, ढेक, करायत, धोबी, टम्टे, नाई आदि) जिन्हें ताम्रपत्रों में 'पौरी पन्द्रह विश्वा' कहा गया है, भी राजा के परामर्शदाता होते थे। इन्हीं महरा व फर्त्यालों के दो आलों में सारा चंद–दरबार निर्भर रहता था। इनके अलावा गुरू, पुरोहित, वैद्य, लेखक, ताम्र कट्टक, उत्कीर्णक भी राजदरबार में सम्मान पाते थे। जब जिस आल (दल) का बहुमत होता था, उसी की इच्छानुरूप बक्सी तथा दीवान का चयन होता था। दीवान प्रायः जोशी हुआ करते थे। जयकृष्ण जोशी, शिवदेव जोशी व हरक देव जोशी उत्तरवर्ती चंद नरेशों के बड़े विख्यात दीवान थे। 1765 ई0 के दीपचंद के सैण–मानुर पट्टाभिलेख में शिवदेव को 'बगसी' (बक्सी) कहा गया है। यहां से प्राप्त दीपचंद के समस्त पट्टों में मोहन चौधरी को लेखक कहा गया हैं 1746 ई0 में कल्याण चंद के समय बलिराम चौधरी लेखक था। 1760 ई0 में विजैराम साहू भी लेखक ही था। इनसे प्रतीत होता है कि ताम्रपत्रों के लेखक जोशियों के अलावा अन्य जातियों के लोग भी थे। 'दीवान' उपाधि प्रधानमंत्री के लिए प्रयुक्त होती थी। मंत्री और बक्सी वंश परंपरागत होते थे। शिवदेव के बाद हरक देव जोशी वंशानुगत दीवान बना था। दीवान के अलावा छोटे–छोटे मंत्री अथवा सचिव भी होते थे। इनकी संख्या अधिकतम दस होती थी, और इन्हें भूमि दी जाती थी। सचिवों में– पुरोहित, गुरू पंडित (ज्योतिषी), बक्सी, भंडारी, प्रहरी, सेज्याली (राजा की निजी वस्तुओं का संरक्षक), चौधरी, सुदार अथवा सूत्रधार तथा बिष्ट होते थे। इनके अलावा ताम्रपत्र तैयार करने के लिए तमोटा (टम्टा) व राजा की निजी जमीन जोतने के लिए हलवाहे भी इन्हीं के मध्य होते थे, और उन्हें भी काम के बदले जमीन दी जाती थी।

चंदकाल में समूचा राज्य–प्रशासन मंडलों में विभक्त था। मंडल दो प्रकार के थे– 1. सामंतों के अधीन, 2. राजा द्वारा शासित। मंडल–प्रशासन का उल्लेख चंदों के पूर्व बमों के समय में भी मिलता है। चंद राजा बड़े राजनीतिज्ञ थे, अतः उन्होंने जिन–जिन राज्यों की विजय की, उनके पूर्व शासकों को ही अपने अधीनस्थ सामंत के रूप में नियुक्त किया था। पृथ्वीचंद्र रजबार वालो कल्याणचंद का मणकोटी सामंत था। भारती चंद ने सोर से बमों को पराजित कर लेने के बाद भी विजय बम

को अपना अधीनस्थ सामंत बनाया था। सेरा–खड़कोट के ताम्रपत्र में ज्ञानचंद्र को राजा व विजय बम को विरूद रहित सामंत अंकित किया गया है। रतन चंद ने सीरा को विजित करने के बाद भी बसेड़ा राजपूत को वहां का सामंत बनाया था। यही कार्य पाली पछाऊं, चौगर्खा, बारामंडल, कत्यूर घाटी व तराई के प्रांतों में भी किया गया। सामंतों को 'राजा' व बारामंडल, कत्यूर घाटी व तराई के प्रांतों में भी किया गया। सामंतों को 'राजा' व 'रजबार' उपाधि धारण करने की छूट थी। ये सामंत राजा को वार्षिक कर दिया करते थे। युद्धकाल में ये राजा की सैनिक सहायता करते और स्वयं भी युद्ध–क्षेत्र में जाते थे। इन्हें 'ठक्कुर' भी कहा जाता था।

मंडलों के नीचे 'देश' होते थे। यथा– तल्ला देश, मल्ला देश, गुम देश, गुरूड़ देश, खरक देश, माल भाबर का देश, पर्वत डोटि का देश, आदि। शासन की छोटी इकाइयां परगने व गर्खे होते थे। परगने दो प्रकार के होते थे। एक, वे जो नागरिक अधिकारी के आधीन होते थे, दूसरे, वे जो सैनिक कमांडर (बक्सी) के अधीन होते थे। नागरिक परगने के अधिकारी को 'सीकदार' या 'सीरदार' कहा जाता था। जगत चंद्र के बरम–ताम्रपत्र में 'बगसी का परगना' का उल्लेख आया है। चंदों के समय अन्य परगने थे– 1. काली कुमाऊँ, 2. ध्यानीरौ, 3. चौभेंसी, 4. सोर, 5. सीरा, 6. फल्दाकोट, 7. धनियाकोट, 8. छखाता, 9. कोटली, 10. कोटाभाबर, 11. दानपुर, 12. दारमा–जोहार, 13. पाली पछाऊँ, 14. कत्यूर, 15. चौगर्खा। इने अलावा तराई भाबर में निम्नांकित परगने थे– 1. बगसी, 2. छीनकी, 3. माल, 4. बुक्साड़, 5. किलपुरी व 6. मंडिया। उद्योत चंद के समय माल का सीकदार जगन्नाथ बरै तथा सीरा का सीकदार गंगाराम था। इसी प्रकार जगत चंद के समय सीरा का सीकदार शत्रुशाल भंडारी तथा कुमाऊँ परगने का सीकदार शिवदेव बिष्ट था। बगसी का परगना माल (भाबर) में स्थित था, जिसे लछिमन चंद के मूनाकोट ताम्रपत्र में 'माल बगसी का परगना' कहा गया है। मुगलों के शासन में बक्सी सैनिक अफसर होते थे, जो शेष अधीनस्थ अधिकारियों व कर्मचारियों को वेतन चुकाते थे। अतः चंदों के समय भी सैनिक अफसर होने के नाते बक्सी की नियुक्ति माल के परगने में की जाती थी, क्योंकि वहां बाहरी आक्रमणों का खतरा था। संभवतः इनके आधीन छोटी–छोटी सैनिक टुकड़ियां भी रखी जाती थीं। इनका अपना कार्यालय होता था।

प्रत्येक परगने में एक खजांची, ताम्रपत्रों का लेखक व उत्कीर्ण सूत्रधार तथा धर्मिक सीकदार होता था। परगनों से प्राप्त समस्त नकद व अनाज के रूप में मिली मालगुजारी का प्रबंध सीकदार ही करता था। जिस स्थान पर ये वस्तुयें एकत्र की जाती थीं, उसे भंडार कहते थे, और उसके प्रभारी को 'भंडारी'। भंडारों में जमा अनाज को राजा के पास पहुंचाने के लिए 'कैनी' नामक खसियें होते थे, जिनका

खाने–पीने का खर्च पधान उठाते थे। उन्हें पधानों द्वारा बकरा, घी, चावल, आटा, नमक आदि दिया जाता था। जगत चंद के बरम ताम्रपत्र में सीरा के भंडार का उल्लेख है। जिस परगने की भूमि राजा द्वारा किसी को रौत में दी जाती थी, उसका हस्तांतरण करते समय परगने के सीकदार (सीरदार) को राजा के समक्ष उपस्थित रहना पड़ता था तथा ताम्रपत्र का गवाह वह भी होता था। कभी–कभी सीकदार ही प्रदत्त ताम्रपत्र को आदाता (डोनी) तक पहुंचाता था।

परगने गर्खों में विभक्त थे। काली कुमाऊँ व माल भाबर में जिन्हें पट्टी कहते थे, उन्हीं को सोर, सीरा तथा अन्य परगनों में 'गर्खे' कहते थे। ये देश से छोटे होते थे। जगत चंद्र के बरम ताम्रपत्र में सीरा परगने के अन्तर्गत 'पर्वत डोटी का देश' तथा उसके अन्तर्गत कसान के गर्खे का होना सूचित है। इसी प्रकार बाज बहादुर चंद के उर्ग ताम्रपत्र में सोर को परगना, उद्योत चंद के बड़ालू ताम्रपत्र में सोर को गर्षा (गर्खा) व लछिमन चंद के मूनाकोट ताम्रपत्र में उसे केवल 'गांव' कहा गया है। गर्खे के प्रशासक को 'नेगी' कहते थे। सोर का 'नेगी' शिरोमणि जोशी था। इससे ज्ञात होता है कि 'नेगी' पद–नाम था, न कि जाति–नाम। नेगी को 'नेग' यानी दस्तूर मिलता था।

गर्खे पुनः गांवों में विभक्त थे, जिनके प्रमुख अथवा मुखिया को 'सयाना' या 'बूढ़ा' कहते थे। दारमा–जोहार में ग्राम के मुखिया को 'बूढ़ा' कहते थे, तथा पाली–परगने व सल्ट क्षेत्र में उसे 'सयाना' कहा जाता था। इनसे छोटा 'थोकदार' होता था। बूढ़ा व सयाना अपने गांव के न्यायाधीश भी होते थे। जहां पर बैठकर ये पंचायत करते थे, उसे 'बूढ़ा चौंरा' कहा जाता था। काली कुमाऊँ में भी 'बूढ़ा' होते थे। इन्हें अपने अधीनस्थ गांवों से अनाज के रूप में 'दस्तूर' मिलता था। कल्याण चंद के 1746 ई0 के सैणमानुर पट्टाभिलेख से पता चलता है कि उस समय लछी गुसाईं मनराल वहां के सोलह गांवों का 'सयाणा' था। इनका मुख्य कार्य प्रधानों के मार्फत मालगुजारी वसूल करना होता था। प्रधान के अधीन फिर 'कोटाल' ओर 'पहरी' (प्रहरी) होते थे। कोटल का काम प्रधान के आधीन काम कर लगान–विषयक हिसाब–किताब रखना होता था। प्रत्येक गांव में प्रहरी (पौरी) भी होता था, जो गांव की चौकीदारी किया करता था। वही डाकिया भी होता था। वही राजा को देय 'गल्ला छहाड़ा' (उपज का छठवां भाग) भी वसूल करता था।

राजा सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। किसी भी देशद्रोही, उपद्रवी अथवा राजविरोधी को वही फांसी दे सकता था। फांसी ऊँचे पहाड़ में दी जाती थी, जिसे 'शूली का डाणा' कहा जाता था। इनके अलावा 'न्यौवाली' व 'बिष्टाली' नामक कचहरियां भी होती थीं। 'पंच नवीसी' नामक पंचायती–कचहरी भी चंदों के समय थी। इसी को 'चारथान' भी कहते थे। दंडाधिकारी को 'डंडै' कहा जाता था। विजय चंद्र के पाभैं ताम्रपत्र में कर्ण बिष्ट को 'डंडै' कहा गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति

'डाण' से हुई है, जो 'दंड' का ही अपभ्रंश रूप है। वह छोटे–छोटे झगड़ों के लिए अर्थ–दंड वसूल करता था, और बड़े अपराध के लिए अपराधी को स्वयं कारागार में डाल सकता था। फांसी की सजा पेड़ में लटकाकर तथा जीवित ही बोरों में डालकर नदी में बहाकर भी दी जाती थी। सीराकोट उस समय का कुख्यात कारागार था, जिसमें राजा दीपंचद व उसके दो पुत्रों को रखा गया था।

राजधानी में गुप्तचर प्रणाली स्थापित थी। गुप्तचरों के माध्यम से आंतरिक अशांति व बाह्य आक्रमणों की सूचना राजा को दी जाती थी। बाह्य हमलों के समय चंद राजा जासूसों को भी साथ ले जाते थे। जगत चंद के बरम ताम्रपत्र में बधानगढ़ की चढ़ाई के समय वीरेश्वर जोशी वैद्यकुड़िया के द्वारा जासूसी करने का उल्लेख मिलता है। गुप्तचरों का काम प्रायः वैश्यायें, परिव्राजक व राजवैद्य किया करते थे। गढ़वाल में फिकवालों (भिखमंगो) द्वारा भी गुप्तचरी की जाती थी। रनिवासों में महिला गुप्तचर होती थीं। राजदरबार में होने वाले तरह–तरह के षडयंत्रों का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर होते थे।

चंदों की कर–नीति–

कौटिल्य ने जिन सप्तांग राज्य सिद्धांत के अन्तर्गत सात अंगों का उल्लेख किया है, उनमें एक अंग कोष भी है। अतः स्पष्ट है कि कोई भी राज्य बिना कोष के नहीं चल सकता। इसी सिद्धांत को ध्यान में रखकर भारतीय राजाओं ने सदा से अपने पास एक भरपूर कोष रखने का नियम बनाया। कोष की सम्पूर्ति के लिए उपज का छठवां भाग किसानों से कर ठहराया तथा राज्य की भूमि से होने वाली तमाम वस्तुओं– जंगल, खान, जल, शराब आदि पर भी करों का निर्धारण किया। किंतु राजकोष को भरने के लिए भारत में भूमि एवं उसकी उपज ही सदा से एकमात्र प्रमुख साधन मानी जाती रही है। इसी सिद्धांत का परिपालन कर चंद राजाओं ने भी प्रजा पर तरह–तरह के कर लगाकर अपना राजकोष भरा था। इसके अतिरिक्त विजित प्रदेशों से लूट के माल ओर संधि के फलस्वरूप प्राप्त धन से भी राजकोष की पूर्ति की जाती रही।

चंदों के समय जमीन का वास्तविक स्वामित्व राजा में निहित था। प्रजा उसकी खाय कर थी, और तब तक राज्य की भूमि पर अपनी आजीविका चला सकती थी, जब तक राजा उसे चाहे। राजा 'रौत', 'गूंठ' अथवा 'विष्णुप्रीति' में जिसे जमीन देता था, वह 'थातवान' कहलाता था। 'थात' का तात्पर्य हुआ 'जमीन'। 'खायकर' (खाई हुई जमीन पर 'कर' देने वाला) व 'सिरतान' ये दोनों शब्द चंदों के समय के हैं। खायकर अनाज तथा नकदी दोनों देता था। 'सिरतान' उस आसामी

का नाम था, जो नकद टैक्स या कर देता था। थातवान उसे जब चाहे, हटा सकता था। इनके अलावा पहाड़ों में 'कैनी' भी होते थे, जो एक तरह के भू–दास कहे जा सकते हैं। ये घटिया किस्म के खस होते थे। राजा जब कोई भी जमीन किसी व्यक्ति को उसकी बाहदुरी के लिये 'रौत' (पुरस्कार) में देता था, तो उस जमीन में पहले से रह रहे किसानों को निकाला नहीं जाता था, वरन् उन्हें नये 'थातवान' के आधीन उसका 'कैनी' बनना पड़ता था। नया थातवान उनसे अपनी जमीन में काम कराता था, और थातवान की जमीन का उपभोग करने के बदले थातवान उनसे तरह–तरह के काम लेता था। उदाहरणतया, परगनों के भंडारों में जमा राजकर (अनाज का छठा भाग या गल्ला छहाड़ा) कैनी खसों के द्वारा ही राजधानी में पहुंचाया जाता था। थातवान को दी गई जमीन के ताम्रपत्र में राजा लिखवा देता था कि 'घरकुड़ी' वन छोड़कर' शेष जमीन दी जाती है। कैनी खेत में काम करने वाले गुलाम थे। कैनी की ही भांति 'छ्यौड़ा' होते थे, ये घरेलू नौकर होते थे। दासियों को छ्योड़ी कहा जाता था। अस्कोट के रजबार छयौड़ों को 'सेवक' व विश्वा' कहते थे तथा थातवान से इनके लिये भी टैक्स वसूलते थे।' महेन्द्रपाल रजबार ने 'साहू' 'सोल' 'सेवक' 'पौरी' 'डड़ैं' नामक कर भी प्रजा से लिये थे। यहां 'डड़ै' शब्द दण्डाधिकारी के बजाय डांड़ यानी डोली या पालकी ढोने वाले के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि 'कैनी' ही राजाओं की पालकी ढोने का काम भी करते थे। यहां पर यह बात स्मरणीय है कि अंतिम कत्यूरी नरेश वीरदेव ने जब सत्राली के ब्राह्मणों से जबरदस्ती अपनी पालकी ढोवाई थी, तो उन्होंने क्रोधावेश में आकर राजा को पालकी सहित पहाड़ से नीचे फेंक दिया था। पहाड़ों में जिसे 'डंड़ै' कहा जाता था, उसी को देश के मैदानी भागों में 'कहार' कहते थे।

चंद राजाओं के समय 36 किस्म के राजकर होते थे, जिन्हें 'छत्तीसी' कहते थे। इन्हें थातवान परगनाधिकारी, 'सीरदार' या 'सिकदार' के मार्फत राजकोष में जमा करते थे। परंपरानुसार उपज का छठवां भाग ही कर के रूप में लिया जाता था, जिसे 'गल्ला छहाड़ा' कहते थे। यह कर अनाज एवं नकद दोनों रूपों में लिया जाता था। जगत चंद के बरम ताम्रपत्र में भूमि का नकद कर निर्धारण करते हुए स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि संबन्धित भूमि प्राप्तकर्त्ता से 6 बीसा जमीन के 30 पैसे कर के रूप में लिये गये थे। इस हिसाब से एक बीसा जमीन का 'कर' मात्र पांच पैसे हुए। यहां पर 'बीसा' शब्द बीस 'नाली' के लिये प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि कल्याणचंद के लखनऊ संग्रहालय ताम्रपत्र नम्बर E-73 में 'नाली' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो लगभग दो किलो अनाज के बराबर माप रखती थी। 'नाली' दो प्रकार की थी। कत्यूर में यह बड़ी थी, और सोर में उसके ठीक आधा। इसी से यह किस्सा चल पड़ा था– 'सोर की नाली कम्यूर को मानू, ज्वे जै छुली खसम जै नानु'। जॉन–विकेट ने 1872 में कत्यूर की नाली को ही पैमाना मानकर भूमि का बंदोबस्त किया था। ज्ञात होता है कि सभी प्रांतों में 'कर' एक–सा नहीं था।

http://doud.ac.in

माल–भाबर (माल–पर्वत) में यह अधिक था, और पर्वतीय भागों में कम। इससे यह भी स्पष्ट है कि चंदों के समय पैसे का क्रय–मूल्य काफी अधिक था और उपभोग्य वस्तुयें सस्ती थीं।

भूमि की माप नाली, ज्यूला, विशा, अधालि, पालो, मसा आदि से होती थी। बीस नाली जमीन लगभग एक एकड़ क्षेत्र के बराबर होती थी। ऐसे ही एक मसा दो किलो से कम माप को होता था। ज्यूला दस कुंतल के बराबर होता था। अधाली लगभग पंद्रह किलों का होता था। भूमि–कर के अलावा निम्नांकित कर भी प्रजा से लिये जाते थे–

1. **ज्यूलिया**– यह नदी के पुलों पर लगता था। इसे 'सांगा' भी कहते थे।
2. **सिरती**– यह नकद कर था, और प्रायः माल–भाबर व भोटिया व्यापारियों से वसूला जाता था। इसी से 'सिरतान' शब्द की व्युत्पत्ति हुई।
3. **बैकर**–अनाज के रूप में।
4. **राखिया**– इसे 'रछया' भी कहा जाता था ओर सावन के महीने रक्षाबंधन व जनेऊ–संस्कार के समय वसूला जाता था।
5. **कूत**– नकद के बदले दिया गया अनाज।
6. **भेंट**– राजा व राजकुमारों को दी जाने वाली भेंट
7. **मांगा**– युद्ध के समय लिया जाने वाला कर।
8. **साहू**– इसे 'साउलि' कहा जाता था। यह लेखक को देय कर होता था।
9. **रंतगली**– यह भी लेखक को देय कर था। इसका उल्लेख मूनाकोट ताम्रपत्र में हुआ है।
10. **खेनी–कपीलनी**– कुली बेगार।
11. **कटक– सेना के लिये लिया गया कर।**
12. **स्यूक**– राज सेवकों के लिये लिया जाने वाला कर।
13. **कमीनचारी– सयानचारी**– किसानों से लगान वसूल करने वालों व सयानों को देय कर।

http://uou.ac.in

14. **सीकदार नेगी**– परगनाधिकारी को देय कर। लछिमन चंद के मूनाकोट ताम्रपत्र में इसके लिये दो रूपया कर ठहराया गया है। यह कर पूरे गांव से लिया जाता था।

15. **गर्खा नेगी**– गर्खाधिकारी को देय कर। इसका उल्लेख भी मूनाकोट ताम्रपत्र में हुआ है।

16. **कनक**– मूनाकोट ताम्रपत्र में इसका भी उल्लेख हैं यह शौका व्यापारियों से स्वर्ण धूल के रूप में लिया जाता था।

17. **हिलयानि–अधूल**– इसका उल्लेख सिंगाली ताम्रपत्र में है। बरसात में सड़क़ों की मरम्मत के लिये लिया जाता था।

18. **डाला**– गांव के सयाने को अनाज के रूप में दिया गया दस्तूर।

19. **मिझारी**– कामगारों से लिया जाने वाला कर। इसे बाद में गोरखों ने भी लिया था।

20. **तान या टांड**– यह कर सूती एवं ऊनी वस्त्रों के बुनकरों से लिया जाता था।

21. **घी कर**– घी बेचने वालों से लिया जाता था।

22. **मौ–कर**– हर परिवार पर लगा हुआ कर।

23. **भात–कर**– बड़े–बड़े उत्सवों में भात की दावत पर लगा कर।

24. **गाय चराई**– इसे तराई भाबर में गाय चराने वालों से लिया जाता था।

25. **भैंस कर**– ट्रेल के अनुसार यह प्रत्येक भैंस पर चार आना सालाना की दर से लिया जा सकता था।

26. **व्यापार कर**– यह बुनकरों से लिया जताा था। नमक, कस्तूरी पर भी यह लगता था।

27. **खानों पर कर**– आगरी सोना (तांबा निकालने वालों) से लिया जाता था।

28. **जंगलात कर**– जंगलों का उपयोग करने वालो से लिया जाता था।

29. **न्यौंवाली कर**– न्याय पाने के लिये दिया गया कर।

30. **जगरिया**– जागर लगाने वाले पुजारी ब्राह्मणों से लिया जताा था।

http://uou.ac.in

31. **रोल्या–देवल्या**– राजपरिवार के देवी–देवताओं की पूजा के नाम पर लिया जाता था। बलि या भोजन के लिये बकरे भी लिये जाते थे।

32. **भाग**– यह कर घराटों पर लगता था।

उपरोक्त करों के अलावा चंद राजाओं के ताम्रपत्रों में निम्नांकित करों का भी उल्लेख मिलता है। ये हैं–

1. **पहरी या पौरी**– राजधानी व प्रमुख गांवों की रखवाली करने वाले को देय कर।

2. **बखरिया**– राजा के सईस के लिये देय कर। मूनाकोट ताम्रपत्र में बखरिया को दो रूपया कर देने का उल्लेख है। यह प्रत्येक गांव से लिया जाता था।

3. **घोड़यालों– राजा के घोड़ों के लिये देय कर।**

4. **कुकुरयालो**– राजा के कुत्तों के लिये देय कर।

5. **बाजदार**– महाजन को देय कर।

6. **बजनिया**– राजा के नर्तकों व नर्तकियों के लिये लिया जाता था। यही नगाड़े व दुंदुभी बजाने वालों के लिये भी होता था।

7. **चोपदार**– यह कर राजा की व्यक्तिगत वस्तुओं, यथा–तलवार–ढाल आदि को ढोने वालों के लिये लिया जाता था।

इनके अतिरिक्त महर, ओड़, नेलिया तथा तपनीय नामक कर भी लिये जाते थे। राजा जो जमीन संकल्प, रौत या विष्णु–प्रीति (गूंठ) में देता था उसमें संबन्धित ताम्रपत्र अथवा पाटोपत्र में जमीन के स्वामित्व व उसमें पहले से रह रहे लोगों की सम्पत्ति आदि का उल्लेख कर देता था। 'नाट–नठाली' की जमीन प्रायः राजा की होती थी। इसे 'औताली' भी कहा जाता था। ताम्र शासन में राजा स्पष्ट उल्लेख करवा देता था कि भूमि प्राप्तकर्त्ता व्यक्ति से सभी प्रकार के 'कर तोड़ दिये गये हैं और वह सब प्रकार के 'द्वन्द्व' से विशुद्ध है। उस जमीन का उपयोग राजा व उसके वंशज करायेंगे तथा प्राप्तकर्त्ता के वंशज भोगेंगे। कोई व्यक्ति किसी प्रकार का वचन भंग न करे अथवा दी गई जमीन को न छीने, इसके लिये भूमि–सम्बन्धी संस्कृत श्लोकों का भी ताम्रपत्रों में उल्लेख कर दिया जाता था।

समाज एवं संस्कृति–

चंदों के समाज का वही परम्परागत ढांचा था, जो देश के मैदानी भागों में था। किंतु चंद राजाओं के अभी तक जितने भी ताम्रपत्र, पट्टे, मंदिर एवं अन्य अभिलेख सम्बन्धी दस्तावेज मिले हैं, उनमें कहीं और किसी में भी चतुर्वर्णीय समाज का उल्लेख नहीं मिलता है। चंद राजा स्वयं चंद्रवंशीय राजपूत थे। उनके समय में देश के मैदानी भागों में राजपूत राजाओं का ही शासन था। वे सूर्य व चंद को अपना मूल–पुरूष मानते थे ओर सूर्यवंश व चंदवंश नाम से अपना मूल प्रतिस्थापित करते थे। डा0 दिनेश चंद्र सरकार द्वारा संपादित 'सलेक्ट इंशिक्रप्संस', जि0 2, पृ0 218 में तालेश्वर (मल्ला चौकोट–अल्मोड़ा) से प्राप्त ताम्रपत्र में पौख वंशी राजा द्युतिवर्मन का उल्लेख मिलता है, जो अपने को 'सोम–दिवाकर–अन्वयः' तथा 'पर्वताकर राज्य' का 'परम भट्टारक–महाराजाधिराज' कहता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि वह माता पिता की ओर से चंद व सूर्यवंश से सम्बन्ध रखता था। इसी तरह इसी ग्रंथ के 269 पृष्ठ पर कार्तिकेयपुर (कत्यूर) के राजा ललित शूरदेव का उल्लेख है, जो अपने को 'परम माहेश्वर' (शिव का परम भक्त) कहता है। इससे प्रतीत होता है कि पूर्व–मध्यकाल में पर्वतीय भागों में जो भी राजा राज्य करते थे, वे उस समय के मैदानी राजाओं के ही चरण–चिन्हों पर चलते थे, और उनका संपर्क मैदानी भागों व वंशावली–लेखकों से बराबर बना रहता था। बंगाल के पाल नरेश नारायण पाल के बादाल अभिलेख का उत्कीर्णक (सूत्रधार) विष्णुभद्र व ललित शूर देव के ताम्रपत्र का उत्कीर्णक गंगभद्र एक ही कुल व वंश के प्रतीत होते हैं, और ललितशूर देव (854 ई0) तथा नारायणपाल (855–910 ई0) का समय भी एक सा था। कुमाऊँ में आज जो भी जातियां रहती हैं वे कभी बंगाल, बिहार व कन्नौज की मूल निवासी थीं। उदाहरणतया कोशियारी राजपूतों का मूल निवास बंगाल स्थित कोशिया नदी का तटवर्ती भाग था। कापड़ी नामक ब्राह्मण भी मूलतः बंगाल के ही थे। मुरारी नामक ब्राह्मणों का उल्लेख गया के शीतला मंदिर पर उत्कीर्ण अभिलेख में मिलता है। इसमें उन्हें 'द्विज श्रेष्ठ,' कहा गया है। इसी प्रकार अन्य अनेक आर्य जातियां देश के मैदानी भागों से ही यहां आकर बसी हुई हैं। यहां अधिकांश जातियां राजस्थान से आकर बसी हुई हैं। कत्यूरी राजाओं का मूल स्थान भी राजस्थान ही था। 'नाली' का सर्वप्रथम प्रयोग तमिल–साहित्य में मिलता हैं। इन विभिन्न जातियों का यहां आगमन राजाओं द्वारा लड़े गये युद्धों, गया, बनारस, गढमुक्तेश्वर, प्रयाग, हरिद्वार, केदारनाथ व बद्रीनाथ में की गई तीर्थ–यात्राओं व कन्नौज आदि जगहों से मंगाये गये ब्राह्मण–लेखकों व ज्योतिषियों के द्वारा हुआ था। कुमाऊँ के चंदवंशी व गढ़वाल के पंवार राजा स्वयं मैदानी भागों से यहां आये थे। वे दोनों ही राजकुंअर थे। वे अकेले नहीं आये, वरन् उनके साथ अनेक अन्य लोग भी यहां आये, और बाद में यहीं के होकर रह गये।

विवेच्य युग में जोशी व पंत नामक ब्राह्मण महाराष्ट्र से यहां आये थे। ये यहां सीधे नहीं आये। इन्हें नेपाल का मल्लवंशीय राजा यक्षमल्ल बनारस से नेपाल में पशुपतिनाथ मंदिर का पुजारी बनाने के लिये ले गया था, और कालांतर में डोटी से ही इन ब्राह्मणों का इधर कुमाऊँ में आव्रजन हुआ था। जोशी नामक ब्राह्मण का प्राचीनतम उल्लेख बत्यूली (मुवानी–पिथौरागढ़) से प्राप्त 1275 शक संवत् (1353 ई0) के एक ताम्रपत्र में हुआ है। इसमें रत्तु जोशी को 3 पला जमीन देने का वृत्तांत उत्कीर्ण है। जोशी ब्राह्मण पुजारी ही नहीं, लेखक व ज्योतिष–शास्त्र के ज्ञाता भी थे। कुमाऊँ में निवसित जातियों की पहचान उनके नाम, रंग–ढंग, शारीरिक बनावट व रहन–सहन की संस्कृति से की जा सकती है। इस दिशा में मानव–शास्त्र अथवा नृतृत्त्व–विज्ञान हमारी सहायता करता है। आर्य जातियों के बाल नरम, कपाल लंबा, मुंह व नाक लंबी, शरीर व सिर भी लंबा होता है। रीढ़ की हड्डी भी पतली होती है। आर्य–नस्ल के लोग बुद्धिमान अधिक होते हैं। इसके विपरीत मंगोल व द्रविड़ (भूमध्य सागरीय)– नस्ल के लोगों का सिर गोल, बाल सख्त, कपाल चौड़ा, गाल की हड्डिया उभरी हुई तथा शरीर गठीला व छोटा होता हैं इनके अलावा यहां एक तीसरी नस्ल के लोग भी मिलते हैं। यह नस्ल बाहर से आई हुई आर्य–जातियों व यहां की मूल जातियों– किरात, नाग व खस– के अनुलोम व प्रतिलोम विवाहों के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई थी। यही कारण है कि यहां शुद्ध आर्यों के अलावा मिश्रित नस्लों के लक्षण भी देखने को मिलते हैं।

प्राचीन अभिलेखों व भूमि–सम्बन्धी सनदों में जो नाम मिलते हैं, उनसे यहां की मूल जातियों व आव्रजक जातियों का पता चलता है। खसों व नागों के नाम महाप्राणांत हैं। पथा–हुति, हुमति, बनेचर, थुड़, गस्ती, देसट, आसल, सुहड, सिंगण, नाग, भागू, चिंडा, बिंडा, बस्तिर, बल्तिर, बीजड़, जीजड़, जाजड़, जड़, कलसू, जाहल, आदि इसके विपरीत आर्य जातियों के नाम संस्कृत से निस्सृत मिलते हैं, जो प्रायः देवी व देवताओं के नामों से साम्य रखते हैं। असंभव नहीं कि अनार्य जातियों के नाम भी उनके देवी–देवताओं के नामों के आधार पर ही रखे गये होंगे। इनमें 'ऐड़ी' व 'घुरूड़िया' वे देवता हैं, जो यहां के प्राचीनतम देवता हैं, और आज भी इनकी पूजा होती है। ये दोनों ही देवता पशुचारकों द्वारा पूजे जाते हैं। घुरूड़िया की पूजा ज्येष्ठ के महीने में होती है। इसे 'ग्वाल–देवता' कहा जाता है। यहां यह बात विशेष ध्यातव्य है कि कुमाऊँ व गढ़वाल में आज जितनी भी जातियां हैं, उनमें अधिकांश राजस्थान से आई हुई हैं। ओझा नामक ब्राह्मण कत्यूरी राजाओं के समय में यहां आए। बाद में अस्कोट के रजवारों के 'दीवान' बन गए। बसेड़े राजपूत राजस्थान के बांसवाड़ा से आये। कुमाऊँ गढ़वाल की 'रावत' नामक राजपूत जाति कत्यूरी राजाओं के समय यहां आई। राजस्थान के लालराई स्थित शांतिनाथ के मंदिर–लेख (1176 ई0) में राजपूतों को 'राजपुत्र' व 1595 ई0 में प्रतागढ़ ताम्रपत्र में 'रावत' जातीय राजपूत को 'महारावत' (महाराजा) कहा गया है। 1287 ई0 के

वीरसिंह देव के ताम्रपत्र में कतियोर (कत्यूर) का उल्लेख है। इसी में 'परगने' का भी अंकन है। यह भी बड़ी विचित्र–सी बात है कि कत्यूरी राजाओं के नामों व राजस्थान से प्राप्त अनेक राजाओं, रानियों व राजकुमारों के नामों में बहुत बड़ा साम्य है। यहां के भाचेड़ी–बावली लेख (1382 ई0) में पहले–पहल 'बड़गूजर' शब्द का प्रयोग मिलता है। चंद राजा विजय चंद्र का श्वसुर भी बड़गूजर था। इसमें बड़गूजर वंश के राजा आसलदेव का नाम उत्कीर्ण है। बास्ते ताम्रपत्र में भी आसलदेव, सुहड़देव व सिहड़देव के नाम मिलते हैं, जो यहां बम राजाओं से पूर्व खस राजा थे। कुमाऊँ के 'गहतोड़ी' ब्राह्मण भी राजस्थान से ही आये थे।

कुमाऊँ के चतुर्वर्णीय समाज में ब्राह्मणों के तीन वर्ग मिलते हैं– चौथानी, पंच बिड़िया तथा खस–ब्राह्मण, जिन्हें स्थानीय भाषा में 'पितलिया' ब्राह्मण कहते हैं। इनमें चौथानी ब्राह्मण तो देश के मैदानी भागों व डोटी से यहां आये थे। इन्हें चंद व कत्यूरी राजा अपने साथ लाये थे। इस तरह ओझा राजस्थान से आये। महेन्द्रपाल रजबार के सिंगाली ताम्रपत्र (1322 ई0) में भूमि प्राप्तकर्त्ता रघुनाथ ओझा को 'त्रिविक्रम सिंह' कहा गया है, जो विष्णु के वामनावतार की ओर संकेत है। राजस्थानी ब्राह्मणों के लिये ताम्रपत्रों में 'ठक्कुर' लिखा मिलता है। इस अर्थ में 'त्रिविक्रमसिंह उनकी सम्मान सूचक उपाधि रही होगी। जोशी, सिमल्टिया पांडे, पंत, द्यौलपलिया पांडे, सौंज्याल बिष्ट व तिवाड़ी इसी प्रथम श्रेणी के ब्रह्मण रहे होंगे। गढ़वाल में इन्हें बारथानी' या 'सरोला ब्राह्मण' (रसोइया ब्राह्मण जिन्हें राजाओं से मान्यता प्राप्त थी। कहा जाता है। दूसरी श्रेणी के ब्राह्मण संभवतः उतने शिक्षित व समुन्नत न थे। तीसरी श्रेणी के ब्राह्मण संभवतः खसों के मध्य उभरे और उन्हीं का पौरोहित्य करते थे।

राजपूत भी दो प्रकार के थे। पहले वे जो आर्य–राजपूत थे और बाहरी भागों से यहां लाये गये थे। चंद राजा स्वयं इस श्रेणी के राजपूत थे। बाह्यागत राजपूत अपने को सोमवंशी व सूर्यवंशी बताते थे। दूसरे राजपूत खस–राजपूत थे, जो यहीं के मूल निवासी थे। वैश्य–वर्ग के लिये यहां 'साहू' का उल्लेख मिलता है। ये भी प्रायः बाहरी इलाकों से यहां आये थे। चौथे वर्ण में विभिन्न जातियों का उल्लेख मिलता है, जो शिल्पकर्म से सम्बन्ध रखते थे। इन्हीं में से मंदिरों के निर्माता व ताम्रपत्रों के उत्कीर्णक (सुतार, सुदार या सूत्रधार) होते थे। बड़ीपोल (उदयपुर–राजस्थान) की छत में एक लेख खुदा हुआ मिला है, जिसमें सुथार मुकन्द राम के लड़के ने यह लेख उत्कीर्ण किया था। इसमें 'सुथार' और 'सुतार' ये दोनों शब्द उत्कीर्णक के लिये प्रयुक्त हुए हैं। कुमाऊँ में उत्कीर्णक का काम सुनार व टमटे करते थे। इस वर्ग के अंतर्गत कुछ ऐसी जातियां थीं, जिनका राजपरिवार से सीधा सम्बन्ध होता था। 'पौरी पन्द्रह विश्वा' में समस्त जनसामान्य समा जाते थे। राजकोली राजपरिवार के लिये कपड़े बुनते थे। टम्टे ताम्रपत्र बनाकर उन्हें उत्कीर्ण

करने का काम करते थे। पौरी राजमहल की चौकीदारी करते थे। चंद राजाओं ने समाज के जिस वर्ग को जो काम सौंपा था, उसी काम के आधार पर उस व्यक्ति का जाति–नाम बना डाला था। फुलेरिया, पनेरू, दुर्गापाल, मठपाल, कांडपाल, मटियानी, सांका, बखरिया (रईस), कफलिया, भंडारी, सुनार, लोहार, नाई आदि सब ऐसे ही नाम हैं।

पर्वतीय समाज पूर्वकाल से ही जातीय राग–द्वेष आदि से विरत रहा है। चंद राजाओं के समय का समाज सम्पन्न व पारस्परिक सहयोग, अनुराग, कार्य व कर्त्तव्य बोध से परिपूर्ण था। ललितशूर देव के पांडुकेश्वर ताम्रपत्र–अभिलेख में यहां के समाज को 'अष्टादश प्रकृति' कहकर उसकी प्रशंसा की गई है। इस अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि 9वीं सदी में यहां खस, किरात, द्रविड़, कलिंग, सोर, हूण, ओड़, मेद, आंध्र व चांडाल सदृश जातियां थीं, और ये सभी ललितशूर देव की प्रकृति (प्रजा) थीं। यहां नागों की भी अनेक जातियां थीं, जिनमें 'सोर' नामक नाग जाति विशेष उल्लेखनीय थी। पिथौरागढ़ जनपद का पुराना नाम 'सोर' ही था, जिससे प्रतीत होता है कि कुमाऊँ के इस भाग में 'सोर' नागों का प्रभुत्व था। चंपावत (पर्वतीय अहिच्छत्रपुर) में उस काल में 'नव नाग' राज्य करते थे। वहां के एक सूर्य मंदिर की शिला पर जयनाग के पुत्र शंभुनंदि द्वारा सूर्यमंदिर का निर्माण करने का उल्लेख मिलता है। इसी क्षेत्र से शक–कुणीन्दों के सिक्के तथा अन्य पुरातात्विक वस्तुयें भी उपलब्ध हुई हैं। सिक्के तांबे के हैं। पिथौरागढ़ के दक्षिण–पश्चिम में थरकोट–बलकोट नामक गांव में एक मंदिर है, जिसकी एक शिला–प्रकोष्ठ पर राजा का स्थापत्य चित्र हैं, वह शक वेश में है। उसके बाल कंधों तक लटके हैं और हाथ में तलवार है। राजा स्थानक मुद्रा में संभंग खड़ा है। वहीं पास में स्थित एक नौले में भी एक स्त्री प्रतिमा उत्कीर्ण है। वह 'सालभंजिका मुद्रा' में वृक्ष की डाल पकड़े हुए खड़ी है। यह इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का प्रतीक है। बौधाचल, असुर चला, बौधान आदि बौद्धों के प्रतीक हैं। अस्कोट के पास सिंगाली में अभी बौद्ध–मठ हैं। मंदिरों को 'मठ' या 'मोड़ा' कहने का रिवाज बौद्ध मठ से प्रारंभ हुआ। बौद्धों के बज्रयान, मंत्रयान व काल चक्रयान का प्रभाव यहां के गोरखपंथी समाज में आज भी देखने को मिलता है।

चंद काल में कुमाऊँ के प्रत्येक भाग में कत्यूरी–शैली के मंदिरों की अनुकृति पर विभिन्न स्मार्त देवी–देवताओं के मंदिर बने थे। स्मार्त देवताओं में विष्णु, महेश, गणेश मयूर वाहन कार्तिकेय, सूर्य, रेवन्त, हयग्रीव, कृष्ण, बलराम आदि की मूर्तियां व मंदिर प्रमुख हैं। चंद राजा स्वयं शिव के उपासक थे। चंद राजाओं द्वारा बनाये गये मंदिरों में चंपावत का नागनाथ व अन्य मंदिर; अल्मोड़ा के रत्नेश्वर, सोमेश्वर, कपिलेश्वर, दीपचन्द्रेश्वर, भैरव, क्षेत्रपाल, बागेश्वर, गरूड़ का गरूड़ेश्वर, आदि प्रमुख हैं। त्रिमल चंद ने जागेश्वर में भी मंदिर बनवाये थे। बागेश्वर का शिव मंदिर मूलतः

कत्यूरी राजाओं द्वारा बनाया गया था किंतु 1602 ई0 में इसका जीर्णोद्धार लक्ष्मीचंद ने किया था। बैजनाथ के मंदिरों में लक्ष्मीनारायण का मंदिर चंदों ने बनवाया था। पिथौरागढ़ में दिडनस कासनी, मसोली, नकुलेश्वर, चौपाला, डीडीहाट के पास मढ़ का सूर्य मंदिर, रामेश्वर, बूढ़ा केदार आदि के मंदिर भी चंदों ने बनवाये थे। कासनी में पंचायतन प्रकार के मंदिर आज भी दर्शनीय हैं। यहां के लक्ष्मी मंदिर में सदैव एक नाग निवास करता है, और लेखक को चित्र उतारने में बड़ा भय लगा था। दो हाथ–गदा–देवी व चक्र–पुरूष के शीर्ष पर विराजमान हैं। विष्णु के अगल–बगल उनकी दो पत्नियां– राज्ञी और निक्षुभा–उत्कीर्ण हैं। पादपीठ पर अनुचरों के चित्र व ऊपर आकाश में उड़ते गन्धर्व व विद्याधर हैं। गंधर्वों के हाथों में मालायें व मृदंग हैं। विष्णु के गले में वैजयंती माला, बाजुओं में केयूर व हृदय स्थल में 'श्रीवत्स' चिन्ह हैं। हृदय में ही पद्मराम मणि भी विराजमान हैं।

मूढ़ (सानदेव से लगभग 3 किमी दूर) नामक गांव में एक सुंदर सूर्य मंदिर है। यह भी चंदकालीन है। वर्तमान में मंदिर का अग्रभाग कुछ–कुछ भग्नप्राय है। इसके निकट पूरब की ओर प्रारम्भ में एक जलकुंड था, जो अब घास–मिट्टी से ढक गया है। इस मंदिर में एक अतीव सुंदर सूर्य–प्रतिमा निक्षिप्त है। प्रतिमा में काल वज्र लेप चढ़ा हुआ है, जिससे यह प्रतिमा आयातीत लगती हैं सूर्यदेव की बनावट 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' व 'अंशुमद भेदागम' में उल्लिखित विशेषताओं से परिपूर्ण है। सूर्य उदीच्य–वेश (उत्तरी वेशभूषा) में हैं। तदनुरूप उनके पैरों में आजानु बूट हैं। शरीर में कवच, कटि में अप्यंग (याावियांग) व दायें हाथ में सनाल कमल तथा बायें में अंधकार की भेदक 'शक्ति है। सिर में किरीट धारण कर रखा है। वे सात घोड़ों के रथ पर विराजमान हैं। ये सातों घोड़े परस्पर बाग–बद्ध (लगाम कसे हुए) हैं। रथ का सारथी 'अरूण' सूर्य देव की ओर अभिमुख होकर रथ हांक रहा है। वह लंगड़ा है। सभी घोड़े धावमान मुद्रा में उत्कीर्ण हैं। सूर्य के दायें–बायें उनकी पत्नियां–छाया व सुवर्चसा–उत्कीर्ण हैं। यह मूर्ति कुमाऊँ में प्राप्त किसी भी मूर्ति की तुलना में अद्वितीय है।

मूढ़ के सूर्य–मंदिर के पास थल का 'एक हथिया' देवाल है। यह बनावट में एलोरा के कैलाश मंदिर के सदृश है। इसे कैलाश मंदिर के समान एक ही चट्टान पर उकेरा गया है। ऊँचाई में यह लगभग आठ फुट हैं, पश्चिम की ओर मंडल बनाया गया है। विमान (मुख्य मंदिर) के चारों कोणों में 'उरू–श्रृंग' बने हुए हैं। इस मंदिर का द्वार पश्चिम की ओर है, जिससे यह पूजा के लायक नहीं हैं इसकी शक्ति का प्रक्षालन भी पश्चिम की ओर है। इस मंदिर का उपयोग केवल जनेऊ–संस्कार के लिये किया जाता है। इस मंदिर के पास थल में रामगंगा के तट पर रूद्रचंद द्वारा निर्मित एक भव्य शिव–मंदिर है, जिसमें प्रतिवर्ष वैशाख–पूर्णिमा को मेला लगता है।

नकुलेश्वर व मर्सोली के मंदिर–समूहों में नकुलेश्वर महादेव (नकुल–हिमालय) का मंदिर एक जीर्णोद्धारित कृति है, जिसका मूल मंदिर या तो रूहेले मूर्ति–भंजकों द्वारा तोड़ा गया होगा, या धरती की किसी उथल–पुथल में धराशायी हुआ होगा। यही स्थिति इसके बिल्कुल पास में स्थित मर्सोली गांव के मंदिरों की भी रही होगी। मर्सोली और कासनी में पंचायतन प्रकार के पांच–पांच मंदिर प्रारंभ में रहे होंगे, क्योंकि वर्तमान में इनमें दो–दो, तीन–तीन ही मंदिर अस्तित्व में हैं और इनमें लगे हुए द्वार–स्तंभ धराशायी पड़े हैं। नकुलेश्वर में लेखक को 35–36 मूर्तियां मिली थीं, जिनमें एक नवग्रह–पैनल था, और दूसरी सप्तमातृकाओं का फलक था। इन्हीं में एक लाल बलुए पत्थर पर उकेरी गई वासुदेव विष्णु की द्विभुजी प्रतिमा थी, जो सारनाथ अथवा मथुरा से लाई गई होगी। अन्य प्रतिमाओं में एक ऐसी भी थी, जिसमें भगवान बुद्ध 'भूमिस्पर्श–मुद्रा' में उत्कीर्ण थे। उन्हें दायें हाथ की तर्जनी अंगुली से भूमि का स्पर्श करते हुए दिखाया गया था। बौद्ध–ग्रंथों में इसे 'मार–विजय' कहा जाता है।

मर्सोली में सम्प्रति दो मंदिर बचे हैं। शेष तीन मंदिरों के भग्नावशेष भूमि में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। ये स्तंभ भारी–भरकम व कुशल शिल्पकारों द्वारा तराशे गये– से लगते हैं। मंदिरों के शिखर पर लगे आमलक (कमल की पंखुड़ी नुमा गोल पत्थर) भी धराशायी पड़े हैं। ठीक ऐसे ही पत्थर देहरूदन की चकराता तहसील में यमुना के किनारे लाखा मंडल के भव–मंदिर में भी मिले हैं। अस्तु, मर्सोली के लक्ष्मी नारायण मंदिर में भगवान लक्ष्मी नारायण की एक अति सुंदर मूर्ति है, विष्णु की बांई जांघ में लक्ष्मी विराजमान है। लक्ष्मी का दायां हाथ विष्णु के कंधे में और विष्णु का बांया हाथ लक्ष्मी की पीठ से घूमकर उसके बायें श्रीफल पर विन्यस्त है। विष्णु के सिर पर मुकुट, गले में वन माल व हृदय–स्थल पर 'श्रीवत्स' चिन्ह है। लक्ष्मी के दायें हाथ में पुष्प है।

भग्नप्राय द्वार–स्तंभों में चौकारे प्रकोष्ठ (फलक) बने हुए हैं। इनमें विष्णु के दशावतारों के चित्रों का अंकन हुआ हैं सभी द्वार–स्तंभों के छोरों पर गज–ब्याल और सिंह–ब्याल उत्कीर्ण हैं। एक फलक पर मयूरारूढ़ कार्तिकेय का चित्र है। वह दायें हाथ से मोर को मातुलुंग खिला रहे हैं। उसके बायें हाथ में खड्ग है। एक पैनल पर देवी दुर्गा की मूर्ति उत्कीर्ण है। वह सिंह में चढ़कर दुर्गमन राक्षस का वध कर रही हैं, इसीलिए उन्हें दुर्गा कहा जाता है। महिषासुर मर्दिनी की मूर्तियां भी इधर–उधर पड़ी हैं। दशावतारों में परशुराम–अवतार का दृश्य भी मिलता है। हयग्रीव (सिर घोड़े का तथा शरीर मानव का), रेवन्त तथा कल्कि अवतारों के दृश्य भी बड़े मनमोहक हैं। कल्कि घोड़े में सवार है और उनके साथ एक कुत्ता भी हैं सूर्य–पुत्र रेवन्त घोड़े पर सवार है। एक फलक पर समुद्र–मंथन का दृश्य बना हुआ है। मर्सोली के मंदिरों में लगभग सभी वैष्णव प्रतिमायें रखी हुई मिलती हैं।

स्मर्ता देवी–देवताओं के अलावा समूचे कुमाऊँ में ग्रामीण देवी–देवताओं की भी पूजा होती थी। प्रतीत होता है कि यहां शिक्षा का प्रचार समाज की समस्त जातियों में था। अनपढ़ व्यक्ति न तो ताम्रपत्र लिख सकता है, न अक्षर उत्कीर्ण कर सकता है, और न मूर्तियों को ही धर्मशास्त्रों की मर्यादा के अनुरूप निर्मित कर सकता है।

http://uou.ac.in

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

अध्याय– तीन

गढ़वाल का परमार वंश

–डा0 अजय सिंह रावत
(फोटो संकलन – डा0 अजय सिंह रावत)

इस अनन्त में जाने कितने वशों के कमनीय कुसुम उदित होते हैं, फलते हैं, फूलते हैं, फिर नियति के हाथ उसे एक दिन खींच ले जाते हैं महाशून्य की ओर, किन्तु उसकी महक, सौन्दर्य, लावण्य की पंखुड़ियों को इतिहास संजोकर रख लेता है जो इतिहास के पन्नों पर चमकता अजर, अमिट, अक्षुण्य बन जाता है। गढ़वाल के परमार वंश का इतिहास भी कुछ इतना ही गौरवपूर्ण एवं गरिमामय है जिसे विघटन का चक्र भी विस्मृत नहीं कर सकता।

वंश के संस्थापक–

परमार वंश का आदिपुरूष कनकपाल था। इस तथ्य को श्री बैकेट द्वारा उद्धृत परमार वंश के सम्राटों की सूची एवं 'सभासार' नामक ग्रन्थ की सूची प्रमाणित करती है। इस प्रकार की विभिन्न विद्वानों द्वारा उद्धृत चार सूचियाँ आज तक उपलब्ध हैं। इन चारों में ही 'सभासार' की सूची का उल्लेख नहीं हुआ है। पहली सूची कप्तान हार्डविक द्वारा दी गई है (1796 ई०), दूसरी एक सरकारी विवरण से ली गई है (1849 ई०) जिसे श्री बैकेट ने माना है। तीसरी श्री विलियम ने दी है जो कि यदा–कदा श्री बैकेट से भिन्न लगती है। चौथी सूची एटकिन्सन की है जो कि अल्मोड़े के किसी पन्डित के संग्रह से उपलब्ध हुई है, जिसे अल्मोड़ा की सूची कहा जा सकता है।

उक्त चारों ही सूचियों में श्री बैकेट द्वारा दी गई परमार वंशीय नरेशों की सूची सर्वाधिक सत्य एवं प्रामाणिक है क्योंकि उनकी नामावली एवं सूची परमार वंश के नरेश श्री सुदर्शन शाह कृत ''सभासार'' (1828 ई० में रचना हुई) से पूर्णरूपेण मेल खाती है। इस ग्रन्थ की मूल पाण्डुलिपि स्वर्गीय श्री शूरबीर सिंह पुराना दरबार टेहरी जो कि परमार वंश के ही थे–उनके संग्रह में आज भी विद्यमान है।

उस ग्रन्थ के पृष्ठ संख्या 54 में लिखा है–

''गढ़वाल का राजौं की 55 पुस्त।।
कनकपाल हैं श्याम पांडु अभिगत
सिगत रत्न धीर सालि राज विधि ही जिंहवत।।
मदन भक्त जयचन्द पृथ्वी मद सिंह र्जि।।
आगस्ति सुरति जयसिंह पाल गढ़वाल ही कहिं।।

नं तै विचार आनन्द है विभ्भेग पात्र सुभियान हैं।।
विक्रम देषड विचित्र ज्यूँ हंसै जो अभेदक।।
जैय्यराम कौं देव आड सल्ल जगतपाल हिं।।
जाति नंत जयपाल फेर साहा जो कल्याण हिं।।
सूरत्तपाल हंसादि ही विज्जै सहज्ज वादर लयाः।।
मानै जो श्याम महिपत्त है पृथ्वी जो साह मेदिनी काया।।
फतेह साह ज्यौं साह और उप्पेन्द्र सुनावैं।।
प्रतीपुत्र ज्यौं साहेयक ललिपत्त लषावैं।।
जयकीरत हैं प्रद्युम्न और पराक्रम भाई।।
प्रद्युम्न भए अधिराज पुत्र सुख दर्शन साईं।।
भगवान सेर देवान ज्यूं गंगा जो सिंह दिल में रषत।।
मानी पंवार कहू वंश की पेता जो पुस्त बदरी वंशता।। (28)

श्री बैकेट द्वारा उद्धृत सूची

नरेश का नाम	शासन काल	गोलोकवास की उम्र	मृत्यु की तिथि (सम्वत् में)
(1) कनकपाल	11	51	756
(2) श्यामपाल	26	60	782
(3) पदुपाल	31	45	813
(4) अभिगत पाल	25	31	838
(5) सिगल पाल	20	24	858
(6) रत्न पाल	49	68	907
(7) सलिपाल	8	17	915
(8) विधि पाल	20	20	935
(9) मदन पाल प्रथम	17	22	952
(10) भक्ति पाल	25	31	977
(11) जयचन्द पाल	29	36	1006
(12) पृथ्वी पाल	24	40	1030
(13) मदन पाल (द्वितीय)	22	30	1052
(14) अगस्ती पाल	20	33	1072
(15) सूरती पाल	22	36	1094

http://uou.ac.in

(16) जयन्त सिंह पाल	19	30	1113
(17) अनन्त पाल (प्रथम)	16	24	1129
(18) आनन्द पाल (प्रथम)	12	20	1141
(19) विभोग पाल	18	22	1159
(20) सुभजन पाल	14	20	1173
(21) विक्रम पाल	15	24	1188
(22) विचित्र पाल	10	23	1198
(23) हंस पाल	11	20	1209
(24) सोन पाल	7	19	1216
(25) कदिल पाल	5	21	1221
(26) कामदेव पाल	15	24	1236
(27) सलाखान देव	18	30	1254
(28) लखन देव	23	32	1277
(29) अनन्त पाल (द्वितीय)	21	29	1298
(30) पूरब देव	16	33	1317
(31) अभय देव	7	21	1324
(32) जयराम देव	23	24	1347
(33) असल देव	9	21	1356
(34) जगत पाल	12	19	1368
(35) जीत पाल	19	24	1387
(36) आनन्द पाल (द्वितीय)	28	41	1415

http://uou.ac.in

नरेश का नाम	शासन काल	गोलोकवास की उम्र	मृत्यु की तिथि (सम्वत् में)
(37) अजय पाल	31	59	1446
(38) कल्याण शाह	9	40	1455
(39) सुन्दर पाल	15	36	1470
(40) हंसदेव पाल	13	24	1483
(41) विजय पाल	11	21	1494
(42) सहज पाल	36	45	1530
(43) बलभद्र शाह	25	41	1555
(44) मान शाह	20	29	1575
(45) श्याम शाह	9	31	1584
(46) महिपत शाह	25	65	1609

(47) पृथ्वी शाह	62	70	1671
(48) मेदिनी शाह	46	62	1717
(49) फतेह शाह	48	51	1765
(50) उपेन्द्र शाह	1	22	1766
(51) प्रदीप्त शाह	63	70	1829
(52) ललिपत शाह	8	30	1837
(53) जयकृत शाह	6	33	1843
(54) प्रद्यमन शाह	18	29	1861

एक तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि गढ़वाल में प्रचलित एक लोकगीत में भी परमार वंशावली का वही क्रम है जो श्री बैकेट की सूची में दिया गया है। यथा–

परथम बदरी, परथम शिव केदार।

जो ध्यावै उतरै पार।

चारों तरफ हिमाल सो है।

जय बदरी की जय केदार।

देश–देश की जाती आवैं।

लोग सुपारी भेंट चढ़ावैं।

रावल दक्खिनी महा पुजारी।

हाथैं घंटी डाल में कंठी।

सिर माथे मुकुट माला सोहैं।

माथा तो झलमल करैं।

घानन की करै निरंकार।

तब करै नाथन की सेवा।

जै जै जै की शिव केदार।

प्रथम राजा कनकपाल के सामुपाल,

सामुपाल के पाण्डुपाल, पाण्डुपाल के अभिगत पाल,

अभिगत के सिंगतपाल–सिंगतपाल के रालीपाल,

रालीपाल के सालीपाल, सालीपाल के विधिपाल,

विधिपाल के मदनपाल, मदन पाल के भक्तिपाल,

भक्तिपाल के जयचन्दपाल, जयचन्दपाल के पृथ्वीपाल,

http://uou.ac.in

पृथ्वीपाल के मदनसिंह पाल, मदनसिंह पाल के जगतीपाल,
जगतीपाल के कीर्तिपाल, कीर्तिपाल के जयसिंह पाल,
जयसिंह पाल के अनन्त पाल, अनन्तपाल के आनन्द पाल,
आनन्द पाल के विभुँगतपाल, विभुंगतपाल के सुयेनपाल,
सुयेनपाल के विक्रमपाल, विक्रमपाल के विचित्रपाल,
विचित्रपाल के हंसपाल, हंसपाल के सोनीपाल,
सोनीपाल के कीर्तिपाल, कीर्तिपाल के कामदेवपाल,
कामदेवपाल के सत्यणदेव पाल, सत्यणदेव पाल के लखनदेव पाल,
लखनदेवपाल के मुकुन्दीदेव पाल, मुकुन्दीदेव पाल के पूर्वदेव पाल,
पूर्वदेव पाल के अभयदेव पाल, अभयदेव पाल के जयराज देव पाल,
जयराज देवपाल के असलपाल,
असलपाल के जगतपाल, जगतपाल के आनन्द पाल,
आनन्द पाल के अजयपाल, अजयपाल के अयुतदेव,
अयुतदेव के अर्जुनदेव, अर्जुनदेव के यशदेव,
यशदेव के कुणीदेव, कुणीदेव के उजैन पाल,
उजैनपाल के जसपाल, जसपाल के राजा मान साही,
मानसाही के सामसाही, सामसाही के महिपति साही,
महिपति साही के पृथ्वीपत साही, पृथ्वीपत साही के मेदिनीपति साही,
मेदिनीपति साही के फतेहसाही, फतेहसाही के उपेन्द्र साही,
उपेन्द्र साही के प्रदीपसाही, प्रदीपसाही के ललित साही,
ललित साही के प्रद्युम्न साही, प्रद्युम्न साही के भी सुदर्शन साही महाराज।
पार देश उत्तराखण्ड वहाँ रहे ठाँऊं
नीचे–नीचे धरमसाले लगाए
ऊँचे–ऊँचे मन्दिर बनाए।
साधु सन्तन के सप्त व्रत हाथ में लोटा पीठ में धोती,
भागीरथी अस्नान,
तब बदरी केदार दर्शन पावें,

http://uou.ac.in

ऐसे दर्शन दाता पावें,

सुदर्शन साही के पुत्र भवान साही, भवानसाही के प्रताप साही,

प्रतापसाही के कीर्तिसाही, कीर्तिसाही के नरेन्द्रसाही।

गढ़पति गढ़वाल हिन्द पति भासें

ऐसे तपें जैसे सूरजि के आल

जै हो बदरी जै हो केदार।

आज भी उक्त लोकगीत को परमार वंश की विरूदावली गाने वाले भाटों के वंशज श्री पिंगल दास, जो कि 'पूरौल' नामक ग्राम में रहते हैं, विशेष अवसरों पर परमारों के विरुद का गायन करते हैं।

इनके अतिरिक्त दो अन्य सूचियाँ उत्तरकाशी के परशुराम तथा विश्वनाथ के मन्दिरों में उपलब्ध हैं जिनमें प्रदीपशाह से लेकर सुदर्शनशाह तक के नरेशों का नाम अंकित है।

http://uou.ac.in

कनकपाल का आदि स्थान–

सर्वप्रथम इस बात का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है कि परमार वंश के संस्थापक कनकपाल कब व कहाँ से आये?

पण्डित हरिकृष्ण रतूड़ी का मत है कि, कनकपाल धारा नगरी से आये थे। एटकिन्सन का कथन है कि धारा नगरी के पवाँर वंश का एक युवक पर्वतीय क्षेत्र के पवित्र स्थानों की यात्रा हेतु आया। राह में सोनपाल का राज्य भी पड़ता था इसलिए वह सोनपाल से मिलने पहुँचा। सोनपाल उस युवक से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने युवक से अपनी कन्या का परिणय भी कर दिया। दहेजस्वरूप चाँदपुर का परगना भी प्रदान कर दिया। वौल्टन एटकिन्सन के कथन को ही प्रतिपादित करते हैं।

भक्त दर्शन ने भी लिखा है कि कनकपाल धारा नगरी से आये। डा० पातीराम अपनी पुस्तक ''गढ़वाल एनशियन्ट एन्ड मौडर्न'' में लिखते हैं ''..... .....''सम्वत् 756 में तत्कालीन राजवंश के कनकपाल मालवा से गढ़वाल आए। ये चन्दवंश के थे। इस क्षेत्र में प्रचलित पुरातन नियम के अनुसार गढ़वाल के शासक सोनपाल ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किया एवं अपनी पुत्री का विवाह भी

उनसे कर दिया। सोनपाल के बाद कनकपाल सिहाँसनारूढ़ हुआ व सोनपाल गढ़ राज्य की गढ़ियों में से किसी एक के गढ़पति होंगे।''

किन्तु उपर्युक्त तथ्य पूर्णतः सत्य नहीं माने जा सकते हैं कि कनकपाल धारा नगरी से ही आये थे। उक्त विद्वानों ने यथेष्ट प्रमाण पत्र अपने कथ्य को साबित करने के लिये नहीं दिये हैं। यह भी हो सकता है कि इन लोगों ने निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियों के आधार पर अपनी धारणा बना ली होगी।

''जहाँ पँवार तहाँ धार है, जहाँ धार तहाँ पँवार
धार के बिना पवाँर नहीं, नहीं पँवारि बिन धार।।''

रतूड़ी जी ने सम्भवतः इन पंक्तियों से प्रेरित होकर अपनी धारणा बना ली होगीः

''पृथ्वी पुँवा रातणी, अने पृथ्वी तणे पँवार''
एका आबू गढ़ वेसणों, दूजी उज्जेणी धार''

वास्तव में कनकपाल गुर्जर देश के किसी क्षेत्र से गढ़वाल पधारे थे। इसका प्रमाण चाँदपुर है, (जहाँ कनकपाल ने अपना राज्य स्थापित किया था) के उत्खनन से प्राप्त एक शिलालेख में निम्नांकित पंक्तियाँ अंकित हैं–

''राजा वै कनकपालो विधुकुल तिलको गुर्जरातात् प्रसिद्धः,
दैवा तीर्थ प्रदेशा नवनित लगतान् धूत पापान्द्रपयश्न्,
गच्छन्श्रृण्वन प्रभावे विशदमतिरयं प्रापद श्रान्त चेताः,
वर्षे वाणान्धि गोभे नरहरि प्राप्य राज्य।''

इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण प्रमाण और है जो इस तथ्य को सिद्ध करता है कि गढ़वाल के परमार वंश के नरेश एवं उनका आदि पुरूष मेवाड़, गुजरात, महाराष्ट्र से प्रवासी होकर गढ़वाल आये थे जिनको गुर्जर देश कहा जाता था।[1]

गढ़वाल के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन में गणेश जी का स्थान सर्वोपरि है। 'खोली का गणेश' अर्थात् गढ़वाल के प्रत्येक घर के द्वार पर गणेश जी का चित्र पवित्रता एवं शगुन का प्रतीक माना जाता हैं। राजवंशों में तो यह प्रथा और भी प्रचलित है। साथ ही एक विशेषता और भी है कि इन चित्रों व मूर्तियों में गणेश जी की सूँड दाहिनी ओर मुड़ी हुई है। गणेश जी की नृत्य करती मुद्रा में एक प्राचीन मूर्ति, जो जोशीमठ में है, इस वंश के लिए पूज्य, श्रद्धेय एवं पावनतम् मानी जाती है। इस मूर्ति में भी सूँड दाहिनी ओर मुड़ी है। टिहरी के 'पुराना दरबार' नामक राजप्रसाद के द्वार पर गणेश जी की काष्ठमूर्ति थी एवं दीवारों पर भित्ति चित्र थे जिन सबमें भी गणेश जी की सूँड दाहिनी ओर मुड़ी है। 'पुराना दरबार' का

http://lou.ac.in

निर्माण परमार नरेशों ने सन् 1815 ई० के गढ़वाल विभाजन के पश्चात प्रथम राजप्रसाद के रूप में किया।

गणेश जी की सूँड की दाहिनी ओर मोड़ने की जो पुरातन परिपाटी चली आ रही है वह गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र में अत्यधिक प्रचलित है जबकि उत्तर प्रदेश तथ उत्तरी भारत के भूभागों में गणेश जी की सूँड बाँयी ओर मुड़ी है।

इस तथ्य का प्रतिपादन 'शुक्र नीति' नामक ग्रन्थ ने किया है।

अस्तु, गढ़वाल में गणेश जी की सूँड का दाहिनी ओर का मुड़ना इस बात का सूचक है कि परमार वंशी नरेश गुर्जर देश से गढ़वाल आए एवं उन्होंने उक्त शैली का गढ़राज्य में प्रचलन किया।

गुर्जर देश से गढ़वाल में इनके आगमन का एक और प्रमाण 'आदि बद्री' का मन्दिर है। गढ़वाल स्थित 'आदि बद्री' की रचनाशैली गुजरात एवं राजस्थान के सोलंकी मन्दिरों की शैली से हूबहू मिलती है।

यहाँ पर एक विशेष बात का उल्लेख करना है कि गढ़वाल एवं कुमाऊँ की अनेक राजपूत जातियाँ अपना आदि स्थान 'गुजरात प्रान्त' बताती हैं। श्री रूद्रसिंह तोमर तथा पं० बालकृष्ण शास्त्री लिखते हैं कि कनकपाल के साथ गोरला रावत; बर्तवाल रौतेला तथा बागली नेगी आदि राजपूत गुर्जर देश से गढ़वाल आए थे।

कुछ इतिहासकारों का यह भ्रम है कि कनकपाल 'धारा नगरी' से आये थे। परमारों ही के वंशज ठा० शूरबीरसिंह पुराना दरबार टिहरी के संग्रह में कुछ ऐसे पत्र रखे हुये हैं जो इस भ्रान्ति का निवारण कर देते हैं।

सन् 1927 में टिहरी राज्य के दीवान रायबहादुर चक्रधर जयाल ने 23 मई को पत्रांक 560/सी के अन्तर्गत, भेजने की तिथि 13 जून 1927, इन्डोर्समैन्ट नम्बर 1839/50/26–27 'धार' दरबार को भेजा था।

इस पत्र के उत्तर में 'धार' दरबार ने दि० 10 दिसम्बर 1927 को पत्र संख्या 1004 के अन्तर्गत 'धार' के इतिहास अधिकारी के पत्र–संख्या, 17 दिनांक 22 जुलाई 1927 को नत्थी कर टिहरी दरबार के लिये भेजा था। इस पत्र में साफ शब्दों में इस बात की पुष्टि की गई है कि कनकपाल एवं 'धारा नगरी' के राजवंश में कोई सम्बन्ध नहीं है।

अस्तु, अब यह प्रमाणित हो जाता है कि कनकपाल गुर्जर देश से ही आये थे। श्री कन्हैया लाल माणिकलाल मुन्शी द्वारा रचित ''दिग्लौरी दैट वॉज गूजर देश'' में

बिख्यात लेखक ने राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश का एक भाग मालवा तथा गुजरात का सामूहिक नाम गुर्जर प्रदेश कहा है।

क्या कनकपाल परमार थे ?

यह एक प्रामाणिक तथ्य है कि कनकपाल गुर्जर देश से आये व उन्होंने गढ़वाल में परमार वंश की नींव डाली। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कनकपाल परमार था ?

परमारवंश के ही कुल दीपक श्री सुदर्शन शाह ने 'सभासार' नामक स्वरचित ग्रन्थ में वंशावली वृक्ष दिया है जिसमें स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि वे परमार वंश के हैं–

''मानी पँवार कछु वंश की देता जो पुस्त बदरी वशत।''

गढ़राज्य में भाटों द्वारा रचित गीत 'पवाड़ा' या 'पैवाड़ा' कहलाते हैं।

''भारतीय लोक साहित्य'' नामक पुस्तक के रचयिता श्री श्याम परमार का कथन है कि परमार वंश के लोग चाहे बिहार में बसे या भारत के किसी अन्य भाग में उन लोगों में 'पैवड़ा' शब्द अत्यधिक प्रचलित है। बृज व भोजपुरी में 'पवाड़ा' मध्यप्रदेश एवं उत्तरप्रदेश में 'पँवारा' तथा महाराष्ट्र में पवाड़े या 'पँवाड़ा' बहुलता से प्रयोग में आता है। डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है;–''..... यह बात किसी सीमा तक उचित प्रतीत होती है कि इन गीतों में पहले पँवार (परमार) क्षत्रियों की गाथायें गाई जाती होंगी। वे लम्बी होती होंगी और लड़ाई–झगड़े से परिपूर्ण होती होंगी। फलतः 'परमारों' के गीत होने के कारण 'पमारे' कहलाये।''

अस्तु, यह स्वाभाविक है कि गढ़वाल में परमारों ने ही 'पवाड़ा' शब्द प्रचलित किया होगा। गढ़वाल के कतिपय पवाड़े (वीरगाथायें) कफ्फू चौहान पवाड़ा, विहनी विजयपाल पवाड़ा, जीतू बगड़वाल, रिखोला लोदी, तीलु रौतेली एवं माधो सिंह पवाड़ा आदि बहुस प्रसिद्ध हैं।

'गढ़वाल की दिवंगत विभूतियों' के लेखक श्री भक्तदर्शन सिंह ने भी यह लिखा है कि गढ़वाल के नरेश परमार वंश के थे। राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में एक मत प्रचलित है कि राजपूतों का जन्म आबू में अग्निकुण्ड से हुआ था, उनमें से एक जाति परमार भी थी। आबू की तलहटी पर 'चन्द्रपुरी' नामक नगर बसा था जो कि परमारों का राजस्थान में एक प्रचलित स्थल था। कनकपाल ने गढ़वाल में

http://ou.ac.in

आकर अपने दुर्ग का नाम 'चाँदपुर' रखा। सम्भवतः 'चन्द्रपुरी' की सुखद स्मृतियों को सजीव रखने के लिये ही उसने दुर्ग का नाम 'चाँदपुर' रखा होगा।

इसके अतिरिक्त माउण्ट आबू एवं गढ़वाल में कुछ अन्य समानतायें भी पाई जाती हैं। उत्तरकाशी जिले के गोमुख एवं आबू के गोमुख की बनावट पूर्णतः एक सी हैं। जिस प्रकार आबू में 'कोटेश्वर' है उसी प्रकार गढ़वाल में कोटेश्वर है। गढ़वाल के चमोली जिले में गंगा की सहायक नदी 'मन्दाकिनी' को अत्यधिक पवित्र माना जाता है। आबू में एक पवित्र कुण्ड का नाम 'मन्दाकिनी' है यह कुण्ड किसी परमार नरेश ने ही बनवाया था जिसका प्रमाण 'शान्त मूर्ति मुनिराज' लिखित 'आबू नामक पुस्तक में मिलता है। गढ़वाल तथा आबू में प्रचलित एवं उपलब्ध नामों की समानतायें इस तथ्य को उजागर कर देती हैं कि इन दोनों स्थानों के परमारों में गहरा सम्बन्ध था।

राजा कनकपाल के सिंहासनारोहण की तिथि–

राजा कनकपाल के राज्यारोहण की तिथि के विषय में भी इतिहासकारों में मतभेद है। पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी अपनी पुस्तक ''गढ़वाल का इतिहास'' में एक स्थान पर लिखते हैं कि कनकपाल सन् 888 ई० में गद्दी पर बैठे किन्तु अपनी दूसरी रचना ''गढ़वाल वर्णन'' में अपने ही मत का खण्डन कर वे लिखते हैं कि कनकपाल सम्वत् 745 अर्थात् 688 ई० में सिंहासनारूढ़ हुए। श्री भक्त दर्शन सिंह जी ने सन् 888 ई० लिखा है।

डॉ० शिव प्रसाद डबराल ने कोई निश्चित तिथि नहीं लिखी हैं। उन्होंने विभिन्न विद्वानों के विचारों को उद्धृत किया है। 'चाँदपुर' दुर्ग के विषय में उन्होंने लिखा है कि इसका निर्माण सन् 1425 से 1500 ई० के मध्य हुआ होगा। राहुल सांस्कृत्यायन को तो संदेह है कि कनकपाल नाम का राजा था भी या नहीं ? वह तो परमार वंश का आदिपुरूष अजयपाल को मानते हैं (सन् 1500 ई०)। प्रसिद्ध विद्वान श्री बैकेट का कथन है कि कनकपाल का अवसान सम्वत् 756 में हो गया था। उन्होंने 11 वर्ष शासन किया। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कनकपाल सम्वत् 745 अर्थात् सन् 688 ई० में गद्दी पर बैठे।

अस्तु, सर्वाधिक प्रामाणिक तिथि सन् 688 ई० ही प्रतीत होती है। 'चांदपुर' का एक प्राचीन लेख भी इसकी पुष्टि करता है–

सांय 5 कटिबंध 4 नग 7 संमित वर्षे विक्रमस्य बिधुवंशज पूज्यः।

श्री नृपः कनकपाल इहाप्तः शेनिकर्षि कुलजः प्रमरोऽयम्।।

उक्त पंक्तियाँ श्री बालकृष्ण भट्ट शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'गढ़वाल जाति प्रकाश' में उदध्त की हैं। इसके अतिरिक्त ठा० शूरबीर सिंह जी के ऐतिहासिक संग्रह में 'कवि देवराज कृत ''गढ़वाल राज्ञां वंशावलीः'' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध है जिसमें स्पष्ट रूप से यह लिखा हुआ है कि राजा कनकपाल सम्वत् 745 अर्थात् 688 ई० में गढ़वाल आए एवं सिंहासनारूढ़ हुये।

सन् 1815 तक परमार वंश का ऐतिहासिक विवरण

राजा अजयपाल के पूर्ववर्त्ती परमार नरेशों के विषय ज्ञान हेतु कोई भी ठोस ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। राजा अजयपाल बैकेट द्वारा दी गई सूची के अनुसार सैतींसवाँ राजा था जिसकी मृत्यु सम्वत् 1446 में हुई। इसी के शासनकाल में पहली बार विक्रमी 1415 अर्थात् सन् 1358 ई० में गढ़राज्य की राजधानी 'चाँदपुर गढ़ी' से बदलकर 'श्रीनगर' कर दी गई। दूसरी महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि इसने ही सर्वप्रथम गढ़वाल की 52 गढ़ियों को विजित कर एक विशाल गढ़वाल राज्य का स्थापन किया। उन 52 गढ़ियों के नाम नीचे दिये गये हैं–

(1) चाँदपुर गढ़
(2) कंडार गड़ (कंडार जाति का)
(3) देवल गढ़ (राजा देवल का)
(4) नाग नाथ गढ़ (नागवंश्यिों का)
(5) पोली गढ़ (बछवाण बिष्ट का)
(6) खाढ़ गढ़ (खाड़ी जाति का)
(7) कल्याण गढ़ (कल्याण ब्रांह्मणों का)
(8) बॉगर गढ़ (नागवंशी राणा का)
(9) कुईली गढ़ (सजवाण का)
(10) भरपूर गढ़ (सजवाण का)
(11) कुज्जड़ी गढ़ (सजवाण का)
(12) सिल गढ़ (सजवाण का)
(13) लोद गढ़ (लोदी का)
(14) रैका गढ़ (रमोला का)
(15) मुंगरा गढ़ (रावत अथवा रौतेलों का)

http://ignou.ac.in

(16) ऊपू गढ़ रैका गढ़ (चौहान का)

(17) मोल्या गढ़ (रमोला जाति का)

(18) साँकरी गढ़ (राणा जाति का)

(19) चांला गढ़ (देहरादून में)

(20) रामी गढ़ (राणा जाति का)

(21) विराल्टा गढ़ (रावत)

(22) चौंडा गढ़ (चौंडाल जाति का)

(23) रामी गढ़ (खाती जाति का)

(24) तोपगढ़ (तोप वालों का)

(25) श्री गुरू गढ़ (पडियार जाति का)

(26) लोहाब गढ़ (लोहबान नेगी)

(27) बधाण गढ़ (बधाणि जाति का)

(28) दशोली गड़ (मानवर राजा)

(29) धौना गढ़ (धौन्याल जाति)

(30) लंगूर गढ़

(31) बाग गढ़ (बागड़ी नेगी)

(32) इड़िया गढ़ (इड़िया जाति)

(33) परासू गढ़

(34) लोदन गढ़

(35) रतन गढ़ (धमादा जाति)

(36) गढ़कोट गढ़ (बगड़वाल बिष्ट)

(37) गढ़ताँग गढ़ (भोटिया जाति)

(38) बन गढ़

(39) भरदार गढ़

(40) चौंद कोट गढ़ (चौंद कोटिका)

(41) नयाल गढ़ (नयाल जाति का)

(42) अजमीर गढ़ (पयाल जाति का)

http://uou.ac.in

(43) सावली गढ़

(44) बदलपुर गढ़

(45) संगेला गढ़

(46) गुजडू गढ़

(47) जौट गढ़

(48) जौनपुर गढ़

(49) चंपा गढ़

(50) कारा गढ़

(51) भुवना गढ़

(52) कौडा गढ़ (रावत जाति का)

अजयपाल अपने समय का महानतम नरेश था। कवि भरत ने अपनी पुस्तक ''मानोदय'' (ज्ञानोदय) में उसकी तुलना कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, कुबेर एवं इन्द्र से की है। 'अजयपाल' ने देवलगढ़ में अपने लिए एक राज प्रासाद का निर्माण करवाया तथा उसमें अपनी कुलदेवी की प्रतिष्ठा की जिन्हें 'राजराजेश्वरी' कहा जाता है। देवलगढ़ श्रीनगर से आठ या नौ मील के अन्दर में एक छोटी सी पहाड़ी पर बसा है। यह गोरखनाथ पंथ के सन्यासी 'सतनाथ' का आवास स्थल था। अजयपाल भी इसी सम्प्रदाय का अनुयायी था। गोरखनाथ पंथ के ही प्रसिद्ध अनुयायी भत्तृहरि एवं गोपीचन्द की ही श्रेणी में राजा अजयपाल को रखा जाता है।

जार्ज डब्ल्यू ब्रिग्स ने अपने ग्रन्थ ''गोरखनाथ एन्ड द कनफटा योगीज'' में लिखा है कि राजा अजयपाल गोरखनाथ सम्प्रदाय के एक पंथ का भी संस्थापक था। 'नवनाथ कथा' तथा 'गोरक्ष स्तवांजालि' के अनुसार अजयपाल गोरख सम्प्रदाय के चौरासी सिद्धों में से एक सिद्ध थे।

अजयपाल की तुलना भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ पर अंकित सम्राट अशोक महान से की जा सकती है। जिस प्रकार कलिंग युद्ध के नरसंहार से विक्षुब्ध हो अशोक ने तलवार को सदैव के लिए त्याग दिया था उसी प्रकार अजयपाल ने 52 गढ़ियों के सामन्तों को पराजित कर गढ़राज्य में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर (जिसके अन्तर्गत देहरादून, सहारनपुर, टिहरी, उत्तरकाशी, पौढ़ी, बिजनौर का एक भाग तथा चमोली आता था) ऐश्वर्य को सदैव के लिये त्यागकर गुरूपन्थ का अनुगामी बन गया।

http://uou.ac.in

ठा० शूरबीरसिंह जी के संग्रह में एक हस्तलिखित तांत्रिक विद्या से सम्बन्धित ग्रन्थ 'साँवरी ग्रन्थ' है जिसमें अजयपाल को 'आदि नाथ' कहकर सम्बेधित किया गया है। इससे विदित होता है कि गोरख पंथ में अजयपाल का स्थान कितना ऊँचा था। देवलगढ़ में विष्णु मन्दिर की दाहिनी ओर ठीक सामने की दीवार पर अजयपाल का एक पद्मासन की मुद्रा में चित्र बना है। उन्होंने कानों में कुन्डल तथा सिर में पगड़ी पहन रखी है। इनकी बाँई ओर निम्नांकित वाक्यांश खुदे हुये हैं–

''अजयपाल की धर्म पाथो भण्डारी करो–कू''

अजयपाल के बाद कल्याणशाह गद्दी पर बैठे। कल्याण शाह ने विजयपाल तक सिवाए नरेशों के नामों के अन्य कोई उस समय का विवरण नहीं मिलता। बैकेट की सूची के अनुसार कल्याण शाह के पश्चात क्रमशः सुन्दरपाल, हंसदेवपाल व विजयपाल सिंहासनरूढ़ हुये। विजयपाल के बाद परमार वंश के **बयालीसवें नरेश सहजपाल** ने सत्ता हस्तगत की जिसके विषय में पर्याप्त विवरण निम्नांकित प्रमाणों से मिलता है–

(1) देव प्रयाग में विक्रमी 1605 अर्थात् सन् 1548 ई० के क्षेत्रफल के मन्दिर के द्वार पर एक शिलालेख।

(2) देव प्रयाग में रघुनाथ जी के मन्दिर में चढ़ी हुई एक घन्टी में विक्रमी 1618 अर्थात् सन् 1561 ई० की खुदी हुई कुछ पंक्तियाँ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस घन्टी को सहजपाल ने चढ़ाया था।

सन् 1548 के शिलालेख द्वारा यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सहजपाल सन् 1548 के बाद गद्दी पर नहीं आया होगा बल्कि श्री रतूड़ी कहते हैं कि उसके अन्तिम दिवसों की जो प्रामाणिक तिथि प्राप्त होती है वह सन् 1575 है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सहजपाल ने गढ़राज्य पर लगभग सन् 1548 से सन् 1575 तक शासन किया। कवि भरत ने सहजपाल की प्रशस्ति में अनेक पंक्तियाँ लिख डालीं। उनका कथन है कि सहजपाल के काल में गढ़वाल अपनी प्रगति की चरमतम् परिणति पर था। सहजपाल सम्राट अकबर का समकालीन था। यद्यपि अकबर के साम्राज्य की जड़ें लगभग समग्र उत्तरी भारत तक फैल चुकीं थीं किन्तु गढ़राज्य अपने स्वतंत्र अस्तित्व को लेकर स्वतंत्रता की बयार का आनन्द ले रहा था। डॉ० ए०एल० श्रीवास्तव का कथन है कि ''मुगलिया सल्तनत का अपनी समकालीन राजनीतिक शक्तियों से जो भी सम्बन्ध थे उनमें गढ़वाल राज्य का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि श्रीनगर गढ़वाल का दिल्ली से कूटनीतिक सम्बन्ध था किन्तु प्रतीत होता है कि यह राज्य पूर्णतः स्वतंत्र था।''

http://uou.ac.in

सहजपाल के पश्चात गढ़वाल के सिंहासन पर **'बलभद्र शाह'** आसीन हुए। यह पहले शासक थे जिन्होंने अपने नाम के आगे 'शाह' की उपाधि–धारण की। यद्यपि इनके पूर्व 'कल्याण शाह' के नाम के आगे शाह शब्द लगा किन्तु गढ़राज्य में इस लीक को चलाने वाले यह प्रथम नरेश थे। इनके पश्चात परमार नरेशों ने 'शाह' उपाधि लगाना प्रारम्भ कर दिया। श्री भक्तदर्शन जी की धारणा है कि जब भारतीय इतिहास का अभागा शाहजादा दारा शिकोह अपने ही अनुज के हाथों परास्त हुआ तो उसने श्रीनगर में शरण ली किन्तु श्रीनगर नरेश ने 'दारा शिकोह' को मुगलिया सल्तनत के सिरमौर औरंगजेब को सौंप दिया। इस पर प्रसन्न हो श्रीनगर की इस अनूठी सेवा के लिए दिल्ली के द्वारा उन्हें 'शाह' की उपाधि मिली। श्री भक्त दर्शन जी का यह कथन सच्चाई से कोसों दूर लगता है क्योंकि औरंगजेब सन् 1658 ई० में सत्तारूढ़ हुआ जबकि कल्याण शाह एवं बलभद्र शाह सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही शासन कर चुके थे।

डा० पातीराम लिखते हैं कि तल्ला नागपुर के एक ग्राम 'सतेरा' से वर्तकाल जाति के किसी व्यक्ति को राज्य के कार्य हेतु दिल्ली भेजा गया था। उसकी दिल्ली निवास की अवधि में मुगल हरम की कोई महिला इतनी अधिक रूग्ण हो गई कि ऐसा लगने लगा कि महिला का अन्त समय आ गया है। अनेक उपचार किए गए किन्तु सब व्यर्थ गए। अन्त में गढ़राज्य के इस दूत ने उस महिला की कलाई में एक धागा बाँध कर रोग का पता लगाया और उसे उपचार में सफलता मिल गई। शहंशाह ने प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक देना चाहा तो उस दूत ने कहा कि पारितोषिक के स्थान पर गढ़राज्य के नरेश के नाम के आगे 'शाह' उपाधि जोड़ दी जाय। इस कथन में कितनी सत्यता है यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इस वंश के अन्तिम नरेश तक 'शाह' उपाधि चलती रही। सम्भवतः अनेक विजयों के बाद गढ़राज्य को सक्षम एवं सुगठित कर अजयपाल का शाह उपाधि को धारण करना स्वाभाविक था। अजयपाल के पश्चात कल्याण शाह सिंहासन पर आसीन हुए व इन्होंने भी इस उपाधि को धारण किया।

यद्यपि यह सत्य है कि गोरखनाथ पंथ के होने के कारण इस संसार की खोखली उपाधि से अजयपाल को सन्तुष्टि नहीं मिली होगी। वह तो निःस्वार्थ, निर्विकार सन्यासी थे किन्तु कल्याण शाह के बाद बलभद्र शाह के काल तक यह उपाधि अन्तर्हित सी हो गई। हो सकता है कि यह शब्द गढ़वाल में व्यवहारिक रूप से प्रचलित नहीं होगा इसलिए प्रयोग में न आने से शनैः–शनैः मिट गया। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि कल्याण शाह से बलभद्र शाह तक जितने गढ़वाल नरेश हुए वह इतने अधिक शक्तिशाली नहीं होंगे जिससे वे अपनी स्वतंत्र सत्ता को स्थायी रख सकते।

यद्यपि डॉ० ए०एल० श्रीवास्तव ने लिखा है कि सहजपाल (बलभद्र शाह के पूर्व सिंहासनारूढ़ हुए) के शासन काल में ''गढ़वाल ने अपनी स्वतंत्रता को बना रखा था एवं उसके दिल्ली राज्य से कुछ राजनैतिक सम्बन्ध भी थे।'' श्रीवास्तव जी ने स्पष्ट नहीं किया है कि क्या यह सम्बन्ध बराबर के स्तर के थे या नहीं ? या गढ़वाल नरेश को अपनी स्वतंत्रता खरीदनी पड़ी।

उक्त तथ्यों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कल्याण शाह के काल में गढ़वाल अपने गौरव व गरिमा की बुलन्दी पर था किन्तु कल्याण शाह की आँख मूंदते की गढ़राज्य के गौरव में एक आलोड़न हुआ। सहजपाल के पूर्व तक गढ़वाल की गरिमा को झंझावतों के थपेड़े सहने पड़े। उसकी स्वतंत्र सत्ता, ऐश्वर्य सब डगमगा गया किन्तु जैसे ही सहजपाल आरूढ़ हुए गढ़राज्य की विभूति ने जैसे जमीन पर नहीं बल्कि आसमान पर इन्कलाब लिख दिया। पुराना नाम, प्रसिद्धि, गौरव सब लौट आए। गढ़राज्य गरिमामय हो गया। इसलिए 'शाह' उपाधि का गढ़वाल में पुनर्जन्म हुआ।

डॉ० शिवप्रसाद डबराल लिखते हैं कि मानशाह (बलभद्रशाह के तुरन्त बाद गद्दी पर बैठे) ने सन् 1591 में शासन की बागडोर थामी। इससे विदित होता है कि बलभद्र शाह ने 1575 से 1591 तक शासन किया। 'वाल्टन' ने भी लिखा है कि सन् 1581 ई० में बलभद्र शाह ने कुमाऊँ के शासक से ग्वालदम नामक स्थान पर युद्ध किया। 'श्री डबरवाल' युद्ध की तिथि 1590 से 1591 ई० मानते हैं। युद्ध की तिथि में चाहे कितना ही मतभेद हो किन्तु इससे यह निष्कर्ष तो निकलता ही है कि कुमाऊँ पर गढ़वाल नरेश ने सन् 1581 से 1591 के मध्य आक्रमण किया एवं मान शाह सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में सिंहासन पर बैठे।

http://ouac.in

मान शाह

बैकेट की सूची में बलभद्र शाह के पश्चात् मानशाह का नाम आता है। इनके विषय में निम्नलिखित प्रमाण उपलब्ध हैं।–

(1) देवप्रयाग में क्षेत्रफल के मन्दिर के द्वार में 1665 विक्रमी सम्वत् अर्थात् सन् 1608 ई० का एक शिलालेख, जिस पर निम्नांकित अंकित है–

..... संवत् 1665 मासे श्रावण पक्ष कृष्ण तिथौं चतुर्थी नक्षत्रे रवेती बारे शुक्रः श्री राजाधिराजा धिराज श्री मान शाह राज्ये श्री ज्योतीराय मठापते श्री महादेव नारद व्यास वासी न गुमठ कृत हरीदास कारीगर न मण्डप कृत के सो कारीगर का भयू न शुभम्।''

(2) दूसरा शिलालेख देव प्रयाग के रघुनाथ जी के मन्दिर में विक्रमी सम्वत् 1667 अर्थात् सन् 1610 ई० का है।

उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त श्री फोस्टर कृत ''द अर्ली ट्रैवल्स इन इन्डिया'' में एक योरोप यात्री श्री विलियम ने सन् 1608 से सन् 1611 तक की भारत यात्रा का विवरण दिया है। उन्होंने गढ़राज्य एवं वहाँ के शासक महाराज मानशाह के नाम का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि गढ़वाल का प्रतापी राज्य गंगा एवं यमुना के मध्य फैला है जिसकी राजधानी ''श्रीनगर'' है। उनके राज्य की एक सीमा आगरा नगर से 200 किलोमीटर की दूरी पर है। पूरा गढ़राज्य लम्बाई में 300 किलोमीटर एवं चौड़ाई में 150 किलोमीटर तक फैला है। यह शौर्यवान शासक सोने के बर्तनों में भोजन करते हैं।

उक्त तथ्य के आधार पर यह निर्णय ले सकते हैं कि मानशाह ने लगभग सन् 1561 ई० से सन् 1611 ई० तक गढ़वाल में शासन किया। श्री मानशाह के शासन काल में कुमाऊँ–नरेश श्री लक्ष्मीचन्द ने सन् 1597 से सन् 1620 तक सात आक्रमण किए किन्तु उन्हें मुँह की खानी पड़ी।

श्री बद्रीदत्त पाण्डे ने भी इस घटना का उल्लेख किया है कि कुमाऊँ के शासक को मानशाह की कुमुकों ने बुरी तरह हराया, मानशाह के सेनापति 'नन्दी' ने कुमाऊँ की राजधानी पर भी अधिकार कर लिया। 'श्री राहुल' का मत भी इसी से मेल खाता है कि गढ़राज्य के सेनापति नन्दी ने 'चम्पावत' को हस्तगत कर लिया था। गढ़वाल के राजकवि 'श्री भरत' ने अपनी रचना 'मानोदेय' में इस विजय का विरूद गाया है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि पंडित शम्भु प्रसाद बहुगुणा ने कवि भरत एवं मुगल दरबार के कवि ज्योतिक राय को एक ही व्यक्ति माना है किन्तु यह एक भ्रान्ति है। ज्योतिक राय नामक कवि गढ़राज्य में नहीं थे। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'ज्योतिकराय' थे तो उनका नाम भरत कवि के साथ जोड़ना गलत है। हो सकता है कि मानशाह के शिलालेख में जो ज्योतिक राय मठाधीश का नाम आया है उसे ही विद्वानों ने विवादास्पद बनाकर कवि भरत का नाम दे दिया हो। किन्तु यह सर्वथा अनुचित एवं अप्रामाणिक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल दरबार में 'ज्योतिकराय' एक पदवी थी जो खगोल विद्या एवं सामुद्रिक शास्त्र में प्रवीण व्यक्ति को मिलती थी। इस नाम का व्यक्ति मुगल दरबार में नहीं था जिसकी पुष्टि श्री टाड की पुस्तक ''एनल्स एन्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान'' भी करती है।

http://uou.ac.in

श्याम शाह

परमार वंश के गरिमामय इतिहास के श्री श्याम शाह चौवालीसवें नक्षत्र थे। उनका नाम प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'जहाँगीर नामा' में भी आया है जिसमें यह लिखा है कि मुगल दरबार ने श्रीनगर के शासक को घोड़े तथा हाथी उपहार स्वरूप भेंट किए। सम्वत् 1672 विक्रमी अर्थात् सन् 1615 ई० का एक ताम्रपत्र उपलब्ध है जिसमें श्री श्याम शाह ने 'सिलासारी' नामक ग्राम में भूमि का एक अंश शिवनाथ जोगी को दान किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्यामशाह सन् 1615 में सत्ता में थे। जहाँगीर ने भी जो घोड़े एवं हाथी उपहार स्वरूप गढ़–नरेश को दिये थे वह बैसाख 1678 विक्रमी अर्थात् सन् 1621 ई० के अप्रैल माह में भेजे थे। श्री डबराल का भी कथन है कि श्याम शाह ने सन् 1611 से 1630 ई० तक शासन किया।

श्यामशाह निःसन्तान थे इसलिए उनके परलोकवास के बाद उनके चाचा श्री महीपत शाह सिंहासन पर सन् 1622 के बाद आरूढ़ हुए।

महीपत शाह

श्याम शाह के अवसान के बाद इस राजवंश को युद्ध–प्रवीण महीपत शाह ने चार–चाँद लगा दिए। वे अपने जीवनकाल में अधिकतर अपने शत्रुओं से ही जूझते रहे एवं उन्हें पराजित करते रहे। इसी कारण उन्होंने गढ़वाल की मही पर ''गर्वभंजन'' की उपाधि से प्रसिद्धि पाई। सन् 1603 से 1721 तक सी वैसल्स द्वारा रचित ''अर्ली जैसूट ट्रैवलर्स इन सैन्ट्रल एशिया'' में एनड्राडे का विवरण छपा है जिसके अन्तर्गत महीपत शाह के तिब्बत अभियान पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक के अनुसार श्री नगर के तत्कालीन नरेश महीपत शाह ने तिब्बत पर तीन आक्रमण किए।

प्रथम अभियान में उनके सैनिकों की संख्या 12,000 थी जिनमें 11,000 बन्दूकधारी सैनिक तथा बीस छोटी–छोटी टुकड़ियाँ थीं, जिनके पास तोपें थीं। द्वितीय अभियान में 20,000 सैनिक थे। तीसरे अभियान में सैनिकों की संख्या बहुत कम थी।

प्राकृतिक परिस्थितियाँ गढ़–नरेश के प्रतिकूल थीं, क्योंकि भयंकर हिमपात के कारण मार्ग अवरूद्ध हो गए। साथ ही प्रत्येक स्थान पर तिब्बत वासियों ने जमकर मुकाबला किया। एनड्राडे के 'माना' छोड़ने के पूर्व ही गढ़नरेश को इन अभियानों में

http://uou.ac.in

असफलता का सामना करना पड़ा, फलतः दोनों राज्यों के मध्य सन्धि–वार्ता सम्पन्न हुई।

सन् 1624 के नवम्बर माह के प्रारम्भ में ही एनड्राडे 'माना' को छोड़कर आगरा पहुँच गया। इस प्रकार डा० डबराल द्वारा दी गई महाराजा श्याम शाह के शासन काल की अवधि सन् 1611 से 1630 ई० गलत प्रमाणित हो जाती हैं। साथ ही एक विशेष बात यह है कि मुगल सम्राट जहाँगीर के काल में गढ़राज्य अपनी स्वतंत्र सत्ता को कायम किये हुए था। इसका प्रमाण एनड्राडे ने आपबीती एक घटना से किया है कि जहाँगीर द्वारा फरमान जारी किये जाने के बावजूद भी उसके साथ गढ़राज्य नरेश ने बुरा व्यवहार किया। यदि गढ़वाल स्वतंत्र रियासत न होती तो गढ़नरेश फरमान प्राप्त व्यक्ति से इतना बुरा व्यवहार करने का दुःस्साहस न करते। एनड्राडे ने सन् 1625 में पुनः गढ़वाल के रास्ते तिब्बत की यात्रा की और इस बार भी गढ़वाल की जमीन पर उसे वही अत्याचार सहने पड़े।

रतूड़ी ने महीपत शाह का 'दापा' या 'दाबा' आक्रमण का उल्लेख किया है, जिनमें उन्हें अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई।

डबराल जी कहते हैं कि महीपत शाह ने सिरमौर के डाकुओं को भी दबाया किन्तु इस घटना की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है।

ऐसा कहा जाता हैं कि महीपत शाह कुमाऊँ युद्ध में मारे गए, जैसा कि वह स्वयं चाहते थे। इसका कारण यह बताया जाता है कि महीपत शाह ने भूल–वश तीन–चार निरपराध नागा साधुओं की हत्या कर दी। उसके बाद एक दिन वे ऋषिकेष में भरत जी के मन्दिर में गए। इनके मन में इनका कृत्य बारम्बार कचोट रहा था। मन की अनुभूति कुछ ऐसी हुई कि इन्हें मन्दिर में अहसास हुआ कि भरत जी की मूर्ति इन्हें अर्थपूर्ण दृष्टि से घूर रही है। मन्दिर के जिस भी स्थल से मूर्ति को देखते थे उन्हें अपने चारों ओर मूर्ति की ज्वालामय दृष्टि ही नजर आने लगी। यह उस पैनी दृष्टि को सह न पाए और हतबुद्धि होकर इन्होंने मूर्ति में से दोनों आँखें निकाल दी। जब वे इस जघन्य कृत्य को कर चुके तब इन्हें महसूस हुआ कि इनका पाप तो और भी बढ़ गया है। आत्म–ग्लानि की वेदना से दग्ध होकर अपने पापों के प्रायश्चित स्वरूप वे मृत्यु की कामना करने लगे। इसलिए वे कुमाऊँ युद्ध में बलिदान हुए।

महीपतशाह के शासन काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद सा है। डॉ० डबराल का कथन है कि महीपतशाह ने सन् 1631 से 1635 ई० तक शासन किया। राहुल के मतानुसार यह अवधि सन् 1625 से 1646 ई० तक की है। जहाँ तक सिंहासनारूढ़ होने की तिथि है वह तो सन् 1622 ही प्रामाणिक है क्योंकि

महीपतशाह, श्यामशाह के उत्तराधिकारी थे। सन् 1622 में श्यामशाह का परलोकवास हुआ तो स्वाभाविक है कि महीपतशाह सन् 1622 में ही गद्दी पर बैठे होंगे।

अब प्रश्न उठता है कि महीपतशाह की मृत्यु किस वर्ष हुई ? 'अर्ली जैसूट ट्रैवलर्स इन सैन्ट्रल एशिया' नामक पुस्तक जिसे 'सी वैसल्स' ने लिखा है उसमें ''अजेवेडो'' नामक यात्री का यात्रा विवरण छपा हुआ है। ''सोसायटी ऑफ जीजस'' ने 'अजेवेडो' को ''मगोर मिशन'' पर 'शापरांग' भेजा था। वह जून 28 सन् 1631 में आगरा से रवाना हुआ और श्रीनगर पहुँच गया। जुलाई 1631 में श्रीनगर में महीपतशाह की अन्त्येष्टि में वह स्वयं उपस्थित था। एनड्राडे के यात्रा विवरणों से भी उपर्युक्त तिथियों को ही बल मिलता है। श्री एटकिन्सन ने अपनी पुस्तक में 'केशव राय के मठ' के एक शिलालेख का उल्लेख किया है जिसमें सन् 1625 ई० में चल रहे महीपतशाह के शासन के विषय में लिखा है किन्तु जब मुझे उक्त स्थान के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो शिलालेख में महीपत षाह का नाम दृष्टिगोचर नहीं हुआ। आसपास रहने वाले लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि सितम्बर 1972 तक खुदा हुआ नाम स्पष्ट दिखाई पड़ता था किन्तु उसके बाद यह मिट सा गया या मिटा दिया गया।

एक अन्य विद्वान 'श्री मैकलैगन' ने अपनी पुस्तक ''दि जैसूट एन्ड द ग्रेट मुगल्स'' में एनड्राडे के यात्रा विवरण की पुष्टि की है और एनड्राडे के सहयात्री का नाम 'मार्क्विस' बताया है। 'सी वैसेल्स' ने भी 'मार्क्विस' का नाम लिखा है। इनकी यात्रा का मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार था। इसी योजना के अन्तर्गत 11 अप्रैल सन् 1626 को एनड्राडे ने शापरांग में एक चर्च की नींव डाली। महीपतशाह के गौरवपूर्ण युग की कहानी अधूरी अनकही सी रह जाती है, यदि उसके तीन अद्वितीय सेनापतियों का नाम न लिखा जाए। एक थे माधोसिंह भन्डारी, दूसरे रिखोला लोदी, तीसरे बनवारीदास। रिखोला लोदी ने सिरमौर, तिब्बत एवं गढ़वाल के दक्षिण भाग को जीतने में अपरिमित शौर्य का प्रदर्शन किया।

वीरता व शौर्य की कड़ी का दूसरा जगमगाता सितारा है माधोसिंह जिसके असीम साहस, धनुष की टंकार से पहाड़ तक काँप जाते थे। 'छोटा चीनी' (तिब्बत में) तुमुल युद्ध चल रहा था। गढ़वाल के बाँके जवान खून की होली खेल रहे थे, जैसे वीरत्व मूर्त्त हो उठा था छोटा चीनी में। क्यों न हो उनका सेनापति था पराक्रम का साकार रूप वीर माधोसिंह। मृत्यु किसी की मीत नहीं होती किन्तु शौर्य व्यक्ति का साथ जिन्दगी की आखिरी साँस तक देता है। एक स्थिति ऐसी आई कि नरकेसरी माधोसिंह चारों ओर से शत्रुओं से घिर गए किन्तु सिंह ने समर्पण नहीं किया, मरणान्तक घाव लग चुके थे। शरीर साथ नहीं दे रहा था परन्तु मन में यह बात साल रही थी कि यदि शीघ्र ही मेरा प्राणान्त हो गया तो मेरे सैनिकों का

मनोबल टूट जाएगा। सेनापति को गढ़राज्य की गरिमा श्री कभी क्षमा न करेगी। बिजली के समान एक विचार कौंधा व तुरन्त उन्होंने अपने अंगरक्षकों को आदेश दिया कि मुझे इसी समय आग में हल्का भूनकर पालथी वाली मुद्रा में पालकी में बैठा दो क्योंकि मरने के बाद शरीर अकड़ जाता है जिस कारण उसे मनचाही मुद्रा में नहीं रखा जा सकता। आदेशों से बँधे, कर्त्तव्य के समक्ष झुके अंगरक्षकों ने बोझिल मन से अपने सर्वाधिक प्रिय सेनापति को (जिसने हर पल, हर क्षण साए की तरह साथ दिया था) यह अनोखी आदर्श बिदायी दी। चैतत्य शरीर भूना, पालकी में बैठा दिया गया किन्तु गढ़वाल के सूरमाओं का मनोबल अटूट रहा, अक्षुण्य बना रहा। माधोसिंह ने दिखा दिया कि उस जैसा सेनापति एक युग में एक ही पैदा होता है जो अजर होता है, अमर होता है।

माधोसिंह ने अपनी सेवाओं से महीपतशाह, रानी कर्णवती एवं पृथ्वीपत शाह को लाभान्वित किया। डॉ० डबराल एवं श्री भक्तदर्शन जी माधोसिंह की शहीदी तिथि सन् 1635 ई० मानते हैं किन्तु सम्वत् 1697 अर्थात् सन् 1640 ई० का एक ताम्रलेख उपलब्ध है जिनमें रानी कर्णवती ने चमोली जिले के 'हाट' ग्राम के एक हटवाल ब्राह्मण को भूमि दान की है जिसमें माधोसिंह को साक्षी बनाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'छोटा चीनी' का युद्ध सन् 1640 के आसपास ही हुआ होगा एवं इसी वर्ष हमारी वीर प्रसविनी का वीर पुत्र अपनी मिट्टी के लिये बलिदान हुआ होगा जिसकी वीरता की कहानी गढ़राज्य में निम्नांकित पंक्तियों में गाई जाती है–

''एक सिंघ रैंदो बण एक सिंघ गाय का,
एक सिंघ माधोसिंह और सिंघ काहे का।''

अर्थात् एक सिंह वन में रहता है, दूसरा भयानक गाय का सींग होता है किन्तु इस भूमि पर तीसरा सिंह तो माधोसिंह ही है।

पृथ्वीपतशाह

महीपतशाह की मृत्यु के बाद उनके कुल दीपक पृथ्वीपतशाह सिंहासन पर सुशोभित हुए। श्री डबराल आदि इतिहासकारों के अनुसार गद्दी पर बैठते समय पृथ्वीपतशाह केवल सात वर्ष के बालक थे। अस्तु इनकी संरक्षिका की हैसियत से इनकी माँ ने शासन चलाया जो कि गढ़वाल में 'नक कट्टी रानी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वास्तव में उनका नाम रानी कर्णवती था जो संवत् 1697 अर्थात् सन् 1640 ई० के ताम्रपत्र से स्पष्ट होता है जिसमें रानी ने 'हाट' निवासी एक हटवाल ब्राह्मण को भूमिदान का पट्टा लिखा है–

''श्री साके 1562 –संवत् 1697 कार्तिक मासे दिन 25 गते रवि दिने श्री नगर पुरूस्थाने श्री महाराजा पृथ्वीपतिशाही देव ले पाजा कदा श्री महाराणी माता कर्णवती ले पागों कर्यो जो कर हाट का बामण देवता को भूमि मान्य धन।''

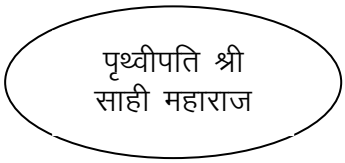

राशि का कर लेंदा छया सो कर जनु राजा मानसाही ज्यूल अथूरा कर दिन्या था। तही भाँति हम ले हाट अकरो कदो हाट लगा दी भूमि आठ घटूड़ी लेक भैंसोड़ो जो धनराशि मांज छौ सो पैले की भेंटि अर्कार करि देई। पत्र साषी पंचपुरोहित श्री कण्ठ माधोसिंह भंडारी और जोगा धैउद नेगी नन्द ठाकुर साधीक बिष्ट माधोंभण्डारी पत्र लिखतम जयदेव बिष्ट सर्वथा।

महारानी कर्णवती का नाम तंत्र यंत्र की एक हस्तलिखित पुस्तक 'साँवरी ग्रन्ध' में भी आया है जो आज भी ठा० शूरबीर सिंहजी के संग्रह में सुरक्षित है। उस ग्रन्थ में भी निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं–

''हिंस पीड माहा कर हे टोक रहे तो माता कर्णवती
को वावली को नीर को पाणी यो परि कर दे नीवाणी।''

श्री डबराल ने इस महान रानी को 'नाक कटी रानी' नाम से सम्बोधित किया है। इसके पीछे हमारे इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ छिपा हुआ है जो आज तक इतिहास की गहराइयों में न जाने कहाँ डूबा हुआ था। घटना शाहजहाँ के युग की है। मुगलिया सल्तनत के उदीयमान सम्राट इस तथ्य से परिचित थे कि गढ़राज्य में एक नारी शासन कर रही है। 'स्टोरिया डू मोगोर' का लेखक 'निकोलस मनूची' लिखता है कि मुगलों की एक लाख पदाति सेना एवं तीसहजार घुड़सवार सेनाओं ने गढ़राज्य पर आक्रमण किया किन्तु मुगल सम्राट शाहजहाँ को विदित न था कि गढ़वाल की यह वीरांगना साक्षात दुर्गा का स्वरूप है। युद्ध के नगाड़े बजे, गढ़राज्य के सूरमाओं ने मुगल सैनिकों को तहस–नहस कर दिया, जो सैनिक बचे उन सब की नाक काट दी गई, यह दिखाने के लिए कि गढ़राज्य से टक्कर लेने का दुःस्साहस करने वाले को जीवन भर अपमान का घूँट पीना पड़ता है। मुगल सेनापति ने भागकर दिल्ली आत्महत्या कर ली।

गढ़राज्य के शौर्य की पुष्टि मुगल दरबार का राजकीय विवरण ''महासिरूल उमरा'' भी करता है जिसके अनुसार इस अभागी सेना की कमान का सेनापति

''नजाबत खाँ'' था। अधिकांश सैनिक मारे गए। नजाबत खाँ भी भाग गया। यद्यपि दरबारी इतिहासकार ने सत्य को छिपाने का अथक प्रयास किया किन्तु एक स्थान पर उसकी लेखनी ने सत्य को उगल ही दिया है कि गढ़वाली रानी ने बची हुई सेनाओं की नाक काट दी।[2]

मुगल सम्राट अपने अपमान को न भूला, वह उन्नीस वर्ष तक प्रतीक्षा करता रहा तथा सन् 1655 ई० में खलीतुल्ला के नेतृत्व में दिल्ली की सेनाओं ने गढ़राज्य की सीमाओं को घेर लिया। उन्होंने सिरमौर के शासक मानधाता प्रकाश एवं कुमाऊँ के शासक बाज बहादुर चन्द की सहायता से दून की घाटी पर विजय प्राप्त कर ली, गढ़राज्य के कुछ दुर्गों पर भी कुछ अंश तक अधिकार कर लिया। 'ओरिएन्टल सीरीज' के अनुसार 'श्रीनगर' अविजित रहा। इसी बीच गढ़वाल के राजकुमार श्री 'मेदिनी शाह' जब दिल्ली गए तो उनका बड़ा भव्य स्वागत हुआ।

सन् 1659 में मुगलों एवं गढ़वाल के मध्य पुनः खाई बढ़ गई। सामूगढ़ के युद्ध में जब दाराशिकोह औरंगजेब से पराजित हुआ तो उसके पुत्र सुलेमान शिकोह ने गढ़वाल नरेश के यहाँ शरण ली क्योंकि मुगल सल्तनत से टकराने का साहस गढ़राज्य को ही था। औरंगजेब ने गढ़राज्य द्वारा अपने शत्रु को शरण देना अपना घोर अपमान समझा एवं उन्होंने पृथ्वीपतशाह को लिखकर भेजा कि वह सुलेमान को तुरन्त दिल्ली भेज दे। पृथ्वी का शौर्य हुंकार उठा, सदियों से संस्कारों में पिरोई हुई यह टेक कि शरणागत की रक्षा ही क्षत्रिय का धर्म है। इतिहास साक्षी है कि राणा हम्मीर ने अपना राज्य, अपना ऐश्वर्य अल्लाउद्दीन खिलजी के दो सामन्तों को शरण देने में खो दिया था। वीर मिट गया किन्तु टेक रह गई। हमारा इतिहास भरा हुआ है ऐसी मिसालों से। पृथ्वीपतशाह भी इसी मार्ग के पथिक थे। उन्होंने मुगल सल्तनत के आका औरंगजेब की चेतावनियों तथा धमकियों की रंचमात्र भी परवाह न की। ट्रैवर्नियर ने अपनी पुस्तक ''ट्रैवल्स इन इन्डिया'' में लिखा है कि दिल्ली सेनाओं ने गढ़वाल को आक्रान्त करने का भरसक प्रयास किया किन्तु गढ़राज्य के सूरमाओं ने उनके छक्के छुड़ा दिये। बर्नियर द्वारा लिखित पुस्तक ''बर्नियूज वौएज टू द ईस्ट इन्डीज'' इस मत की पुष्टि करती है। मनूची ने भी लिखा है कि पृथ्वीशाह ने अपूर्व साहस व शौर्य का प्रदर्शन कर औरंगजेब की धमकियों को ज्यों का त्यों लौटा दिया।

औरंगजेब ने जब देखा कि विजयश्री तो गढ़पति का ही वरण कर रही है तो उसने कूटनीति का सहारा लिया। डॉ० कानूनगों ने अपनी पुस्तक ''दाराशिकोह'' में निम्ननांकित विवरण दिया है–

''श्रीनगर के वृद्ध सरदार को प्रलोभन देने में असफल होकर जयसिंह उसके सर्वशक्ति सम्पन्न ब्राह्मण मन्त्री से षडयन्त्र करने पर उतारू हो गया। ब्राह्मण मन्त्री

को यह अशक्य प्रतीत हुआ कि पलायक राजकुमार का साथ छोड़ने पर वह राजा को प्रलुब्ध कर सकेगा। अतः उसने औषधि के रूप में सुलेमान को घातक विष दे दिया। परन्तु सावधान राजकुमार ने एक बिल्ली पर इसका प्रयोग किया। अपने मंत्री के इस जधन्य प्रयास की सूचना पाकर राजा ने तुरन्त उस दुष्ट का सिर कटवा दिया। आगे चलकर जयसिंह ने राजा के पुत्र मेदिनी सिंह से षडयन्त्र करवाया। उसको प्रोत्साहन दिया कि अपने पिता के प्रति वह औरंगजेब बन जाए।''

जब पृथ्वीपतशाह ने अपने गद्दार सामन्त का सिर कटवा दिया तो गढ़राज्य के अन्य सामन्तों एवं पृथ्वीपतशाह के पारिवारिक सदस्यों में गढ़नरेश के प्रति रोष एवं असन्तोष फैल गया। पृथ्वीपत के उत्तराधिकारी मेदनीशाह ने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। दिल्ली सम्राट ने राजा जयसिंह के पुत्र कुंवर रामसिंह को गढ़वाल इसी उद्देश्य से भेजा कि अभागा मुगल शाहजादा औरंगजेब को सौंप दिया जाए। पृथ्वीपतशाह ने पुनः वही जवाब दिया कि जब तक उनके शरीर में प्राण हैं तब तक सुलेमान शिकोह की रक्षा वे साये की भाँति करेंगे। किन्तु शहजादे ने रामसिंह एवं मेदनीशाह से मिलकर, जो उसके विरूद्ध कपट जाल फैला रहे थे, उसका पूरा पता लगा लिया। बेचारा सुलेमान भयभीत हो बिना पृथ्वीपतशाह को सूचित किए एक रात्रि को चुपचाप तिब्बत की राह पर चल पड़ा। भाग्यचक्र ही उल्टा हो रहा था, समय विपरीत चल रहा था। निरीह राजकुमार राह भूल गया और सीमा प्रान्त पर बसे ग्रामवासियों ने उसे पकड़कर मेदिनीशाह को सौंप दिया व मेदिनीशाह ने रामसिंह के साथ कर दिया। यह घटना 1660 ई० के लगभग रही होगी क्योंकि श्री कानूनगो लिखते हैं कि सुलेमान शिकोह को औरंगजेब के समक्ष 5 जून 1661 ई० के दिन पेश किया गया। पृथ्वीपत को जब सम्पूर्ण घटना ज्ञात हुई तो उन्हें हार्दिक पश्चाताप हुआ कि उन्हीं के खून ने उनके साथ दगा की। मनूची कहता है कि वृद्ध नरेश उसके बाद सदैव यही पश्चातापवश कहते रहते थे कि 'मेरे पुत्र का पाप भविष्य में जरूर रंग लाएगा। राज्य, ऐश्वर्य सब धूल में मिल जाएगा।'

मेदिनीशाह को भी श्रीनगर उसी वर्ष त्यागना पड़ा और वह दिल्ली पहुँचा। पृथ्वीपतशाह ने क्रोधित हो अपने पुत्र को उस जधन्य अपराध के लिये देश निकाला दे दिया था। मेदिनीशाह की सन् 1662 ई० में दिल्ली में ही मृत्यु हो गई। इस घटना का उल्लेख औरंगजेब द्वारा पृथ्वीपतशाह को भेजे गए एक पत्र में मिलता है जो आज भी उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार में उपलब्ध है। डॉ० के० पी० श्रीवास्तव कृत 'मुगल फरमान' में भी उक्त विवरण मिलता है।

यहाँ पर एक मेदिनीशाह से सम्बन्धित भ्रान्ति का उल्लेख भी आवश्यक है। डॉ० डबराल का कथन है कि मेदिनीशाह ने सन् 1660 से 1684 ई० तक गढ़राज्य पर शासन किया किन्तु यह प्रामाणिक तथ्य नहीं है। यह आधारभूत सत्य है कि

पृथ्वीपत ने अपने पुत्र को गढ़राज्य से सदैव के लिए निकाल दिया था। इसलिए उसका पुनः गढ़राज्य में प्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरा प्रमाण औरंगजेब का उक्त उल्लिखित पत्र है जिसमें उसने मेदिनी की मृत्यु की सूचना पृथ्वीपतशाह को भेजी है।

तीसरा प्रमाण है 'मुगल फरमान' नामक पुस्तक में उद्धृत सन् 1665 का एक फरमान जिसमें औरंगजेब ने पृथ्वीपतशाह के पौत्र फतेहशाह को बधाई दी है कि वह अपने दादा की मृत्यु पर अब गढ़राज्य की शासन सत्ता सम्हाले। इससे सिद्ध हो जाता है कि मेदिनीशाह ने गढ़वाल पर कभी शासन नहीं किया।

पृथ्वीपतशाह के काल के तीन अन्य शिलालेख अग्रांकित हैं–

1. यहाँ पर एक विशेष तथ्य को उद्धृत करना आवश्यक है कि पृथ्वीपतशाह सन् 1665 ई० में गोलोक नहीं पधारे थे। मुगल फरमान में यह तिथि गलत लिखी है। यह सन् 1667 ई० तक जीवित रहे थे। हो सकता है कि पृथ्वीपतशाह ने अपने पौत्र फतेहशाह के पक्ष में राजगद्दी को त्यागना चाहा हो किन्तु वास्तविक रूप में यह हुआ नहीं। इस बात की पुष्टि ''इन्डो–चाइना–तिब्बत ट्राएंगिल'' नामक पुस्तक में श्रीराम गोपाल ने एक ताम्रपत्र का उल्लेख किया है।

भारत सरकार ने भारत चीन युद्ध के समय इसी ताम्रपत्र का हवाला दिया था। श्री शान्ताप्रसाद कृत 'चीन पर लाल छाप' में भी इसी ताम्रपत्र का उल्लेख मिलता है।

महाराजा पृथ्वीपतशाह सन् 1667 तक जीवित रहे, इसका प्रमाण एक अन्य ताम्रपत्र में भी मिलता है जो महराजा फतेहशाह के काल में महाराजा पृथ्वीपतशाह की मुहर से युक्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वीपत शाह ने अपने जीवन काल में ही राज्य सत्ता अपने पौत्र को सौंप दी थी। यह ताम्रपत्र आज भी गोरखपंथ के ''पीर'' के पास है, जिसमें 300 वर्ष पूर्व इस पंथ के एक गुरू 'बालक नाथ' के नाम पर राजा फतेहशाह ने भूमि दान किया था।

श्रीनगर के समीप 'भक्तियाणा' गाँव में 'लक्ष्मी नारायण' के मन्दिर के बाह्य भाग में यह खुदा हुआ है–

श्री महालक्ष्मी

स्वस्ति श्री गणेशाय नमः

(1) सम्वत् 1699

श्री साके 1564 मासे बैसाके दिन 14 गते शुल्क पक्षे चथो दस्या तिथो हस्त नक्षत्रे व्याघतथो गे–वि वासरे श्री महाराज पृथ्वीपतिसाही जू को धर्म श्री महालक्ष्मी को अवटाठ श्री गुँसाई नंदद्रावार्त ज्यू को धर्म श्री स्वामी माधवदास ज्यू पूज्य प्रेम को नाम पास कु अप्रात्सिासे ति परम योगे त्रवेन वग।

(2) देव प्रयाग के रघुनाथ जी के मन्दिर के दक्षिण द्वार पर लिखा है–

'श्री रामो जिय ते श्री गणेशाय नमः अथास्मित्त श्री शाके 1586 संवत् 1721 बैशाख मासे शुल्ल पक्षे प्रतिपदा तिथौ प्रथम दिने शुक्रवारे ऐन्द्र योगे श्री रघुनाथ ज्यु का देवालय तामा पत्र चढ़ाया। श्री महाराज पृथ्वीपति ज्यू का राज समेष श्री माधोसिंह भण्डारी सुत श्री गजेसिंह ज्यु की पत्नी परम विचित्र मथुरा वौराणी ज्युल तथा तत्पुत्र अमर सिंह भण्डारी ज्यूले पार चढ़ाया, प्रतिष्ठा कराई कुटुम्ब यात्रा सहित मठपति हरि मिश्र पुरोहित जनार्दन श्री हर्ष पण्डित न लेख्यो देवीदास भगवान कृष्णदास पुरिजा मनिमा देवालय सम्हाचो शुभम्।'

(3) मन्दिर के पश्चिमी द्वार पर खुदा लेख– ''श्री शाके 1586 समवत् 1721 बैशाख माश्या तिथौ पचवारे श्री महाराजाधिकाराज पृथ्वीपतशाहे वजीर गजेसिंह ने तामा पार छत्री छाई लेका उरीरई पासे धणाये षदरू भगीरथ तौना तामा का केवाड़ चढ़ाया मठपति हरि जी मिश्र तै को अधिकारी दूनीचन्द लिषित श्री हर्ष पण्डित आगे रासाल था लो कारीगर नृसिंह देवीदास कल्लदास भगवती दास पुरी जा मनीय शुभम्मस्तु सदाभव छत्री का अगेश की दुआ सुदी दोन सुवम्याल का साल।''

फतेहशाह

गढ़राज्य के गौरव को आगमन की ऊँचाइयों तक ले जाने वाला फतेहशाह, पृथ्वीपतशाह के बाद गद्दी पर बैठा। उनका 'शिवाजी' और गुरू 'गोबिन्दसिंह' की भाँति ही घोड़े पर बैठा हुआ एक चित्र मिलता है जिसमें चित्र के नीचे उनकी उम्र तैंतीस साल लिखी हुई है। इस प्रकार पण्डित हरिकृष्ण रतूड़ी एवं डा० डबराल के इस मत का खन्डन हो जाता है कि फतेहशाह सात वर्ष की उम्र में सिंहासन पर बैठे और उनके वयस्क होने तक उनकी माँ ने संरक्षिका के रूप में शासन की बागडोर अपने हाथें में ली।

http://uou.ac.in

दूसरा तथ्य यह है कि अपने जीवन काल में ही पृथ्वीपत ने इन्हें शासन सौंप दिया था। एक अल्पवयस्क बालक को पृथ्वीपत क्यों शासन का भार देते ? फतेहशाह के शासनकाल के कई ताम्रपत्र अभी भी उपलब्ध है। सन् 1667 ई० तक निर्मित ताम्रपत्रों में पृथ्वीपतशाह की हस्ताक्षरयुक्त मुहर मिलती है जिससे ज्ञात होता है कि राजा फतेहशाह ने अपने बुजुर्गों के प्रति श्रद्धा व कृतज्ञता प्रदर्शित करने हेतु ही ऐसा किया होगा। यह भी फतेहशाह का महान गुण ही कहा जायेगा।

सम्वत् 1757 अर्थात् सन् 1700 ई० का महाराजा फतेहशाह के काल का एक ताम्रपत्र ठा० शूरबीरसिंह जी के संग्रह में आज भी उपलब्ध है यथा–

श्री बदरी जयती

श्री साके 1622 सम्वत् 1757 फाल्गुन मासे दिन 9 व गते मंगल वासरे श्री नग्र स्थाने श्री महाराज फतेपतिशाह देव ज्यूले पाजो कयो भाका पत्र लेषी दीन्यो।

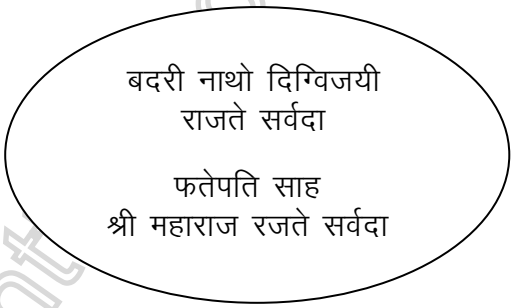

देवल गड़ मंडल मॉझ जो सीरसेड को छ श्री राज राजेश्वरी देवी का भोग को मास सेरो 70 जारा दुकुन्याली मठयाण का नौटीयालु भंग सौंप्यो सदा मद कौं सरो लागदी छीद जौल घट सुधी नौटीयालु ले षाणी कमौणी 4 चार षारे साटी 70 जरा की भगीरथा पथाले बहोतर दोण देवलगढ़ का कमीण मग भरणी छ 30 दोण साटी सेरा का वीज कु राषणी।

सन् 1710 ई० में निर्मित एक दूसरे ताम्रपत्र का नमूना भी देखिये जो श्री शूरबीर जी के संग्रह में उपलब्ध है–

''श्री साके 1632 सम्वत् 1767 पौष बुधवार श्रीनगर शुभ स्थाने श्री महाराजाधिराज श्री फतेपतिसाही देव ज्यूले पाजो कथो सर्वकर अकरो कै दीनो।''

श्री कुमायण जी ले नागपुर मण्डल मॉझ आद ज्यूली भारी गड़तरा का ज्यूला माझ की कार्तिक पूर्नमास्या का दिन गंगा पार संकल्प करी दीनु अदाली झगड़ा आदमीऊ सुदा नलेश्वर कु चड़ाऊँ क भगनानंद कौं दीनी बैन बैकी संतान ले नलेश्वर देवता पूजणो यक नाली नाज रोज प्रति 3 नाली ह्यू तेल मैना प्रति भोग की लाया करणी साक्षी बृहस्पती जी जगन्नाथ ओझा लक्ष्मण भट्ट श्री कुँवर जी रंगी बिष्ट वजीर विद्याधर बगसी तेगसिंह स्याम सी उनमरसी नेगी ज्युणु भंडारी लेषति सीरोमणी डोभाल शुभम्।

इन ताम्र पत्रों के अतिरिक्त श्री फतेहशाह के शासन काल का एक सिक्का भी प्राप्त हुआ है। श्री रतूड़ी ने उस सिक्के के दोनों ओर के चित्र दिए हैं जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अपनी ही भाषा में उस सिक्के में कुछ लिखा है जिससे यह प्रमाणित होता है कि गढ़वाल की स्वतंत्र सत्ता थी।

श्री राहुल साँस्कृत्यायन के अनुसार फतेहशाह की विजय वाहिनी ने तिब्बत तक को आक्रान्त किया। वीरत्व को सम्मान देने हेतु श्री फतेहशाह की तलवार एवं हथियार कई वर्षों तक 'दाबा' के विहार में रखे गये।

सन् 1662 में फतेहशाह की विजय दुन्दूभी सिरमौर की स्थली में भी बज उठी। पौंटा व जॉनसार का एक वृहद् भाग गढ़नरेश ने हस्तगत कर लिया। ठा० देशराज कृत 'सिख इतिहास' में यह विवरण मिलता है कि सिरमौर का शासक गढ़नरेश से इतना भयभीत हो गया कि उसने अपनी रक्षा हेतु गुरू गोविन्द सिंह का आवाहन किया। गुरू जी ने मित्र के नाते श्री फतेहशाह को सिरमौर की मित्रता स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया, साथ ही सिंरमौर के विजित प्रदेशों को लौटाने का आश्वासन भी प्राप्त कर लिया।

श्री देशराज के मतानुसार गुरू जी एवं फतेहशाह अच्छे मित्र थे किन्तु नियति कभी–कभी एक विचित्र अनबुझा, अनचीन्हा सा शत्रुता का रंग भर देती है मित्रता के

आवरण में। ऐसी निर्मम बयार में फतेहशाह व गुरू जी की मित्रता बह गई, खत्म हो गई।

फतेहशाह ने बिलासपुर के शासक राजा भीमचन्द के पुत्र से अपनी कन्या का विवाह किया। सम्भवतः राजा भीमचन्द गुरू गोविन्दसिंह से शत्रुता का भाव रखते थे इसलिये उन्होंने राजा फतेहशाह को मजबूर किया कि वे गुरू द्वारा भेजा हुआ उपहार लौटा दें। यह भी सम्भव है कि राजा भीमचन्द ने यह चेतावनी दी होगी कि यदि फतेहशाह ने उपहार स्वीकार किया तो वे नववधू को उसके पितृगृह में ही छोड़ जायेंगे। किसी भी पिता के लिए इससे बड़ा अपमान जीवन में नहीं है।

गुरू जी की आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में लिखा है कि 'भैंगणी' (जो कि पाँवटा से छः मील की दूरी पर स्थित है) वहाँ गढ़नरेश एवं सिख केसरी के मध्य युद्ध हुआ। इस ग्रन्थ का आदि रूप आज भी ठा० शूरवीरसिंह जी के संग्रह में उपलब्ध है। शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने इसका हिन्दी रूपान्तर कर दिया है जिसमें विस्तारपूर्वक इस युद्ध का वर्णन किया है।

यहाँ मैं कुछ पंक्तियाँ ही लिख रहा हूँ–

देस चाल हमते पुनि भई।
शहर पाँवटा की सुधि लई।।
कालिन्द्री तट करे बिलासा।
अनिक भांति के पेख तमासा।।2।।
ताँह के सिंह घने चुनि मारे।
रोज रीछ बहु भान्ति बिदारे।।
फतह शाहा कोपा तब राजा।
लोह परे हम सो बिनु काजा।।3।।

श्री रतूड़ी के कथनानुार इस युद्ध का अन्त शान्ति के रूप में हुआ, यद्यपि गुरू जी ने अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में लिखा है कि फतेहशाह को झुकना पड़ा किन्तु उन्होंने किसी भी स्थल पर यह नहीं लिखा है कि उन्होंने गढ़वाल के किसी विशेष भू–भाग को विजित कर लिया था। अस्तु यही कहा जा सकता है कि यह निर्णायक युद्ध नहीं था, न इसका कुछ परिणाम ही हुआ।

यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि भैंगणी के युद्ध का कारण जो 'सिख इतिहास' में वर्णित है वह विश्वास करने योग्य है। 'कलकत्ता' से प्रकाशित 'सिख–रिव्यू' के पृष्ठ 48 भाग 14 व 15 में डा० फौजा सिंह ने लिखा है कि भैंगणी का युद्ध गुरूगोविन्द सिंह द्वारा लड़े गये युद्धों में प्रथम था किन्तु

http://ddu.ac.in

फतेहशाह की पुत्री के विवाह के अवसर पर उपहारों को लौटाने का जो कारण आरोपित किया है वह गलत है।

'सिख इतिहास' में फतेहशाह की पुत्री का विवाह भीम चन्द के पुत्र से सम्पन्न हुआ–यह लिखा है किन्तु गुरू जी ने 'विचित्र नाटक' में कहीं पर भी भीमचन्द का उल्लेख नहीं किया है। यदि 'भीमचन्द' युद्ध का कारण होता तो गुरू जी से कम से कम एक स्थान पर तो उसका नाम लिखते। गोविन्दसिंह जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उनकी गढ़वाल से किसी प्रकार की शत्रुता नहीं थी। इससे निष्कर्ष निकलता है कि युद्ध की पहल गढ़राज्य की ओर से ही हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरूजी कुछ काल के लिये 'पौंटा' पधारे थे। पौंटा उस समय गढ़राज्य के अन्तर्गत था। वहाँ रहकर गुरू जी ने सिंहों का शिकार करना आरम्भ कर दिया। यह समाचार श्रीनगर पहुँचा। फतेहशाह ने सोचा कि गुरू जी यदि पौंटा में ही स्थायी आवास बना लें एवं गढ़राज्य को आक्रांत कर दें तो फतेहशाह के लिये वह स्थिति असहनीय एवं दुरूह हो जायेगी।

दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती है कि सिरमौर के राजा मेदिनी प्रकाश ने गुरू जी को पौंटा आने का निमंत्रण दिया होगा। वह गोविन्दसिंह जी का परम भक्त था जैसा कि ''ए शौर्ट स्कैच औफ द लाइफ एन्ड वर्क औफ गुरूगोविन्दसिंह'' नामक पुस्तक के लेखक श्री भक्त लक्ष्मण ने लिखा है। दूसरी ओर गोविन्दसिंह जी के वरद् हस्त की छाया में मेदिनी प्रकाश भी स्वयं को सुरक्षित सा अनुभव करते होंगे। पौंटा में शेरों का शिकार कर जब गुरू जी जनता में अपने शौर्य के लिये प्रसिद्धि पाने लगे तो फतेहशाह का सन्देह करना स्वाभाविक था। इसके फलस्वरूप फतेहशाह एवं गुरू गोविन्द सिंह के मध्य शत्रुता का अंकुर पनप उठा।

गुरूजी ने मेदिनी प्रकाश एवं फतेहशाह के मध्य मित्रता के सम्बन्ध बनाने की चेष्ठा नहीं की क्योंकि गढ़राज्य ने सिरमौर के कुछ भागों को अधिकृत कर लिया था।

राजा फतेहशाह की वीर गाथाओं की अगली कड़ी थी 'कुमाऊँ' जहाँ 'भक्त दर्शन' के कथनानुसार बिना किसी स्थायी परिणाम के आक्रमण किया। जी०आर०सी० विलियम्स ने अपनी पुस्तक ''मैमौयर्स ऑफ देहरादून'' में लिखा है कि फतेहशाह ने सहारनपुर पर आक्रमण किया तथा इरौरा परगने में 'फतेहपुर' नामक नगर बसाया।

फतेहशाह की तलवार की झंकार से जहाँ एक ओर दुश्मन दहल उठते थे दूसरी ओर वह कला का पारखी तथा साहित्य का मर्मज्ञ भी था। वीरता एवं कलात्मक प्रकृति का एक अनोखा सामंजस्य था, एक अनूठा सम्मिश्रण। इतिहास

साक्षी है कि सम्राट अकबर तथा सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की भांति फतेहशाह के दरबार में भी नौ रत्न थे, यथा– श्री सुरेशानन्द बर्थवाल, श्री खेतराम धसमाना, श्री रूद्रीदत्त कमोठी, श्री हरिदत्त नौटियाल, श्री बासवानन्द बहुगुणा, श्री शशिधर डंगवाल, श्री सहदेव चन्दोला, श्री कीर्तिराम कनठोला, तथा श्री हरिदत्त थपलियाल। कुछ कवियों ने फतेहशाह की महानता पर कवित्त रचे, पुस्तकें लिखीं। 'श्री जटाधर' या 'जटाशंकर' द्वारा रचित ''फतेहशाह कर्ण ग्रन्थ'' आज भी देव प्रयाग के पंडित चक्रधर शास्त्री के 'वेदशाला पुस्तकालय' में विद्यमान है।

'श्री रतन कवि या 'श्री क्षेमराम' का हस्तलिखित ग्रन्थ ''फतेहशाह'' ठा० शूरवीरसिंह जी के संग्रह में आज भी उपलब्ध है। ठाकुर साहब ने इस ग्रन्थ का कुछ वर्ष पूर्व सम्पादन कर इसे अलीगढ़ से प्रकाशित भी करवाया था।

उक्त दोनों व्यक्ति फतेहशाह के दरबारी कवि थे। रतन कवि ने 'भूषण' की ही भांति 'फतेहशाह' श्रीनगर की गरिमा का विरूद गाया है उदाहराणार्थः–

''अंग अरषंग दरभंग वंग पंगु देश देश पति संसत
बसत जल गाह से।''
तलफ तिलंगनि कलिंगनी फिरगनी लौ
दिल्ली पति से प्रताप धाम धुरैं लाई से।।
झारषंड दंडद बुन्देलषंड बलपंड हिन्दुन की हद्द
साहैं सेवत सिपाह से।
सेतुबन्ध सिंघल केरल सूपनायक लौं भू पर
विरूपये न भूप फतेसाह से।।''
श्रीनगर की महिमा प्रस्तुत हैः–
''सदन सदन सौहैं सुतन मदन धिर
दामिन कंदबिनी में थित हेम तरू की।
सुकवि रतन सुरपति में सवाई जामें
साहिब सरूप सुकमार सुरतरू की।
करत कुबैर कोति कमनीय कापन के
रूचिराज मारग में अपने सहरू की।।
एक–एक मुख के अलेखे देखियत विधि
अद्भुत सातौं दीप सोभा सीनगर की।।''

दूर अतीत के इतिहास का 'स्वर्णयुग' मानो पुनः गढ़राज्य में साकार हो उठा है। इतनी शान्ति व सुरक्षा है कि लोग घरों में ताले तक नहीं लगाते। 'रतन कवि' कहते हैंः–

''भए विदेशी बावरे लगे वाम की बात।
देव लोक तजि नगर में गरक परम कत जात।।
चष चोरन ते लाज धन राषत द्वार दिवार।
नातो हमरे राज में धावत कौन किवार।।''

तत्कालीन सुप्रसिद्ध विद्वान कविराज सुखदेव मिश्रा ने अपने ग्रन्थ ''वृत्त विचार'' में फतेहशाह के वीरत्व का यशोगान किया हैः–

ऐस न रहत भार सार सो वजन सार,
सूर वीर मार–मार भाषत तथा बरन।
हयखुर थारनि पहारनि ते वार होत,
वरह्यों अकास धौंसु है रह्यों वया वरन।
सुभट संधारे रन भारे सिंह फतेह साहि,
जै जै सुखदेव तहाँ भाषत तथा वरन।
सुर वधु धाइ–धाइ तीरथ समर पाइ,
तीर लागै तीर आइ लागती तिन्हैं वरन।।''

श्री सुखदेव का मूल ग्रन्थ श्री शूरवीर सिंह जी के संग्रह में विद्यमान है। यही नहीं बल्कि भूषण कवि ने भी फतेहशाह की प्रशंसा में कवित्त रचे हैं। 'फतेह प्रकाश' नामक ग्रन्थ के सम्पादन में ठा० शूरवीर सिंह जी ने भूषण कृत दो कविताओं का उद्धरण दिया है। उनमें से एक कवित्त डा० शिव प्रसाद उबराल ने भी उद्धृत किया हैः–

''मोरंग जाहु किजाहु कुमाऊँ सिरीनगरै की कवित्त बनाऊँ

X X X

भूषण गाय फिरौमहि में चित चाह शिवा ही रिझाए।।''

उक्त कवित्त को उद्धृत करने के साथ ही डा० डबराल कहते हैं कि किसी भी शासक विशेष का नाम उपर्युक्त पंक्तियों में नहीं आता इसलिए श्री शूरवीर सिंह

जी का यह भ्रम है कि उक्त प्रशंसा 'फतेहशाह' की है। इसी के साथ डबराल जी यह भी लिखते हैं कि वे पंक्तियां मेदिनीशाह के लिये लिखी गई हैं। यह तथ्य है कि मेदिनीशाह गढ़राज्य की गद्दी पर कभी भी आसीन नहीं हुए–

औरंगजेब के फरमान तथा फतेहशाह के ताम्रपत्र से प्रमाणित हो ही चुका है। अस्तु स्वाभाविक है कि यह पंक्तियां फतेहशाह की प्रशंसा के लिए ही लिखी गईं होंगी जैसा कि ठा० शूरवीर सिंह जी का भी मत है।

हिन्दी जगत के सुप्रसिद्ध 'कवि मतिराम' ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'वृत्त कौमुदी' में भी इन पंक्तियों को उद्धृत किया है। किन्तु इस ग्रन्थ की रचना तिथि डबराल जी ने सम्वत् 1785 अर्थात् 1728 ई० लिखी है। यह मूल ग्रन्थ में उल्लेखित तिथि से मेल नहीं खाती, यथा–

सम्वत् सत्रह सौ बरस अठ्टावन सुभ साल,
कातिक सुदी त्रयोदसी रि विचार सुभ साल। 28
वृत्ति कौमुदी ग्रन्थ की सरसी सिंह सरूप,
रची सुकवि सो पढ़ो सुनो कवि भूप।'' 29

डा० सतयेन्द्र ने भी अक्टूबर 1956 में प्रकाशित आगरा विश्वविद्यालय के शोधपत्र ''भारतीय साहित्य'' के चतुर्थ अंक में मूल ग्रन्थ में लिखित तिथि को ही लिखा है अर्थात् सम्वत् 1758 यानी 1701 ई०।

कवि मतिराम ने वृत्त कोमुदी या ''छन्दसार पिंगल'' में फतेहशाह की भूरि–भूरि प्रशंसा की है तथा उनकी तुलना हिन्दू इतिहास के अक्षुण्य दीपक शिवाजी से की है।

''दाता एक जैसो सिवराज भयो
तैसो अब फतेहसाहि सीनगर साहिबी समाज है।।''

यह मूल ग्रन्थ ठा0 शूरवरीर के संग्रह में है तथा इसके कुछ पृष्ठ नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी में विद्यमान है। वीरता, उदारता जैसे उदात्त गुणों से युक्त इस महान नरेश का रूझान कलात्मक तो था ही दूसरी ओर इनकी प्रवृत्ति अत्यधिक धार्मिक भी थी। 'नाथ पंथ' पर उनकी अटूट श्रद्धा थी जिसका प्रमाण सन् 1668 ई० का एक ताम्रपत्र है जिसमें 'बालकनाथ जोगी' या 'बाल नाथ' के विषय में ही लिखा गया। ये वही सिद्ध हैं जिन्होंने उत्तरी भारत में विशेषतः हिमालय की स्थली में बहुत नाम कमाया है।

''अमर संदेश तथा बाबा बालकनाथ जी का जीवन'' नामक पुस्तक के आधार पर इनका कार्यकाल सन् 1670 ई के आस–पास ठहराया गया है जो कि फतेहशाह का शासन काल भी है। अस्तु, ये दोनों समकालीन थे।

फतेहशाह ने सिख गुरू रामराय को अपने राज्य में सम्मान सहित बुलाया एवं देहरादून में एक गुरूद्वारे के निर्माण का भी स्वागत किया। गुरूद्वारे की आय हेतु तीन ग्राम–खुड़बुड़ा, राजपुर, चामासारी भी दानस्वरूप भेंट कर दिए। बाद में फतेहशाह के पौत्र प्रदीपशाह ने चार गांव छायावाला, भूजनवाला पंडितवारी तथा घाँटावाला भेंट कर दिये। यह जी० आर० सी० विलियम्स का कथन है।

फतेहशाह की मृत्यु

राजा फतेहशाह की मृत्यु कब हुई ? किस तिथि को हुई ? इस पर भी इतिहासकारों में मतभेद है। श्री बैकेट की सूची के अनुसार सम्वत् 1765 अर्थात् 1708 ई० है। डा० पातीराम व डा० डबराल, श्री वौल्टन के मत को मानते हैं जिसके अनुसार सम्वत् 1774 अर्थात् सन् 1717 ई० है। श्री रतूड़ी सन् 1749 , श्री भक्त दर्शन 1715 ई० एवं श्री राहुल सन् 1749 मानते हैं। परन्तु ठा० शूरवीर सिंह के संग्रह में एक ताम्रपत्र आज भी उपलब्ध है जिसके अनुसार फतेहशाह ने सन् 1715 ई० तक निश्चित रूप से शासन किया हैं–

''11 पूष संवत् 1772 विक्रमी

मोहर महाराजा फतेपति साह''

अपोला का दशरथ धआणी प्रति आगे छत सो गाऊँ श्री ..... नाथ जी को मठ को प्रमपरा को चड़भ्यूँ छ तै तुवराड़ों करी सोत्र जोत्र डाड काट जो होव सो मठ का भन्डार दिणो हुक्म ते रंगी बिष्ट छाप लखाई अमरी मंत्र।

इसके अतिरिक्त संवत् 1773 अर्थात् सन् 1716 ई० का राजा प्रदीपशाह के काल का एक और ताम्रपात्र ठाकुर साहब के संग्रह में विद्यमान है जो अग्रांकित हैंः–

श्री साके 1638 संवत् 1773 का माघ मासे दिन 18 गते पूर्णमास्या तिथौं श्री नग्र सुभ स्थाने श्री महाराजाधिराज प्रदीपसाह जी ले पाजो करयो वाको पत्र लेख दिन्यु बदरी नाथो विजयते दिग्विजयी

बदरी विजयते दिग्विजयी

सर्वदा

महाराजा प्रदीपसाह देव

सर्वदा

महराजा प्रदीपशाह देव,

कविरि मन्डल मांझ आलिंगांव छ

तख की जिमी कम जाफ जो छ ताको वज्ज्यूलो क .....7 क चढ़ाई को संकल्प कर कि हरदास वजीर भंग पास साही फौज दूण माँ फते छयाकि कबुलग बावत हमले नंद डिमरी दियाले तख लगदो गाड को छालो–धार को पालो नंद की संतान कूं खाण देणो 8। पथा तेल .....2 क दिवा कु साल को दिया करनों गढ़वाल सन्तान ले ये धर्म माफ अन्यथा जी करणी साक्षी रमापति गुरू गिरधर लाल ओझा लक्ष्मण भट्ट मधुर साह जी विद्याधर जी रणजीत सिंह वषसि वकड की नेगी मुरताल फी की नेगी अमर सिंह लिषित चन्द्रमणि प्रदीप शाह जी ले पाजो करियो वाको पत्र लेख दीन्यो। डंगवाल षोदक गोरि सिंह।।

यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि उक्त दो ताम्रपत्र– एक तो फतेहशाह के शासनकाल में सम्वत् 1772 तथा दूसरा राजा प्रदीपशाह के काल में संवत् 1773 में लिखा गया। अब प्रश्न उठता है कि बीच की अवधि एक वर्ष, एक माह व सात दिन तक गढ़राज्य के सिंहासन को किसने सुशोभित किया होगा ?

श्री भक्तदर्शन एवं श्री वौल्टन का कथन है कि फतेहशाह के बाद दिलीपशाह गद्दी पर आसीन हुए तथा 'श्री मोलाराम' के अनुसार श्री उपेन्द्रशाह–राजा फतेहशाह के उत्तराधिकारी थे। मोलाराम कृत उपेन्द्रशाह का एक चित्र ठा० शूरवीर सिंह जी के संग्रह में उपलब्ध हैं। यद्यपि इससे उपेन्द्रशाह के शासन काल की अवधि का ज्ञान तो नहीं होता किन्तु फिर भी उसके अस्तित्व का तो एहसास हो ही जाता है। उसी संग्रह में विद्यमान 'बिन्दाकोर्ट' का ताम्रपत्र भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि फतेहशाह के ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते उपेन्द्रशाह ही फतेहशाह के बाद सिंहासन पर बैठे। निम्नलिखित पंक्तियाँ (ताम्रपत्र की) उद्धृत हैं:–

''श्री साके 1628 सम्वत् 1763 कार्तिक मासे दिन 9 गते गुरूवारे देविप्रयाग सुभस्थाने श्री महाधिराज फतेहशाही देवज्यूले जोग कह्यो चन्द्रपर्व मा पा धर्मपत्र लेख दीन्यो (1) जो देवल गढ़ मंडल भा सल्डस्यूँ लांग दो

कोलासू गांऊ छ तख की जिमी पर हुक्म पूछी के विध्याधर डोबाल ले धर्माथ विद्याकोटि धर्मशाला राजश्री 5 देवालय बाग बाणयो (1) तख का दिणा वाती भोजक वाला वैष्णव का खाणा खर्च कू भूका प्यासा अतीत अभ्यागत अतिथि को बाग हवेली देवालय की मरम्मत को दुई जोला मठि कोलासू का ठकुरालो वाला वसदा हमले लगाई दीन्यो (1) देविप्रयाग क्षेत्र त्रिवेणी का ऊपर सकला कये (1) श्री विष्णुप्रीत्यर्थ सुन्दरदास वैष्णव का पास सौंफा (1) कोलासू लागदा आदमीयू न सुन्दरदास का या वैकी औलाद सिस सारण जो धर्मशाला रवन तौंका कया मा रहणो (1) कोलासू लागदी छिडविद खाणी कमौणी (1) कोलासू कौं पर देवलगढ़ तौर ताका कमीण वार यहास का सो मैकलियेक भितेरूकै रया वाधका नी थरनो। सो गाँव सर्वकर अकैरो कैफ लगाई दीन्यो। गढ़वाल संतान न लेवण मकौण नी करनो (1) हमारा धर्म को प्रति पालन करन (1) रवेण खपत मा ऊन याफ की माथ करनी (1) साक्षी विहस्पति जी दक्षिण भट रामनाथ श्री कँवर उपेन्द्र साह जी दिलीपसाह जी मधुकर साह जी पहाड़साह जी मदन सिंह भन्डारी विद्याधर डोबाल तेगसिंह स्यामसिंह अमरसिंह ज्यूराइ भन्डारी शुभम (1)

उपेन्द्रशाह के बाद प्रदीपशाह गद्दी पर बैठे।

प्रदीपशाह

श्री रतूड़ी कहते हैं कि प्रदीपशाह ने तीस वर्ष शासन किया और उनका देहान्त 63 वर्ष की उम्र में हुआ। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्यारोहण के समय प्रदीप शाह 33 वर्ष के थे किन्तु डा० शिवप्रसाद डबराल का मत इससे भिन्न है। उनके मतानुसार फतेहशाह की ही भांति प्रदीपशाह राज्यारोहण के समय मात्र पाँच वर्ष के अबोध बालक थे तथा उनकी माँ प्रदीपशाह की संरक्षिका थीं, किन्तु सम्वत् 1773 में लिखित ताम्रपत्र जो प्रदीपशाह के, शासनकाल का है– उसके किसी भी शब्द या पंक्ति से यह जाहिर नहीं होता है कि राज्य की बागडोर सम्हालते समय प्रदीप शाह मात्र शिशु थे। ठा० शूरवीर सिंह के संग्रह में विद्यमान उस ताम्रपत्र में निम्नांकित लेख अंकित है–

श्री साके 1638 संवत् 1783 कार्तिक मासे दिन 18 गते गुरूद्वारे देवीप्रयाग शुभ स्थाने श्री महाराजाधिराज प्रदीपसााह जी ले पाजो करयो वाको पत्र लेख दिन्यु।

सर्वदा

महाराजा प्रदीपसाह देव

कबिरि मंडल मांझ आलिगाँव छ तख की जिमि कम जाफ। जो छ ताँको 1S ज्यूलो क.....7 क चढ़ाई क संकल्प करीक हरदास वजीर मंग पास साही फौज दुण माँ फते छ याकि कुबुलग बावत हमले नंद डिमरी दियाले तख लगदो गाड को छालो धार को पालो नंद की संतान कू खाण देणो 8/पथा तेल 2 क दिवा कुसाल को दिया करनो गढ़वाल संतान ले ये धर्म माफ अन्यथा नी करणी साक्षी रमापति गुरू गिरधर लाल ओझा लक्ष्मण भट्ट मुधुकर साह जी विद्याधर जी रणजीत सिंह वषसि खेकऊ को नेगी मुरताल फि को नेगी अमरसिंह लिखित चन्द्रमणि डंगवाल खोदक गोरिसिंह

साहस्वादत्ता द्विगुणं पुरायं परदत्तानु
पाल नात् परदत्ता
पहोरणा स्वदत्त निस्फलं भवेत।
स्वदत्तात् परदत्तंवा यो हरेति बसुन्धरा षष्टि वर्ष
सहस्त्राणी विष्टायां जापते त्यति।
भूपो–भूपो भाविता भूमि पाला नत्वा नत्वा
याचते रामचन्द सामनोदयं धर्म सेतुर्नराणां
सेते कालो आणियो भवन्ति।

इस ताम्रपत्र से दो तथ्य प्रकाश में आते हैं। प्रथम तो उपेन्द्रशाह के शासनकाल का ज्ञान होता है। द्वितीय प्रदीपशाह की सिंहासनारोहण के समय की उचित अवस्था का पता लगता है। यदि वास्तव में प्रदीपशाह राज्यारोहण के समय अल्पवयस्क होते तो संवत् 1697 में निर्गमित ताम्रपत्र में जिस प्रकार रानी कर्णवती का नाम संरक्षिका के रूप में अंकित हुआ है उसी प्रकार प्रदीपशाह की माँ का नाम भी उक्त ताम्रपत्र में अंकित होता।

इस विषय से ही सम्बन्धित डॉ० शिवप्रसाद डबराल एक अन्य तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि प्रदीपशाह के अल्पवयस्क रहने तक गढ़राज्य में मंत्रियों के विभिन्न गुट सशक्त हो चुके थे। इनमें 'पूरनमल' या 'पुरिया' 'नैथाणी' का नाम विशेष रूप से लिखा गया है। हो सकता है कि उन्होंने श्री भक्तदर्शन सिंह जी की

पुस्तक ''गढ़वाल की दिवंगत विभूतियों'' में वर्णित निम्नांकित पक्तियों से यह निष्कर्ष निकाला होः–

''सम्राट पुरिया सुन के मुसकाए, हाथी घोरा ताहि दिखाए।'' यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब प्रदीपशाह सिंहासन पर विराजमान हैं उस समय यदि उनका कोई भी सामन्त कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो जाता फिर भी उसे 'सम्राट' की उपाधि नहीं मिल सकती थी। 'सम्राट पुरिया' का अर्थ निकलता है कि उस समय प्रदीपशाह नहीं बल्कि 'पुरिया' राजा था, जो कि सत्य नहीं है।

दूसरा विरोधी तथ्य यह है कि 'पुरिया' शब्द वास्तविक नाम का अपभ्रंश है एवं सम्मान सूचक भी नहीं। किसी राजा या उच्च सामन्त को ऐसे निम्न स्तर से सम्बोधित करना किसी भी युग में नहीं होता। एक ओर तो 'सम्राट' लिखा जाए और दूसरी ओर 'पुरिया'। वास्तव में ये पंक्तियाँ निम्नांकित होंगीः–

''महाराजा सुनि के मुसकाए, हाथी घोरा ताहि दिलाए।''

लिखने वाले ने पुरिया शब्द को जबरन ठूंस कर अर्थ का अनर्थ कर दिया, जिससे डॉ० डबराल का मत भ्रमात्मक सा हो गया है।

राजा प्रदीपशाह कालीन चार अभिलेखों– सम्वत् 1782, सम्वत् 1791 सम्वत् 1802, सम्वत् 1812 का गढ़वाल गजेटियर एवं डॉ० डबराल ने उल्लेख किया है किन्तु अब ये उपलब्ध नहीं हैं।

राजा प्रदीपशाह के काल का एक सिक्का लखनऊ के म्यूजियम में उपलब्ध है। जिसके ऊपर लिखा है कि गढ़वाल का राजा तथा नीचे के भाग में लिखा है प्रदीपशाह सन् 1717 से 1757 ई० तक। किन्तु यहाँ पर इस तथ्य को लिखना आवश्यक है कि उक्त अवधि सरासर अशुद्ध है। वास्तव में उसके शासनकाल की शुद्ध तिथि है सन् 1716 से 1772 ई०।

राजा प्रदीपशाह के काल में कुमाऊँ एवं गढ़राज्य के मध्य अच्छे सम्बन्ध थे। रोहेला कुमुकों ने जब कुमाऊँ को आक्रांत किया तो कुमाऊँ के राजा कल्याणचन्द के सहायतार्थ प्रदीपशाह ने गढ़वाल के रणबाँकुरे भेजे किन्तु दोनों राज्यों की सम्मिलित सेनायें भी रोहेलों को पीछे न मोड़ सकीं। तत्पश्चात् सन्धि हुई। रोहेलों ने तीन लाख रूपये कुमाऊँ नरेश से मांगे। मित्रता की रक्षार्थ प्रदीपशाह ने गढ़वाल के राजकोष से इसका भुगतान किया। तब रोहेले अपने राज्य को लौट गये। रोहेलों ने अपने सेनापति नजीब खाँ की कमान के अन्तर्गत भाबर एवं दून की घाटी भी गढ़राज्य से छीन ली थी। कालान्तर में 31 अक्टूबर 1770 ई० को दून गढ़राज्य द्वारा हस्तगत कर लिया गया।

http://ouuc.in

प्रदीपशाह की मृत्यु

बैकेट द्वारा उद्धृत सूची, 'गढ़वाल एनशियेन्ट एण्ड माडर्न' के रचयिता डॉ० पातीराम परमार तथा एटकिन्सन का मत है कि प्रदीपशाह सम्वत् 1829 में परलोक सिधारे। सम्वत् 1829 अर्थात् सन् 1772 तक उन्होंने गढ़राज्य पर शासन किया। इसके प्रमाण में श्री राहुल ने एक ताम्रपत्र का भी उल्लेख किया है। सन् 1716 में वे गद्दी पर बैठे एवं सन् 1772 में मृत्यु को प्राप्त हुए। इस प्रकार उन्होंने 56 वर्ष तक राज्य किया। उक्त प्रमाणिक तिथि से पण्डित हरिकृष्ण रतूड़ी द्वारा लिखी गई अवधि सन् 1750 से 1780 मेल नहीं खाती। अस्तु, श्री रतूड़ी जी द्वारा लिखी श्री प्रदीपशाह के शासनकाल की तिथि सर्वथा असत्य एवं अप्रामाणिक है।

राजा प्रदीपशाह के काल में गढ़राज्य वैभवपूर्ण था, जैसा कि श्री विलियम्स ने भी कहा–''प्रदीपशाह का शासनकाल शान्तिपूर्ण एवं ऐश्वर्यशाली था। दून की उपत्यका हरीभरी थी, जहाँ तनिक श्रम करने पर कृषक लहलहाती खेती काटते थे।

ललितशाह या ललिपतशाह

प्रदीपशाह के अवसान के पश्चात 29 गते मंगसीर 1829 अर्थात् दिसम्बर 1772 में श्री ललित शाह गढ़वाल के राज्य सिंहासन पर सुशोभित हुए। उनके शासनकाल में सिखों ने दो बार सन् 1775 एवं सन् 1778 ई० में दून को आक्रांत किया किन्तु राजा ललिपतशाह इसका प्रतिरोध न कर पाए क्योंकि सन् 1778 ई० में गढ़राज्य तथा कुमाऊँ के मध्य युद्ध की घटायें घिर चुकीं थीं। फिर भी सिखों के इन दो आक्रमणों का रंचमात्र भी विनाशकारी प्रभाव गढ़राज्य की स्थली पर नहीं पड़ा।

उस समय राजा दीपचन्द कुर्मांचल के शासक थे। गृहकलह की एक ऐसी भयावह आँधी आई कि कुमाऊँ अशान्ति, द्वेष के बादलों से घिर गया। इसी बीच सन् 1717 ई० में 'मोहन सिंह रौतेला' नामक व्यक्ति ने राजा दीपचन्द के जीवित रहते स्वयं को कुमाऊँ नरेश घोषित कर दिया। मन्त्रियों ने उसका साथ नहीं दिया तथा विशेषतः हर्षदेव जोशी जी ने गढ़नरेश ललितशाह को कूर्मांचल विजय के लिये आमंत्रित किया। ललितशाह अपनी महती सेनाओं के साथ कुमाऊँ पधारे; मोहनसिंह या मोहनचन्द युद्ध में पराजित हो भाग गए। श्री ललितशाह ने पंडित हर्षदेव जोशी की सहायता से अपने द्वितीय पुत्र कुँवर प्रद्युम्नशाह को कुमाऊँ के राजसिंहासन पर आरूढ़ किया एवं हर्षदेव जी को उनका प्रधानमंत्री नियुक्त किया। प्रद्युम्नशाह ने स्वयं को राजा दीपचन्द का दत्तक पुत्र घोषित कर 'प्रद्युम्न चंद' नाम ग्रहण किया। अपने पुत्र प्रद्युम्न से विदाई ले जब श्री ललितशाह 'गढ़राज्य' को लौट रहे थे कि उन्हें मार्ग में ही मलेरिया हो गया और 'दुलड़ी' नामक स्थान पर ही महाकाल के

http://uou.ac.in

क्रूर हाथों ने उन्हें अपने में समेट लिया। राजा ललितशाह के चार पुत्र थे—जयकृतशाह, प्रद्युम्नशाह, पराक्रमशाह तथा प्रीतमशाह।

जयकृतशाह एवं प्रद्युम्नशाह सौतेले भाई थे और इन दोनों में परस्पर शत्रुता थी। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण जयकृत अपने पिता के देहान्त के बाद गद्दी पर बैठे (अगस्त 1780 ई० में)। पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी एवं पंडित बद्रीदत्त पाण्डे ने भी अपने ग्रंथों में (''गढ़वाल का इतिहास'' व ''कुमाऊँ का इतिहास'' में) इस घटना का वर्णन किया है।

(i) बैकेट की सूची में जयकृतशाह के राज्यारोहण एवं शासन की तिथि सन् 1780 से 1786 ई० तक।

(ii) 'गढ़वाल पेन्टिंगस' के लेखक श्री मुकन्दीलाल के अनुसार सन् 1780 से 1785 ई० तक।

(iii) किन्तु श्री रतूड़ी जी की तिथि यहाँ भी मेल नहीं खाती। उन्होंने सन् 1701 से सन् 1796 ई० तक जयकृतशाह का शासनकाल माना है।

गद्दी में बैठने के बाद भी इन दोनों के बीच की खाई ज्यों की त्यों बनी रही। जयकृतशाह तो नीचता की इस सीमा तक पहुंचे कि उन्होंने अपने भाई प्रद्युम्न को कुमाऊँ के सिंहासन से हटाने के लिये विद्रोही मोहनसिंह को सहायता भी दी। इससे क्रुद्ध होकर प्रद्युम्नचन्द ने देवलगढ़ को लूटा तथा श्रीनगर पर आक्रमण किया। श्रीनगर में वह तीन वर्ष तक रहा और उसके बाद वह कुमाऊँ को लौटा। गढ़वाल के विख्यात चित्रकार श्री मोलाराम ने भी इस कथन की पुष्टि की है।

जयकृतशाह के राज्यकाल में उनके मंत्रियों एवं पदाधिकारियों के मध्य सदैव ही तनाव बना रहता था। इनमें मुख्यतः डोभाल तथा खन्डूरी थे जो राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त थे। कुमाऊँ के जोशी लोग भी हस्तक्षेप करने का प्रयास करते रहते थे। इन सबमें सर्वाधिक शक्तिशाली कृपाराम डोभाल झगडों की जड़ था। इस व्यक्ति की तानाशाही प्रवृत्ति इतनी अधिक विषाक्त हो चुकी थीं कि जो व्यक्ति तनिक भी इसका विरोध करता था उसका एक ही अंजाम होता था 'मौत'।

अत्याचार की इन अंधेरी गलियों से उबरने के लिये 'नेगी' जाति के सदस्यों ने 'दून' से श्रीनगर तक के गर्वनर 'ठा० घमन्ड सिंह मियाँ' को आमंत्रित किया एवं डोभाल के अत्याचारों की एक लम्बी कहानी सुनाई। 'ठा० घमण्ड सिंह' ने खुले दरबार में डोभाल की गर्दन काट दी, उसके साथियों को कैद कर दिया तथा श्रीनगर के राजकोष को लूट कर गढ़ सैनिकों का बहुत काल से रोका हुआ वेतन दे दिया। अजबराम ने भी घमण्ड सिंह का साथ दिया। सम्पूर्ण गढ़राज्य में आतंक

http://ignou.ac.in

का राज्य कायम हो गया। इसी बीच सिंखों ने भाबर, दून एवं सलाणी में खूब लूट–मार की। 'श्री मोलाराम' कहते हैं कि चारों ओर से निराश जयकृत शाह ने 'मोलाराम जी' को मंत्रणा के लिये बुलाया और सिरमौर के शासक जगत प्रकाष को पत्र लिखवाया कि वे गढ़नरेश को सहायता दें। रणकुशल जगत प्रकाश अपनी सेनाओं के साथ गढ़राज्य की रक्षा हेतु अपने देश से चल पड़ा। मार्ग में विजयराम नेगी ने कुमाऊँ की सेनाओं व अपनी सेनाओं की सम्मिलित शक्ति से जगत प्रकाश की राह अवरूद्ध करने का प्रयास किया किन्तु वीरत्व के साकार रूप सिरमौर नरेश ने 'कपरोली' नामक स्थान पर उस सामूहिक शक्ति को क्षत्विक्षत् कर दिया। विजयराम वीरगति को प्राप्त हुए। विजयी सेना आगे बढ़ी। घमन्ड सिंह की तलवार से जगत प्रकाश की तलवार टकराई, घमन्ड सिंह रवेत रहे। जयकृतशाह के इन दो प्रतिद्वन्दियों का वध कर सिरमौर नरेश गढ़वाल पधारे। वहाँ की आन्तरिक दशा को सुधारकर शान्ति एवं सुरक्षा का वातावरण प्रदान कर वीर जगत प्रकाश सिरमौर लौटे किन्तु जयकृतशाह के भाग्य में सुख नहीं था। जगत प्रकाष के सिरमौर लौटने पर जयकृतषाह अपनी 'कुलदेवी' की पूजा करने देवलगढ़ पहुंचे। गढ़वाल के कुछ मंत्रियों ने इसकी सूचना प्रद्युम्नशाह को दी। प्रद्युम्नशाह ने अपनी कुमुकों के साथ गढ़राज्य में प्रवेश किया एवं गढ़वाल को रौंद डाला। तीन वर्ष तक प्रद्युम्नशाह ने श्रीनगर में निवास कर शासन करने का भी प्रयास किया किन्तु फिर वह कुमायूँ चले गये। 'प्रद्युम्न' के कुमाऊँ लौटने पर जयकृत ने पुनः गढ़राजय की बागडोर सम्भाली किन्तु आन्तरिक कलह पुनः उभर गया। ये ही नहीं, उनके परम विश्वासपात्र धनीराम ने ही उन्हें धोखा दिया। इस पर जयकृत अन्दर से टूट गये और अत्यधिक निराश, मानसिक क्लान्ति से थककर देव प्रयाग के रघुनाथ जी के मन्दिर में गये जहाँ अपने निवास के चौथे दिन ही उनका देहान्त हो गया। उनकी चार रानियाँ उनकी पार्थिव देह के साथ सती हो गई। मोलाराम कहते हैं कि मरते समय उन्होंने प्रद्युम्नशाह, पराक्रमशाह तथा अन्य मंत्रियों को श्राप दिया।

प्रद्युम्नशाह

डा० डबराल के कथनानुसार जयकृतशाह की मृत्यु के बाद प्रद्युम्नशाह एवं पराक्रमशाह दोनों ही गढ़वाल आए। उनके साथ हर्षदेवजोशी भी थे। पं० बद्रीदत्त पाण्डे का मत है कि प्रद्युम्नशाह को गढ़वाल एवं कुमाऊँ दोनों का नरेश घोषित कर दिया गया था जिसका स्वागत दोनों ही राज्यों की प्रजा ने किया, किन्तु प्रद्युम्न के अनुज पराक्रमशाह इस घोषणा से क्षुब्ध हुए क्योंकि वे गढ़राज्य के सिंहासन पर आसीन होना चाहते थे। सन् 1785 ई० में हर्षदेव जोशी ने प्रद्युम्नशाह के प्रतिनिधि के रूप में कुमाऊँ पर शासन करना प्रारम्भ किया किन्तु मोहन चन्द ने इसका विरोध किया। यही नहीं अपने भाई लालसिंह की सहायता से उसने कुमाऊँ पर

आक्रमण किया। सन् 1786 ई० में पाली गाँव के युद्ध में वह विजयी हुआ, हर्षदेव जी श्रीनगर भाग गए।

कुमाऊँ की राजनीति में आलोड़न हो ही रहे थे। मोहनचन्द का शासनतंत्र भी दीर्घकालीन न रहा, सन् 1788 ई० में हर्षदेव जोशी ने एक बड़ी सेना के साथ कुमाऊँ पर आक्रमण कर दिया। मोहनचन्द तथा लालसिंह पराजित हुए। हर्षदेव ने मोहनचन्द एवं लालसिंह को कैंद कर दिया तथा कुछ दिवस पश्चात मोहनचन्द की हत्या कर दी। कुमाऊँ को पूर्णतः हस्तगत करने के पश्चात हर्षदेव ने प्रद्युम्नशाह को अल्मोड़ा आने का निमन्त्रण दिया।

प्रद्युम्नशाह ने अस्वीकृति भेज दी। पराक्रमशाह जिन्होंने मोहनचन्द को पालीगाँव के युद्ध में भी सहायता दी थी वे मोहनचन्द के पुत्र को कुमाऊँ पर आसीन करना चाहते थे इसलिए उन्होंने भी प्रद्युम्नशाह को कुमाऊँ न लौटने की सलाह दी। हर्षदेव जोशी ने कुछ, काल तक तो कुमाऊँ में एक राजा के रूप शासन किया तत्पश्चात् उसने शिवसिंह रौतेला नामक एक व्यक्ति 'शिवचन्द' के नाम से कुमाऊँ के राजसिंहासन पर बैठा दिया। वास्तविक रूप में यह हर्षदेव के हाथ की कठपुतली था। इसी मध्यान्तर में मोहनचन्द के भाई लालसिंह ने रामपुर के नवाब फैजाउल्लखाँ (अल्मोड़ा गजेटियर) की सहायता से कुमाऊँ को घेर लिया। हर्षदेव पराजित हो शिवचन्द के साथ गढ़राज्य की ओर भागे। जब वे दोनों उल्कागढ़ पहुँचे ही थे कि लाल सिंह पीछा करता हुआ उल्कागढ़ ही पहुँच गया। पुनः दोनों के मध्य युद्ध की दुन्दुभी बज उठी किन्तु विजयीश्री हर्षदेव को प्राप्त हुई। कोसी नदी तक लालसिंह को खदेड़ दिया गया पर विजय का उल्लास हर्षदेव के भाग्य में अधिक दिनों तक बंधा न था। पराक्रमशाह ने अपनी सेनाओं के साथ लालसिंह की कमान सम्भाली। फलतः हर्ष देव बुरी तरह पराजित हो प्रद्युम्नशाह की शरण में चले गये। अभागा शिवचन्द इतिहास की गहराइयों में जाने कहाँ खो गया। प्रद्युम्नशाह ने हर्षदेव को 'पैंडलस्यू' में एक बड़ी जागीर प्रदान की। इस घटना के बाद पराक्रमशाह अल्मोड़ा गये। वहाँ स्वर्गीय मोहनचन्द के पुत्र महेन्द्रसिंह को कुमाऊँ की बागडोर सौंपकर एवं उससे 40,000 रूपया नजराना लेकर जोशी दल के कुछ सक्रिय सदस्यों की हत्या करवाकर एवं कुछ लोगों की विद्रोही प्रवृत्ति को अन्य कड़े उपक्रमों से दबाकर पराक्रमशाह लौट गए।

प्रद्युम्नशाह सन् 1786 ई० में जब से अल्मोड़ा को ठुकराकर गढ़राज्य की गद्दी पर सुशोभित हुए, उस दिन से ही उनका भाग्यचक्र कुछ ऐसा उल्टा कि उन्हें एक पल के लिये भी शान्ति प्राप्त न हुई। इस अशान्ति एवं समस्याओं का सृजनकर्त्ता उनका अपना ही भाई पराक्रमशाह था जो विलासी, दुराचारी एवं चरित्रहीन राजकुमार था। तत्कालीन इतिहासकार श्री मोलाराम ने अपने ग्रन्थ 'गढ़ गीता संग्राम' या 'गणिका नाटक' में पराक्रमशाह की काली करतूतों का पर्दाफाश

किया है। यह हस्तलिखित ग्रन्थ आज भी ठा० शूरवीर सिंह जी के संग्रह में विद्यमान है।

इस ग्रन्थ के अनुसार पराक्रमशाह ने गढ़वाली कवि मोलाराम की गणिका को छीन लिया, उनकी जागीर भी हड़प ली। प्रद्युम्नशाह के वफादार मंत्रियों– खन्डूरी भाइयों, रामा एवं धरणी की हत्या भी करवा दी। यही नहीं उन्होंने प्रद्युम्नशाह को बन्दी भी बना लिया। परिस्थितियाँ इतनी विषम हो गईं कि प्रद्युम्नशाह के उत्तराधिकारी सुदर्शनशाह एवं पराक्रम के मध्य युद्ध की विभीषिकाओं ने भीषण रूप धारण कर लिया। सेनायें दो गुटों में बंट गईं, गृहयुद्ध की घटाओं से समग्र गढ़राज्य घिर गया। सन् 1801 ई० में गोरखों ने गढ़राज्य की आन्तरिक परिस्थितियों को सुअवसर जान अपना एक प्रतिनिधि गढ़वाल भेजा जिससे राज्य के आन्तरिक क्षेत्र में गोरखों को हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल सके। इससे पूर्व भी सन् 1791 ई० में गोरखों ने गढ़वाल पर आक्रमण किया था। श्री हर्षदेव जोशी के आमंत्रण पर उन्होंने सन् 1790 ई० में अल्मोड़ा विजित किया तब गढ़वाल की ओर बढ़े किन्तु 'लंगूरगढ़' नामक स्थान पर सन् 1791 ई ० में वे पराजित हुए। तत्काल ही उन्हें यह सूचना मिली कि चीन ने नेपाल पर चढ़ाई कर दी है। उन्होंने गढ़नरेश से एक सन्धि की व नेपाल लौट गये। प्रद्युम्नशाह ने राज्य की समस्याओं को देखते हुए एवं आगामी आक्रमणों से बचने के लिये गोरखाओं को प्रति वर्ष 25,000 रू० की धनराशि देना स्वीकार कर लिया। फिर भी गोरखे गढ़राज्य को विजित करने का अवसर ढूढते रहते थे। दूसरी ओर गढ़राज्य अत्यधिक दुर्बल होता चला जा रहा था। इसके कई कारण थे।

पहला कारण था गृहयुद्ध तथा गुटबन्दी। दूसरा कारण था गढ़नरेश का मंत्रियों के हाथ की कठपुतली बन जाना।

इन मनुष्य कृत समस्याओं के अतिरिक्त प्रकृति भी विमुख हो रही थी। सम्वत् 1851–52 अर्थात् 1795 ई० में गढ़वाल में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जो अभी तक इकावनी–बावनी के नाम से जाना जाता है, बल्कि गढ़वाल में 'बावनी' शब्द का प्रयोग ही अब दुर्भिक्ष के लिये किया जाता है। सन् 1803 ई० में गढ़राज्य में भूकम्प का प्रकोप हुआ जिसके फलस्वरूप श्री रतूड़ी के अनुसार केवल 20 प्रतिशत या 25 प्रतिशत लोग जीवित बचे। कुमाऊँ इतिहास के लेखक एवं प्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी श्री बद्री दत्त पाण्डे ने लिखा है कि इस भूकम्प की अवधि 7 दिन और सात रातें थीं। उक्त कारणों का परिणाम यह हुआ कि गढ़राज्य की जनता का मनोबल टूट गया। उपयुक्त अवसर मिल जाने पर रतूड़ी जी कहते हैं कि एक विशाल सेना के साथ गोरखों ने गढ़वाल पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि गढ़राज्य के रणबाँकुरों ने अपरिमित शौर्य एवं वीरता का प्रदर्शन किया किन्तु संख्या में अत्यन्त अल्प होने के कारण हर जगह वे रवेत रहे। गोरखों के प्रसिद्ध सेनापति हस्तीदल चतुरिया एवं

अमर सिंह थापा के झन्डे के नीचे गोरखों ने भयंकर मार–काट मचाई। प्रद्युम्नशाह ने अपनी कुमुकों के साथ अलकनन्दा को पार किया किन्तु उन्हें उत्तरकाशी की ओर मुड़ना पड़ा। गोरखों ने उनका पीछा किया तथा 'बाराहाट' या उत्तरकाशी में दूसरी बार पराजित किया। तत्पश्चात वे मैदानी क्षेत्र की ओर भागे, गोरखों ने वहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। 'चमुआ' या 'चम्बा' नामक स्थान पर गोरखा सेनाओं को पुनः विजय प्राप्त हुई और अन्तिम निर्णायक युद्ध देहरादून के निकट 'खुड़बुड़ा' नामक स्थान पर हुआ जहाँ प्रद्युम्नशाह वीरगति को प्राप्त हुए। गोरखों ने मृतात्मा की हरिद्वार में राजकीय सम्मान के साथ अन्त्येष्टि की।

खुड़बुड़ा के युद्ध की सत्यता की पुष्टि डॉ० पातिराम परमार, श्री रतूड़ी व श्री ए० आर० गिल अपने ग्रन्थ (वैली ऑफ द दून) में करते हैं। अब तक गोरखों ने कुमाऊँ, सिरमौर तथा शिमला के पहाड़ी स्थलों को अधिकृत कर लिया था। सन् 1803 में उन्होंने गढ़राज्य पर आक्रमण किया। तत्कालीन गढ़नरेश ने अपना बहुमूल्य सिंहासन सहारनपुर में बेचा एवं 12,000 सैनिकों को अपनी सेना में भर्ती किया। इनमें मुख्य रांगड़, पुन्डीर व गूजर जाति के सैनिक थे। 'लन्दौर' के गूजर राजा रायदयालसिंह ने भी सहायता दी।

'खुड़बुड़ा' नामक स्थान पर गढ़नरेश प्रद्युम्नशाह ने अपने राज्य को पुनः हस्तगत करने के लिये अन्तिम प्रयास किया किन्तु असफल रहा और यही स्थल उनकी समाधि बन गया।

प्रद्युम्नशाह के देहान्त की निश्चित तिथि के निर्धारण में भी इतिहासकार एकमत नहीं हो पाते। श्री गिल जनवरी 1804 ई० कहते हैं और श्री रतूड़ी जी 14 मई 1804 ई० बताते हैं। रतूड़ी जी का मत अधिक विश्वसनीय एवं सशक्त इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि वे गढ़नरेश कीर्तिशाह के काल में गढ़वाल के प्रधानमंत्री थे। टेहरी में प्रद्युम्नशाह का श्राद्ध मनाया जाता होगा इसलिए उन्होंने एक निश्चित तिथि 14 मई दी है। उनके काल के तीन ताम्रपत्र अभी तक उपलब्ध हैं जिनमें से एक ताम्रपत्र ठा० शूरबीरसिंह जी के संग्रह में विद्यमान है, जिनमें निम्नांकित पंक्तियां लिखि हुई हैं–

''श्री साके 1710 संवत्सरे 1845 जेष्ठे 26 दिने श्री महाराजा प्रद्युम्नशाह देव ज्यूल पांजी करीक भाषा पत्र करी दीन्यो।

दसोली मांझ 1।।S डेढ़ ज्यूलो भाटा .....को सूर्य ग्रह माँझ श्री बदरीनाथ जी प्रीती संकल्प करीक वतन दाबल पंच पुरोहित मिसल सर्व कर अकर करीक वंचु कोठवाल दीन्यो येई देड ज्यूला लागदो गाड को छालो धार को पालो बाणों कमौणों येइ देड ज्यूला जागदा आदम्युं ले तेरा

कह्यां रहणो। येई डेड ज्यूला प्रतिवर्ष मन्यका 15S दोण चौंल भोग को 12। पथा तैल दीवा कों रावल जी पास दीजू जालो गढ़वाल संतान ले येई धर्म माँझ चंचु धै वंचु की संतान मांझ अन्यथा नी करणो साक्षी श्री कुमार पराक्रम साह जी गुरू जयदेव पाँडे जी श्री पति फत्तेबहादुर को नेगी अनूप सिंह रौतेला वजीर जयदेव डंगवाल दफतरी हरीदत्त षडूड़ी खौंई को फौजदार गजेसिंह नेगी दिवाने मोहनसिंह रावत चैकों नेगी दानसिंह कुचेलों फरियों को नेगी इन्द्रसिंह वागदी लेषक कामदेव षंडूड़ी।''

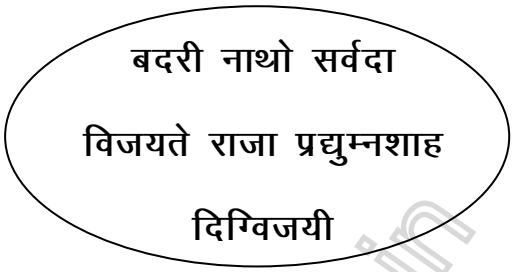

प्रद्युम्नशाह के काल का दूसरा ताम्रपत्र श्रीनगर में कमलेश्वर के मन्दिर के प्रधान पुजारी के पास है।

श्री डबराल ने प्रद्युम्नशाह के शासनकाल को कुशासन एवं निर्धनता की खोह में डूबा हुआ बताया है। इसके साथ ही वह प्रद्युम्नशाह के व्यक्तित्व पर भी यह आरोपित करते हैं कि वह स्त्रियोचित गुणों से पूर्ण थे, किसी अनजान व्यक्ति के समक्ष बोल तक नहीं सकते थे। जहाँ तक राज्य की निर्धनता का प्रश्न है– यह प्रामाणिक तथ्य है कि उनके शासनकाल में एक भयावह दुर्भिक्ष तथा मर्मान्तक भूकम्प आया। प्रजा इस प्राकृतिक प्रकोप से पीड़ित हुई जिसके लिये राजा को दोषी बताना मूर्खता होगी। इसके बाद ही गोरखों ने गढ़भूमि को आक्रान्त कर दिया। किन्तु उनका सामना प्रद्युम्नशाह ने बड़े उत्साह एवं वीरता से किया। युद्ध को चालू रखना ही इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त उक्त पीड़ा एवं निर्धनता को गढ़नरेश ने अवश्य ही सुलझाने का प्रयास किया होगा अन्यथा भूख से पीड़ित सैनिक एवं जनता उनका साथ कदापि नहीं देती। गढ़नरेश को शीघ्र ही आत्मसमर्पण करना पड़ता, किन्तु इतिहास कुछ और कहता है।

डबराल जी का दूसरा आरोप कि प्रद्युम्नशाह में स्त्रियोचित गुणों का आधिक्य था यह आरोप भी अनुचित है।

http://ou.ac.in

गढ़राज्य का इतिहास बताता है कि प्रद्युम्नशाह ने कितने अधिक युद्ध किये और अन्त में समर स्थल ही उनकी मृत्यु शैय्या बन गई।

यदि सेनापति आदर्श नहीं होता, गुणवान नहीं होता या उसमें कोई मानसिक कमी या शारीरिक दुर्बलता होती तो उसके झन्डे के नीचे लड़ने वाले सैनिक लड़ नहीं सकते, टूट जाते। उनका मनोबल, साहस, वीरत्व, शौर्य तूफान में घिरे एक तृण की भांति होता जो पहले आवेग में ही समाप्त हो जाता। प्रद्युम्नशाह के साथ ऐसा नहीं हुआ, अन्तिम साँस तक उनके सैनिकों ने साथ दिया।

यदि वास्तविक रूप में वे दोषी थे तो केवल इस बात के कि उन्होंने अपने भाई पराक्रमशाह के दुष्कर्मों को सदैव अनदेखा सा कर दिया, उस पर अत्यधिक विश्वास किया। एक सम्भावना यह हो सकती है कि हुमायूं की भांति प्रद्युम्नशाह भी अपने पिता से वचनबद्ध हों कि अपने भाइयों को वे पुत्रवत स्नेह देंगे। पुत्र स्नेह से अभिभूत पितृत्व अन्धा होता है और सदैव क्षमा की पीयूष–वर्षा करता रहता है।

प्रद्युम्नशाह के शासनकाल के सन्दर्भ में निम्नांकित तिथियां दी गई हैं–

बैकेट की सूची में = सन् 1786 से 1804 ई०

रतूड़ी जी के अनुसार = सन् 1697 से 1804 ई०

श्री मुकुन्दी लाल जी के अनुसार = 1785 से 1804 ई०

उक्त तिथियों में श्री मुकुन्दीलाल जी एवं बैकेट की तिथियों प्रामाणिक एवं सत्य हैं क्योंकि सन् 1788 ई० का ताम्रपत्र जो शूरवीर सिंह जी के संग्रह में विद्यमान है–वही उक्त बैकेट एवं मुकुन्दीलाल जी की तिथियों की सत्यता की पुष्टि करता है।

http://uou.ac.in

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहयहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

अध्याय–4

गोरखा शासन

–डा. पंकज प्रियदर्शी

(फोटो संकलन – डा0 अजय सिंह रावत, डा0 पंकज प्रियदर्षी)

गोरखों के आक्रमण के समय कुमाऊँ की राजनैतिक सामाजिक व आर्थिक दशा अच्छी न थी। समाज सर्वतः विघटित हो चुका था। सामाजिक व्यवस्थाकारों ने ऐसी–ऐसी व्यवस्थायें कर रखी थीं कि एक–एक वर्ण में सौ–सौ उपजातियां स्थापित हो चुकी थी।

समाज की आर्थिक हालत शोचनीय हो चली थी। अवृष्टि, अतिवृष्टि व राजाओं द्वारा कृषि एवं किसानों के लिए सिंचाई आदि का प्रबन्ध न किए जाने के कारण सर्वत्र भुखमरी व अकाल की स्थिति बनी हुई थी। द्वाराहाट, रानीखेत, भिकियासैण, चंपावत, पिथौरागढ़ व अल्मोड़ा में बाजार तो थे, किन्तु उनमें अनाज वितरण जैसी कोई व्यवस्था न थी, जिस कारण एक स्थान का अनाज दूसरे स्थान तक नहीं पहुंच पाता था। समाज का जमींदार–वर्ग राजाओं द्वारा शोषण का शिकार बना हुआ था। कैनी, खस, सिरतान, खायकर–आसामी व थातवान सब परेशान थे।

राजदरबार गुटबंदी का केन्द्र बना हुआ था। महरा व फर्त्यालों के दलों में जब चाहे जिसे उठायें, जब चाहें जिसे बिठायें की स्थिति बनी हुई थी, उन्हीं के नक्शे कदमों पर जोशी दीवान कार्य करते थे। इसके पूर्व राजा दीप चंद व उसके दो पुत्र रनिवास में घुसी हुई खवासनों व रानियों के साथ उनके विश्वासपात्र दरबारी दीवारों सीराकोट के किले में मारे जा चुके थे। राजभक्ति व देषभक्ति का कोई नामलेवा नहीं रह गया था। सबके अपने–अपने स्वार्थ थे। कुमाऊँ की एक–एक कमजोरी नेपाल जाकर गोरखों को बताई जाती थी। गोरखा वीरों को जब आपसी राज्यलिप्सा की पूर्ति के लिए इस प्रकार की आंतरिक कमजोरी व कलहजन्य सामाजिक जानकारी प्राप्त हुई, तो उनकी बाहें फड़कने लगीं।

जनवरी 1790 ई में हस्तिदल चौतरिया (चौतरिया बहादुरशाह) काजी जगजीत पांडे, सेनापति अमर सिंह थापा तथा शूखीर थापा के नेतृत्व में गोरखा वीरों ने काली नदी पार कर दो मार्गों से अल्मोड़े की ओर प्रस्थान किया। एक झूलाघाट से सोर होता हुआ गंगोलीहाट व सेराघाट की ओर बढ़ा तथा दूसरा दल सीघे बिसुंग होते हुये अल्मोड़े की ओर बढ़ा। गोरखों के इस आकस्मिक आक्रमण से कुमाऊँ में हा–हा कार मच गया तथा लोग घर–द्वार छोड़कर इधर–उधर भागने लगें। गोरखों का आगमन यमराज के आगमन के बराबर था। पृथ्वीनारायण शाह द्वारा आक्रमित जनता पर किये गये अत्याचारों के विषयों में कुमाँऊनी जनता पहले से ही सुपरिचित थी। फिर क्या था, महेन्द्र चंद के पैरों के नीचे से धरती खिसकने

लगी। उसने कतिपय लड़ाकू वीरों को बुलाकार उनसे परामर्श किया और जितना एकत्र कर सकता था, उतने सैनिकों को लेकर गोरखों का मार्ग रोकने के लिये गंगोली की ओर बढ़ा, किन्तु सब निरर्थक सिद्ध हुआ। लाल सिंह भी एक सैनिक टुकड़ी के साथ काली कुमाऊँ की ओर चल पड़ा। काली कुमाऊँ में काफी मार काट मची, प्रारम्भ में महेन्द्र चंद्र ने अमर सिंह थापा की फौज को शिकस्त देते हुये उसे काली कुमाऊँ की ओर लौटने के लिये मजबूर कर दिया किन्तु गैतोड़ा गांव में जो कटोल गढ़ के समीप था, गोरखो ने लालसिंह को छकाते हुए उसके दो सौ सैनिकों का कत्ल कर दिया, फलतः लाल सिंह भाग कर मैदान की ओर चला गया। लाल सिंह की सेना का कत्लेआम सुनकर महेन्द्र सिंह उसकी सहायतार्थ जा ही रहा था कि मार्ग में उसे भी अपनी नियति का आभास हो गया और वह भी भागकर कोटाबाग चला गया। यहां लालसिंह से उसकी मुलाकात हुई। गोरखे निर्द्वन्द्व होकर अल्मोड़ा की ओर बढ़े और इस प्रकार बिना किसी प्रतिरोध के चैत्र कृष्ण पक्ष प्रतिपदा के दिन 1790 ई० में उन्होंने अल्मोड़े में चंदों की राजधानी में प्रवेश किया। इस समय हरक देव भी उनके साथ था।

चंदों के 'चौमहल' में प्रवेश कर गोरखों ने उनकी पत्नियों व पुत्रियों को अपने साथ रख लिया तथा दरबार में रात–दिन नाना षडयंत्रों में संलग्न दरबारियों को बेरहमी से प्रताड़ित किया, बहुत से दरबारी तो गोरखों का आगमन मात्र सुनकर पहले ही गुफाओं व जंगलों में जा छिपे थे। अल्मोड़े में उन्होंने घर–घर जाकर खूब लूट–पाट की तथा जहां और जिधर भी खाद्य पदार्थ हाथ आये उन्हें छीन लिया। मवेशी जंगलों में छोड दिये। खुरफटे जानवर जो भी हाथ आये, उन्हें भूनकर खा डाला। बेहिसाब जंगली सूअर मारे गये, क्योंकि गोरखे जंगली सूअरों का गोश्त बहुत पंसद करते हैं। अल्मोड़े में दरबारियों द्वारा जमा किया गया तांबा, सोना, चांदी आदि सब प्रतिदिन नेपाल दरबार में जाता रहा। इन सब चीजों को नेपाल दरबार तक पहुंचाने वाले कैनियों के पैरों में गोरखों की चाबुकें बेरहमी से पड़ती थी, जब कोई ब्राह्मण बोझ ढोने को आना–कानी करता, तो गोरखे उसे चाबुक मारते समय कहते थे, ब्राह्मण का पैर पूजा जाता है सिर नहीं चल बोझ उठा और सिर में रख। आना–कानी करने पर चाबुक पड़ती थी। गोरखे गाय–ब्राह्मण को बहुत मानते थे किन्तु सभी ब्राह्मणों को नहीं। उनके अपने दो ही ब्राह्मण थे– पांडे और उपाध्याय।

कुमाऊँ में गोरखों ने 1790 ई से लेकर 1815 ई० तक शासन किया था। उनका अधीश्वर नेपाल में शासन करता था, और कुमाऊँ जैसे प्रांतों में गवर्नर शासन करते थे, जिन्हें सुब्बा या सूबेदार कहा जाता था। कुमाऊँ में गोरखों का अधिकार हो जाने के बाद जोगा मल्ल शाह को कुमाऊँ का 'सुब्बा' नियुक्त किया गया। उसके बाद काजी नर शाही सुब्बा बना। तदन्तर एक के बाद एक सुब्बे आते और जाते रहे। इनमें अजब सिंह थापा, बमशाह, रूद्र वीर शाह, धौंकल सहि, काजी

गरेस्वर पांडे, रितुराज थापा तथा अंततः 1806 ई० में पुनः बम शाह, जिन्हें हस्तलिखित सनदों में बड़ा बम शाह कहा गया है, कुमाऊँ के सुब्बा बने। सुब्बा की सहायता के लिये काजी व एक सैनिक अधिकारी भी होता था, जिसे नायब सुब्बा कहा जाता था। सैणमानुसर (मानिला–सल्ट) से प्राप्त हस्तलिखित सनदों में तिथिवार निम्नांकित अधिकारियों के नाम मिलते हैं :

1. काजी धौंकल सिंह – संवत् 1857 (1800 ई.)
2. सूबेदार कृपा सिंधु थापा – संवत् 1860 (1803 ई.)
3. विचारी रामू राणा – संवत् 1862 (1805 ई.)
4. चौटरिया बड़ा बम शाह – संवत् 1863 (1806 ई.)
5. काजी चामू भंडारी – संवत् 1863 (1806 ई.)
6. सरदार सरवर सिंह राणा – संवत् 1863 (1806 ई.)
7. जमादार गजदल थापा – संवत् 1863 (1806 ई.)
8. चौतरिया बड़ा बम शाह – संवत् 1865 (1808 ई.)
9. काजी रेवंत सिंह कुंवर – संवत् 1865 (1808 ई.)
10. सुब्बा कर्ण सिंह कुंवर – संवत् 1865 (1808 ई.)
11. डिठा जानकी राम – संवत् 1865 (1808 ई.)
12. कृष्णा नंद – संवत् 1865 (1808 ई.)
13. नानि हवलदार अमर सिंह बसन्यात – संवत् 1865 (1808 ई.)
14. हंसराज खल्ट दवथरी – संवत् 1865 (1808 ई.)
15. चौतरिया बड़ा बम शाह – संवत् 1870 (1813 ई.)
16. चौतरिया बड़ा बम शाह – संवत् 1871 (1814 ई.)
17. जमादार मछेराम – संवत् 1871 (1814 ई.)
18. सूबेदार गज दल खंड़का – संवत् 1871 (1814 ई.)
19. सुबेदार नर भजन शाह – संवत् 1863 (1805 ई.)
20. जमादार अमल सिंह राणा – संवत् 1863 (1805 ई.)
21. काजी वीरभद्र सिंह – संवत् 1863 (1806 ई.)
22. नर भजन साह सूबेदार – संवत् 1870 (1813 ई.)
23. फौजदार राम चन्द्र परसाई – संवत् 1860 (1803 ई.)

http://uou.ac.in

24. फ्रेजर साहब बहादुर – संवत् 1872 (1815 ई.)

गढ़वाल आक्रमण–

सन् 1790 ई. में जब गोरखा सेनापति अमर सिंह थापा ने कुमाऊँ की राजधानी अल्मोड़ा पर अधिकार कर लिया, तो गोरखों का ध्यान अब गढ़वाल विजय की ओर गया। गढ़वाल की राजनैतिक हालत भी इस समय छिन्न–भिन्न थी। 1791 ई. में हरक देव की सहायता से गोरखों ने गढ़वाल पर हमला करने की योजना बनाई। उन्होंने गढ़वाल में लंगूरगढ़ पर घेरा भी डाला। किन्तु उसे हथियाने पर सफल न हो सके गढ़वाल में गोरखों को 1804 में सफलता प्राप्त हुई। सन् 1804 ई0 से सन् 1815 ई0 तक गढ़वाल के विभिन्न गोरखा सेनानायकों का नेतृत्व रहा जिसकी विस्तृत जानकारी परिशिष्ट 1 में दी गई है।

गोरखा प्रशासन –

कुमाऊँ एवं गढ़वाल दोनों में ही गोरखों का प्रशासन नागरिक के बजाय फौजी प्रशासन अधिक था। इनका अधिपति (राजा) नेपाल में रहते थे किन्तु उनका सैनिक सामंत 'सुब्बा' के नाम से इस नव–विजित राज्यों में राज्य करते थे। गोरखों ने चन्दों की नीतियों एवं प्रशासनिक तौर–तरीकों की नकल तो नहीं की। वरन अपने प्रशासनिक तंत्र की स्थापना यहां अवश्य कर दी। थोडे, बहुत प्रशासनिक नाम चंदों से अवश्य ग्रहण किये, लेकिन कर–पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन कर डाला। गोरखों ने शोषण–उत्पीड़न की सामान्य विधियों को छोड़ नित नयी शैलियां आरम्भ कीं। दासता, कर प्रणाली और बेगार– ये तीन शोषण–दमन के मुख्य आधार थे। राजवंशों के उत्थान पतन व युद्ध द्वारा नये–नये राज्यों को हड़पने की नीति से जो विजित जनता पर कठोर प्रशासनिक तंत्र प्रयोग में लाया जाता है उसी का अनुसरण गोरखाली शासकों ने कुमाऊँ एवं गढ़वाल में भी किया। उन्होंने यहाँ बड़ी सख्ती से शासन किया। इसका प्रमुख कारण यह भी था कि सामाजिक दृष्टि से हिंदू लोग गोरखाओं को अपनी तुलना में घटिया समझते थे, जिस कारण गोरखा प्रशासक हिन्दुओं को दमित कर आतंकित रखना चाहते थे। उनका राजा अवश्य राजपूत था। वह भारतीय मूल का एक राजस्थानी राजपूत था और अल्लाउद्दीन खिलजी द्वारा चित्तौड़ का घेरा डाले जाने के समय उसके वंशज कालांतर में नेपाल की पहाड़ियों में रहने के लिये चले गये, और यही राजपूत वंश कालांतर में 'शाह' की उपाधि धारण कर नेपाल का शासक बन बैठा।

http://ou.ac.in

किन्तु जहां तक जन सामान्य का प्रश्न था, उसमें समाज के सभी वर्ग के लोग थे, चाहे वे शासक हो या शासित, सभी गोरखाली कहलाते थे। कुमाऊँ एवं गढ़वाल में समाज की बनावट व अन्य सांस्कृतिक पद्धतियां गोरखा–पद्धति से मेल नहीं खाती थीं। फलतः गोरखे यहाँ के वासियों को विधर्मी समझते थे। उनके लिए कुमाऊँ के ब्राह्मण, जो उस समय समाज के नियामक व राजशासन में प्रमुख भूमिका–निभाते थे, देशद्रोही, दगाबाज व धोखेबाज थे, जिनका दमन करना नितांत आवश्यक था। अतः 1806 ई. में बड़ा बमशाह के 'सुब्बा' बनने तक उनके पूर्व के सुब्बा काजी, जमादार, फौजदार, नानी हवलदार, दफ्तरी आदि ने काफी नृशंसता पूर्ण ढंग से कुमाऊँनी रियाया पर शासन किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पाली पछाऊं सल्ट व आस–पास के गांवों व थोकों के थोकदार, सयाने व प्रधान सब भागकर यत्र–तत्र पलायन कर गये। अंततः चौतरिया बड़ा बमशाह को राज–काज अपने हाथ में लेना पड़ा।

ऐसे में चंदों के षड्यन्त्रकारी दीवानों, राजकर्मचारियों व उपद्रवी फर्त्यालों तथा महरा राजपूतों को कुचलना अत्यन्त आवश्यक था। उनके इन कार्यों में जन साधारण ने अपनी उदासीनता का परिचय दिया और कभी भी गोरखों की दमनात्मक नीतियों का प्रतिरोध नहीं किया। कारण स्पष्ट था। सामान्य जनता के लिए जैसे चंद राजा थे, वैसे ही गोरखे भी थे। उसके लिए केवल मालिक बदले थे, चंदों के समय भी उनका दमन–चक्र कम नहीं हुआ था। सयाना, थोकदार, प्रधान (पधान), कमीण आदि राजस्व वसूली के समय उनका घोर उत्पीड़न करते थे, गांवों के पधान, सयानों या थोकदारों के अधीन होते थे, जिन्हें 'राजकर' के अलावा सयानों व थोकदारों को भी 'दस्तूर' देना पड़ता था, तथा राजाज्ञा के अनुसार उन्हीं के हुक्म व आदेशों का पालन करना पड़ता था। कल्याण चंद के 1749 ई. के एक अभिलेख में इसका उल्लेख मिलता है–

उपरोक्त अभिलेख के अंत में तफसील (विस्तृत विवरण) के सोलह गांवों की सूची भी दी गई है। अतः यदि हम उपरोक्त चंदकालीन शोषण–व्यवस्था पर दृष्टिपात करते हुए चंदों के उत्तराधिकारी गोरखा शासकों द्वारा चंदों से ही अपनाई गई प्रशासनिक व्यवस्था का समुचित विश्लेषण करें, तो ज्ञात होगा कि जन–सामान्य अथवा सामान्य कृषक व श्रमिक वर्ग के प्रति चंदों व गोरखों की एक–सी नीति थी। रैयत (प्रजा या कृषक) से राजस्व व लगान वसूल करने में सयाने, थोकदार व कमीण भी निर्धारित राजकर के अलावा चोरी–छिपे अपना हिस्सा बढ़ाकर लेते थे, जिसका आभास राजधानी अल्मोड़ा में बैठे गोरखा शासकों को होता रहता था। इसका विवरण 1813 ई. के सूबेदार नरभजन शाह के अभिलेख में मिलता है।

1790 ई. के चैत्र महीने में जब अल्मोड़ा पर गोरखों का अधिकार हुआ तो उस समय नेपाल नरेश रणबहादुर शाह की अवस्था मात्र 15 वर्ष की थी, जिस

कारण उसका चाचा चौतरिया बहादुर शाह उसके संरक्षक की हैसियत से शासन करता था। अतः अल्मोड़े पर अधिकार कर लेने के बाद वह कुमाऊँ का राजकाज योग्य सेनापति अमरसिंह थापा को सौंपकर नेपाल लौट गया। साथ में बोझ ढोने के लिए कुमाऊँ के अनेक काश्तकारों को भी नेपाल ले गया। अमर सिंह थापा ने विद्रोहियों का दमन किया व चंदों के समय में चले आये हुए कुशासन को सुव्यवस्थित किया। इस कार्य में उसने शूरवीर थापा व जगजीत पांडे का सहयोग लिया। उसने गोरखा–आक्रमण की पगध्वनि से भयभीत व पलायित जनता को अपना फरमान जारी कर पुनः अपने–अपने गांवों में आकर बसने का आहवान किया। इस प्रकार राजधानी अल्मोड़ा में धीरे–धीरे शान्ति स्थापित होने लगी और लोग पुनः अपने घर–बार बसाने लगे।

गोरखा शासक केवल भूमिधरों व जंगल मालिकों से ही सख्ती से नकद लगान वसूल करते थे। शिल्पकर्मियों से नकद धनराशि नहीं ली जाती थी, वरन् उनसे हस्तकारी का कार्य कराया जाता था। शिल्पकार्मियों को वे 'कामी' कहते थे, सुनार के 'सुनवार' व नाई को 'नौ' कहा जाता था। इन्हें जमीन के रूप में 'दस्तूर' मिलता था। जो भूमिधर काश्तकार लगान चुकाने में असमर्थ रहते थे, या हीलाहवाली करते थे, उन पर कोड़ों की मार पड़ती थी। कभी–कभी उन पर जूते–घूंसे भी बरसाये जाते थे। उन्हें पकड़–पकड़ कर रूहेलखंड (बरेली–बहेड़ी) के बाजारों में ले जाया जाता, और सपरिवार आबाल–वृद्ध रूहेलों, गूजरों, वन–गूजरों, पठानों व डकैतों के हाथ बेच दिया जाता था, सुंदर स्त्री–पुरूषों को अपने पास रखकर उन्हें व्यक्तिगत उपयोग में लाया जाता, और फिर बाद में नेपाल भेजकर घेटी, छलौड़ा, छलौडी और राजपूत वर्ण का होने पर केवल 'खसिया' नाम से पुकारा जाता था। ब्राहमण दासों को 'कठुवा' कहा जाता था। गोरखे कुमाऊँ एवं गढ़वाल का सारा तांबा व सोना– चाँदी लूटकर नेपाल ले गये थे, क्योकि तांबे के बर्तनों से ये विशेष लगाव रखते थे, उनके द्वारा प्रदत्त ताम्रपत्रों में विशेष प्रकार का तांबा देखा जा सकता है, जो सुडौल व वजन में काफी भारी हैं। हार्डविक व रेपर नामक यूरोपीय यात्रियों ने गोरखों के कुकृत्यों का बड़ा ही हृदय विदारक वर्णन प्रस्तुत किया है। इन यात्रियों के अनुसार गोरखें जबरदस्ती घरों में घुसकर घर का माल खा जाते थे, और फल–फूल के पेड़ों का भी फल खाकर खुकरी से काट डालते थे। गढ़वाल में उनके अत्याचार यहां तक बढ़ गये थे कि सेम–मुखेम स्थित नागर्जा (नाग राजा) के मंदिर में सफाई करने वाले फिकवाल तक भूखों मर रहे थे क्योंकि आबाद जमीनों के उजड़ जाने से भूमि–धर स्वयं भूखों मर रहे थे और जंगली तौड़ (तड़ू) खिनुवा, तिमुले, हिसालू (हिसौर) व कंडाली खाकर जीवन यापन करते थे।

गोरखों की न्याय–प्रणाली –

गोरखों की न्याय–प्रणाली कोई सुव्यवस्थित प्रणाली नहीं थी, जैसे कि बाद के उनके उत्तराधिकारी अंग्रेजों के समय में थी। गोरखों के पूर्व वर्ती चंद राजाओं के समय में भी कोई न्यायालय नाम की संस्था तो नहीं थी, किन्तु उस समय पंचायत–प्रणाली थी। चंद–दरबार में माहरा व फर्त्याल इन दो राजपूत दलों को राजा की मान्यता प्राप्त थी। उन्हें श्रेष्ठ व प्रतिष्ठत नागरिक की 'पगड़ी' दी गई थी। वे जो फैसला करते थे, उसी के अनुरूप दंड निर्धारित होता था, मृत्यु दंड देने का अधिकार केवल राजा को प्राप्त था। लेकिन गोरखों ने चंदों की नकल नही की। उनकी न्याय–व्यवस्था प्रांतों में 'सुब्बा' 'नायब सुब्बा' सेना का कमांडर व अन्य फौजी सरदार तय करते थे। अल्मोड़ा में उस समय गोरखों की एक अदालत आवश्यक थी, जिसका जज या न्यायाधीश 'विचारी' कहा जाता था। ट्रेल की सूचना पर अटकिंसन महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्रत्येक सैनिक अफसर अपने अधीनस्थ सैनिकों की सहायता से न्याय तय करता था। जिस क्षेत्र अथवा प्रशासनिक इकाई में जो कमान्डेन्ट नियुक्त होता था, वहां के दीवानी व छोटे–मोटे फौजदारी मामलों का निपटारा वही करता था। महत्वपूर्ण मामलों का निपटारा प्रांतीय 'सुब्बा' फौजी अफसरों की मदद से करता था। चूंकि उच्च पदस्थ फौजी अफसर प्रायः बाहरी युद्ध–क्षेत्रों में व्यस्त रहते थे, अतः वे अपने न्यायिक अधिकार अपने अधीनस्थ अफसरों को सौंप जाते थे, जिन्हें 'विचार' कहा जाता था। वे वादी–प्रतिवादियों को 'अदालत' में बुलाते थे, और एक पंचायत के माध्यम से एक निश्चित शुल्क लेकर मुकदमे की सुनवाई करते थे। अदालत के अन्य न्यायकर्त्ताओं को 'सभा' भी कहा जाता था। 1805 ई. के एक अदालती पत्र से यह ज्ञात होता है कि किसी भी 'वाद' को वादी जब पंचों की अदालत में पेश करता था, तो बैठे हुए पंचों से दारू व बकरे का संकल्प लेकर अपने ऊपर पानी छिड़कवाया जाता था। दारू व बकरा उनके भोजनार्थ पहले से हाजिर रहता था।

गोरखों की न्याय–प्रक्रिया उनके पूर्ववर्ती शासकों एवं अधिकांश हिन्दू राज्यों में आखिरी तौर पर सामान्य एवं सर्वमान्य थी। अदालत में वादी व प्रतिवादी को बुलाकर उनकी परीक्षा ली जाती थी। यदि किसी गवाह के बयान पर संदेह पैदा होता, तो उसके सिर में महाभारत का एक भाग 'हरिवंश' उसे सही–सही कसम खिलाने के लिये रखा जाता था। सही–सही बयान देने के लिए हिंदू गवाह के सिर में 'हरिवंश' रखने की यह प्रथा उत्तरवर्ती काल में अंग्रेजों के समय भी प्रचलित रही। जहां चश्मदीद गवाह नहीं मिलते थे, अथवा सरहदी–झगडों में गवाह सच–सच नहीं बता पाते थे, वहां 'दिव्य' नाम की अग्नि–परीक्षा होती थी। इसके लिए तीन तरह के 'दिव्य' प्रचलित थे –

1. **गोला दीप**– इसमें एक हाथ में गरम लोहे का डंडा पकड़ कर कुछ दूर तक चलना पड़ता था।

2. **कढ़ाई दीप**– इसमें कढ़ाई में उबलते तेल में हाथ डालना पड़ता था। यदि हाथ जल गया, तो दोषी, यदि नहीं जला तो निर्दोष ।

3. **तराजू का दीप**– इस दिव्य के जरिए दोषी व्यक्ति को तराजू में पत्थरों से तौला जाता था। तोलने का यह समय शाम के लिए मुकर्रर होता था। जिन पत्थरों से उसे तौला जाता था उन पत्थरों को सुरक्षित स्थान पर छिपा दिया जाता था। अगले दिन प्रातः उन्हीं से पुनः दोषी को तौला जाता था। यदि दूसरे दिन वह भारी हुआ, तो निर्दोष घोषित होता, यदि हल्का होता तो दोषी ठहराया जाता था।

देहरादून स्थित गुरू राम राय मंदिर के महंत को भी हत्या के एक जुल्म में कढ़ाई दीप का सामना करना पड़ा, जिससे उसके हाथ जल गये और उसे भारी दंड अदा करना पड़ा था। दिव्य–जन्य फैसले को तत्काल दर्शकों के समक्ष एक पुर्जी में अंकित कर दिया जाता था, और हारे हुए व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति के अनुसार दण्ड वसूला जाता था। व्यवसाय तथा उत्तराधिकार के मामलों में भी पंचायत बैठती थी जिसमें कागज के दो बराबर टुकड़ों में वादी व प्रतिवादी के नाम लिखकर उन्हें 'न्याय के देवता' (गोलू, कोटगाड़ी, गरदेवी आदि) के थान (मंदिर) में रखा जाता था। तत्पश्चात् लंबी शिखा वाला पुरोहित उनमें से एक को पकड़ता था। जो नाम पहले आ गया वहीं जीतता था। मंदिर में कसम खाकर, बच्चे के सिर में हाथ रखकर कसम खाने व विवादित वस्तु को ही 'न्याय के देवता' के थान में रखकर भी फैसला होता था।

ब्रिटिश कुमाऊँ के दूसरे कमिश्नर जी. डब्ल्यू ट्रेल के हवाले से अटकिंसन महोदय ने और भी अन्य तरीके गोरखा–न्याय के बताये हैं। ये हैं

1–तीर–का–दीप–तीर के दिव्य में अभियुक्त को पानी के तालाब में अपना सिर तब तक डुबाये रखना पड़ता था जब तक कि दूसरा व्यक्ति छोड़े गये बाण के ठीक पास तक पहुंच कर वापस नहीं आ जावें।

2. बौं काटि हारया का दीप–गोरखाली सुब्बाओं ने पानी द्वारा मामला हल करने का एक अन्य तरीका भी निकाला। इसमें दोनों पक्षों के ऐसे लड़कों को पानी के कुंड में डुबाया जाता था, जो बौं काटने में (तैरने में) असमर्थ होते थे। इनमें जो देर तक रहकर जीवित रहता था वह विजयी घोषित किया जाता था।

3 काली हल्दी (कालो हल्दो) दीप–इसमें काली हल्दी की जड़ खाने के लिये दी जाती थी। यदि इसे खाकर भी विवादित व्यक्ति बच जाता था, तो उसे निर्दोष माना जाता था।

4 घात का दीप–यह दीप कुमाऊँ में आज भी प्रचलित है। इनमें न्याय के देवता (गोलू, गरदेवी व कोटगाड़ी) के थान में विवादित वस्तु–रूपया या मिट्टी–मूर्ति के ठीक सामने रख दी जाती थी। अपने को निर्दोश सिद्ध करने वाला विवादित व्यक्ति उस वस्तु को मंदिर से उठाता था। वास्तव में जो निर्दोश होता था वहीं इसे उठाने की हिम्मत करता था। उस वस्तु को उठाने के छः माह के भीतर यदि उसके परिवार में किसी भी प्रकार की जन–हानि या दैवी प्रकोप नहीं होता था, तो वह निरपराध माना जाता था।

इस तरह ये न्याय के ऐसे तरीके थे, जो समाज की अवैज्ञानिक सोच रखने वाली तथा शिक्षित–अशिक्षित जनता के लिए भय के कारण थे, जिससे अपराधकर्मी भय खाये रहता था। 'हरिवंश' सिर में रखकर गवाही देना भी झूठ से बचने का एक तरीका होता था। यही कारण था कि पहाड़ों में अपराध कम होते थे। गोरखा–न्याय का यह उस समय की जनता के लिए सर्वथा उपयुक्त था। यही स्थिति आज भी है।

http://uou.ac.in

दंड–विधानः–

राजकोष में अधिकाधिक वृद्धि करना ही हर काल में शासकों का उद्देश्य रहा है। अतः विश्व के किसी भी शासक ने राजकोष को दृष्टिगत रखकर ही दंड का विधान तैयार किया था। यही काम गोरखा शासकों ने भी किया। उन्होंने किसी भी स्त्री का छत में चढ़ना दंडनीय अपराध घोषित कर दिया। कारण कि कुमाऊँ के वाशिन्दे गोरखों पर व्यभिचार का आरोप लगाते थे जो उनका एक प्रकार का चरित्र–हनन था। अतः इस कलंक से बचने के लिए ही उन्हें यह नियम बनाना पड़ा। इसका उल्लंघन करने वाले स्त्री–पुरूषों से जुर्माना वसूला जाता था।

देश–द्रोह के लिए मौत की सजा मिलती थी। यदि कोई ब्राह्मण किसी की हत्या करता था, तो उसका देश–निकाला किया जाता था। यह दंड 'मनुस्मृति' के अनुरूप था। अन्य अपराध करने पर ब्राह्मण की संम्पत्ति जब्त की जाती थी और जुर्माना भी वसूला जाता था। चोरी में पकड़े गये ब्राह्मण की शिखा काट दी जाती थी, और कभी कभी उसकी जनेऊ भी उतारी जाती थी। गोरखे अपने निजी ब्राह्मणों, मिश्र व उपाध्याय के अलावा कुमाऊँ के अन्य ब्राह्मणों की कद्र नहीं करते

थे। चदों के समय पेड़ में लटका कर या सिर कलम कर मृत्यु दंड दिया जाता था, पर गोरखों ने अपराधी को सूली पर चढ़ाने के अलावा उसके अंग–भंग द्वारा भी दंडित करने की प्रथा चलाई। गोरखों के समय हर किसी जाति को मौत की सजा का सामना करना पड़ता था। अपराधी को आतंकित करने के लिये उसके हाथ व नाक काटी जाती थी। व्यभिचारी पुरूष को मौत की सजा मिलती थी व स्वैरिणी की नाक काटी जाती थी। आत्महत्या करने वाले व्यक्ति के नजदीकी परिवार से जुर्माना लिया जाता था। चंदों के समय से कुमाऊँ के समाज में एक ऐसी कुप्रथा चली आ रही थी, जिसमें पति का अपनी पत्नी पर पूरा अधिकार था। यदि वह स्वपत्नी को किसी परपुरूष के साथ व्यभिचार रत देखता तो वह पत्नी व व्यभिचारी को मार डालता था और राज्य से उसे कोई दंड नहीं मिलता था। 1817 में इस कुप्रथा को कालांतर में ब्रिटिश शासकों ने समाप्त किया।

गोरखा–सेना –

गोरखों का राज्य सैनिक शासन पर आधारित था। सेना के बल पर ही नरभूपाल शाह, पृथ्वी नारायण शाह, रण बहादुर शाह व चौतरिया बहादुर शाह ने नेपाल के एक छोटे से गोरखा शहर से इतने बड़े गोरखा–साम्राज्य की स्थापना की थी जिसमें पूर्व में मीची नदी से लेकर पश्चिम में काली नदी तक का भूभाग शामिल था। कुमाऊँ व गढ़वाल को फतह करने के उपरांत गोरखों ने कांगड़ा तक के प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया था, जिसकी सीमा महाराजा रणजीत सिंह की राज्य सीमा से मिलती थी। उन्होंने तिब्बत और चीन से भी लोहा लिया। पूर्व में सिक्किम व मोरंग के प्रदेश उनकी आधीनता स्वीकार करते थे। गोरखपुर में उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी से 200 ग्राम छीने, जो बाद में ब्रिटिश–नेपाल–युद्ध का कारण बना। ये सब विजयें सेना के बल पर की गई थीं। अतः सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि गोरखों की सेना के अफसर व साधारण सैनिक शौर्य व बल में कितने बहादुर रहे होंगे। उनकी सेना में ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सभी जातियों के लोग थे। गोरखों की नस्ल हिंदुओं व मंगोलो के नस्ल से संयुक्त हुई थी। उनमें भौगोलिक व सामाजिक परिवेश का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। क्रिस्टोफर चैंट के शब्दों में

The racial mixture and geography of Nepal have produced a people of relatively tough constititon, small but robust, notable for the extreme cheerfulness of their disposition and endurance of their constitution.

गोरखा सैनिकों के शौर्य व उनकी निर्भीकता का वर्णन ब्रिटिशकालीन सेना के जनरलों व स्वयं ब्रिटिश सरकार ने यत्र तत्र किया है। मध्य एशिया, फ्रांस, बर्मा व उत्तरी अफ्रीका की लड़ाईयों में, जो प्रथम व द्वितीय विश्व युद्धों के दर्मियान लड़ी

गई थीं गोरखों के सैनिक–करतब को देखकर उनके अंग्रेज अफसर दंग रह जाते थे।

गोरखा सैनिकों का मुख्य हथियार खुकरी होती थी। खुकरी बनाने का प्रमुख केन्द्र डोटी का 'गढ़ी' नाम का नगर था। इस नगर में ही मुख्य रूप से नेवार जाति के लोहार खुकरियां बनाकर गोरखा सैनिकों को उपलब्ध कराया करते थे। ये खुकरियां प्रायः एक फुट से अधिक लंबी नहीं होती थीं क्योंकि गोरखा सैनिक तथा अफसर इन्हें चमड़े की दाब (म्यान) में रखकर कमर की बेल्ट से बांधे रखते थे, जो नीचे लटकती रहती थीं। इनकी दाब में ही बाहर एक बटुवा बना रहता था, जिसमें छूरी रखी रहती थी। इन खुकरियों का उपयोग पहाड़ी लड़ाईयों में आमने–सामने के युद्ध में ज्यादा प्रभावशाली होता था। इन्हीं से झाड़ियां, झाड़–झंखाड़ व पेड़ भी काटे जाते थे। खुकरी का प्रयोग करते समय ये 'आयो गोरखाली' की गर्जना करते थे। खुकरी के अलावा इनके अन्य अस्त्र–शस्त्र थे तलवार, छुरी, लमछड़ व बंदूक, ढाल व तीर कमान का भी इस्तेमाल होता था। इनके अलावा खाड़ा व भुजाली भी अन्य हथियार थे। गोरखों द्वारा मलाऊं, कलंगा, जैठक व अल्मोड़ा में जो युद्ध कौशल दिखाया गया था, उसकी प्रशंसा अंग्रेज बुद्धिजीवियों ने भी की थी।

अनेक विद्वानों ने गोरखा सैनिकों पर हैवानियत व क्रूरता का आरोप लगाया है। कप्तान हियरसे ने 1815 में सरकार को लिखा था कि गोरखे विजयी होने के पश्चात् रक्त पिपासु व कठोर हो जाते हैं किंतु युद्ध भूमि में यह स्थिति सभी सैनिकों के लिए एक सी होती है। गोरखा अफसरों ने भारत में अंग्रेजों के आने के बाद उनकी पोशाक के साथ–साथ उनके ओहदों की भी नकल कर ली थी। गोरखों द्वारा प्रदत्त सनदों में कर्नल, मेजर, कैप्टन, सूबेदार, फौजदार, सरदार, काजी, हवलदार, सिपाही आदि पद मिलते हैं। उनके समय सैनिक हर साल बदलते रहते थे। कार्यरत सैनिकों को 'जागरिया' या 'जागचा' व दो वर्ष के लिये सेवा–मुक्त सैनिकों को 'ढाकरिया' या 'ढ़ाकचा' कहा जाता था। अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में उनका वेतन 8 रू. व 6 रू. मासिक होता था। बाद में अंग्रेजों ने 'इन्हें भाड़े के सैनिक' मानकर ग्यारह व सोलह रूपया देना मंजूर कर लिया था, जिसके लिए ये जान की बाजी लगा देते थे।

1815–16 की कलुंगा की लड़ाई में गोरखा वीरों की बहादुरी व उनके सही व्यक्तित्व की समालोचना करते हुये वहां कलुंगा (देहरादून) की पहाड़ी में अंग्रेजों ने एक (स्तंभ स्मृति) की स्थापना की।

कहा जाता है कि गोरखा सैनिकों की निर्भीकता, उनका युद्ध कौशल शत्रु को पछाड़ने की अद्वितीय क्षमता एवं नमक हलाली की प्रशंसा युद्ध–भूमि में स्वयं उनके शत्रु भी करते थे।

गोरखों की कर–नीतिः–

किसी भी राजा अथवा शासक के लिए राजकोष भरना अत्यावश्यक होता है। बिना सुसम्पन्न व समृद्ध राजकोष के राज–काज नहीं चलता है। अतः गोरखा शासकों ने भी इस नीति का अनुपालन करते हुए रैयत पर अनेक तरह के कर लगाये थे। ये ही कर गोरखों की आय के प्रमुख साधन थे। उनके पूर्व चंद राजाओं ने 'छत्तीस रकम व बत्तीस कलम' वाले अनेक कर लगाये थे। चंदों में लक्ष्मी चंद ऐसा राजा था जिसके करों के भय से लोगों ने छतों में मिट्टी डालकर शाक–सब्जी लगाना प्रारंभ कर दिया था। गोरखों ने कुछ कर पुराने बहाल रखे और कुछ तात्कालिक कारणों को ध्यान में रखकर नये कर लगाये। नये करों में ब्राह्मणों पर 'कुसही' नाम का कर लगाया गया, जो 13 ज्यूलिया (260 नाली) तक जमीन हथियाये हुये ब्राह्मणों पर पांच रूपया प्रति मवासा लगाया गया। इसी तरह गढ़वाल व कुमाऊँ में छत में चढ़ने वाली महिला को दंडित करने के लिए जुरमाने के रूप में कर लगाया गया। संक्षेप में उनके द्वारा लगाये गये करों के नाम निम्नांकित थेः

1. पुंगाड़ी– यह भूमिकर था। इससे लगभग डेढ़ लाख रूपया सालाना की आय होती थी। सैनिकों का वेतन इस कर से दिया जाता था।

2. सलामी– यह एक प्रकार का नजराना था।

3. टीका भेंट– शुभ अवसरों व शादी विवाहों के समय इसे लिया जाता था।

4. तिमारी– इसी के साथ फौजदार को चार आना व सूबेदार को दो आना देने पड़ते थे। 1811 में काजी बहादुर भंडारी व दशरथ खन्वी ने इनकी दर तय कर दी थी, किंतु फिर भी इसका पालन नहीं होता था।

5. पगरी (पगड़ी)– गोरखों की सनदों में इसका उल्लेख बार–बार आया है। यह संभवतः जमीन व जायदाद के हस्तातरण में जमीन प्राप्त करने वाले व्यक्ति को एकमुश्त देना पड़ता था। यह राज्य की आय का एक प्रमुख साधन था।

6. मांगा– यह प्रत्येक नौजवान से एक रूपया कर के रूप में लिया जाता था। युद्ध के समय भी तात्कालिक कर के रूप में इसे वसूला जाता था।

7. सुवांगी दस्तूर– यह प्रत्येक बीसी भूमि पर एक रूपया लिया जाता था।

8. मेजबानी दस्तूर– यह ढाई आना होता था।

9. सोन्या फागुन– उत्सवों का खर्च। इसमें भैंसे व बकरे लिये जाते थे। गोरखा लोग सावन, दशाईं (दशहरा) व फागुन के उत्सवों में भैसों की बलि देते थे और उनके मांस को बड़े चाव से खाते थे।

10. टान कर – इसे तान (कपड़ा)–कर भी कहा जाता था। इसे हिंदू व भोटिया बुनकरों से लिया जाता था।

11. मिझारी– शिल्पकर्मियों तथा जागरिया ब्राह्मणों से इसे लिया जाता था।

12. मरो– पुत्रहीन व्यक्ति से लिया जाता था।

13. रहता– ग्राम छोड़कर भागे हुये लोगों पर यह कर लगता था।

14. बहता– छिपाई गई सम्पत्ति पर।

15. घीकर– दुधारू पशुओं के मालिकों से लिया जाता था।

16. मौंकर– यह प्रति परिवार दो रूपया कर था। इसे चंदों ने भी लगाया था। इसे घरही–पिछही भी कहते थे।

17. अधनी दफ्तरी– यह राजस्व का काम करने वाले कर्मचारियों के वेतन के लिए खस जमींदारों से लिया जाता था।

18. जान्या–सुन्या– राजकर्मचारियों से लगान के बाबत पूछने पर यह कर पड़ता था।

उपरोक्त करों के अलावा 'ऊपरी रकम' 'वक्ष्यात' (बक्सीस), 'कल्याण धन', 'केरू', 'घररू', 'खुना' 'अड़ि' कर भी लिए जाते थे। राजकर चुकाने में असमर्थ व्यक्तियों को मैदान की अलग–अलग मंडियों में ले जाकर दस से लेकर तीस रूपये तक की कीमत में बेचा जाता था, जिन्हें प्रायः जोहार–मुनस्यार व दारमा घाटी के शौके भेड़ों की करबज (थैले) सिलने व उनमें आलू, नमक, सुहागा, गंदरायन, जिंबू आदि भरने के लिए खरीदते थे। सीमांवर्ती भागों में आज भोटिया व शौकों के मध्य जो भी खस और नामगी रहते हैं, वे सब इसी तरह से वहां जाकर बसे हुए हैं। नामगी भोटियों के पुरोहित होते हैं। गोबर और पुछिया नाम के 'कर' भी थे। हेड़ी और मेवाती भाबर में 'दोनिया' नाम का कर पहाड़ी पशुचारकों से वसूल करते थे।

काश्तकारों से 'कर' ठेकाबंदी के आधार पर वसूला जाता था।

http://uou.ac.in

गोरखों का समाज, धर्म एवं संस्कृति–

गोरखों का अपना एक पृथक् समाज होता था। वे किसी जाति विशेष के न होकर पृथक् नस्लों व जातियों के एक समूह थे। राई, मगर, गुरूड़, लिंबू, सुनवार, पुन, सर्की, थापा, खणका आदि सब गोरखा समाज के अंग थे। हिन्दुओं की जाति–व्यवस्था से इनका कोई संबंध नहीं होता था। हिन्दुओं के साथ इनका खान–पान भी नहीं होता था। राजा राजपूत–वर्ग का होता था वह हिंदू–समाज के अन्तर्गत क्षत्रिय वर्ण का होता था। किन्तु गोरखा–समाज एक मिश्रित–समाज था। तिब्बत के लामा भी इस समाज में संपृक्त हो गये थे, क्योंकि नस्ल की दृष्टि से तिब्बती भी मंगोल रक्त के होते थे, जिनका चेहरा–मोहरा गोरखों से मिलता था। गोरखों का कद छोटा, चेहरा गोल, आँखें छोटी व धंसी हुई। गाल की हड्डियां उभरी हुई, कपाल चौड़ा व दाढ़ी–मूंछ रहित होते थे, स्वभाव से वे क्रोधी एवं जिद्दी होते थे।

गोरखा मांस व मदिरा प्रेमी थे। मांस में वे सूअर के मांस को विशेष रूचि के साथ खाते थे। दँसाई जैसे त्यौहारों में वे मुर्गों व बकरों की बलि चढ़ाते थे। उनके आपस में छोटे–बड़े, अगढ़े व पिछड़े का भेद तो था, पर खान–पान में परहेज नहीं था। नेवार लोग भैंस, भेड़, छागल, हंस का गोश्त बहुत पसंद करते हैं। मगर गुरूंग कोई भी काम करने में परहेज नहीं करते, सूअर का मांस अधिक पसंद करते हैं। गुरूड. महिष के मांस को भी खाते हैं, किंतु वे सूअर के मांस को नहीं छूते लिंबू, किराती व लेप्चा नेवारों की तरह होते हैं। गोरखों के इस खान–पान व सामजिक संरचना के फलस्वरूप हिंदुओं के साथ उनके सामाजिक संबंध व खान–पान नहीं होते थे। यह स्थिति ब्रिटिश शासकों के समय उनकी सेना में भर्ती होने वाले हिंदुओं व गोरखों के मध्य भी बनी रहती थी। 1857 की क्रांति में जहां हिंदुओं ने सूअर व गाय की चर्बी लगे कारतूसों का विरोध किया, वहां गोरखों ने चर्बी लगे कारतूसों की मांग की। यही नहीं, गोरखों की मांग पर अंग्रेज अफसरों ने गोरखा सैनिकों के तंबू हिंदू सैनिकों के बजाय अंग्रेज सैनिकों के तंबुओं के साथ लगाये।

गोरखे बौद्ध व हिंदू दोनों ही धर्मों के अनुयायी थे। उनकी सनदों में दुर्गा की पूजा का उल्लेख मिलता है। दुर्गा शक्ति की देवी है। दुर्गमन राक्षस का वध करने के कारण वह दुर्गा कहलाती हैं। गोरखों का प्रिय त्यौहार दशाई (दशहरा) है। यह शक्ति की देवी का त्यौहार हैं। इस दिन गोरखे अपने हथियारों–खुकरी, खांड़ा, छूरी, तलवार, भुजाली आदि की पूजा करते हैं। पूजा में भैंसे, बकरे, मेड़े, खांडू व मुर्गे की बलि होती है। घर में बनी जाण (शराब या चकती) का विशेष प्रयोग होता है। रोटियों की तुलना में ये दोनों वक्त भात खाना अधिक पसंद करते हैं। कुमाऊं में

http://ou.ac.in

गोरखों ने अनेक मंदिरों को गूंठ में जमीन चढ़ाई थी। घरेलू देवताओं की भी पूजा करते थे। केदारनाथ, बद्रीनाथ, जागेश्वर आदि जगहों के तीर्थ–यात्रियों के लिए उन्होंने 'सदावर्त' भी लगाया था। चंपावत के बालेश्वर मंदिर का जीर्णोद्धार सूबेदार महावीर थापा ने 1796 ई. में किया था। देहरादून में गुरू रामराय के महंत हरिसेवक को सदावर्त के लिए नियुक्त किया था 1797 ई. में रणबहादुर शाह की कनिष्ठ पत्नी सुश्री कान्तिवती देवी ने कूर्मांचल के शतोली परगना के ग्रामों को केदार नाथ मंदिर के सदावर्त हेतु दान किया था, 1797 ई. में ही रणबहादुर शाह ने कुमाऊं के कटोली परगना के ग्रामों को बद्रीनाथ के तीर्थयात्रियों के लिए सदावर्त चलाने हेतु अर्पित किये थे। इसी प्रकार श्रीनगर (गढ़वाल) स्थित कमलेश्वर मंदिर के निमित्त भी सदावर्त चलाया था। गोरखालियों में गुरूड़ जाति के लोग मोस्ट्या की अपने इष्ट देवता के रूप में पूजा करते हैं। इस मंदिर में भैंसे की बलि चढ़ती थी, किंतु अब उन्होंने इस प्रथा को बंद कर दिया है।

गोरखों की राजभाषा गोरखाली है, जिसमें खसकुरी का पुट देखने को मिलता है। नेपाल का समूचा साहित्य नेवारी भाषा में मिलता है। गोरखाली भाषा आज नेपाल की भी राजभाषा है। यह संस्कृत से निकली हुई मानी जाती है। कुमाऊँ के गोरखा शासक बहुत कठोर व रूखी भाषा बोलते थे। शिक्षा की बात करने पर कहते थे 'क्या भन्यां के जांन्यू नैं', वे पढ़े लिखे व अधिक बुद्धिमान नहीं होते थे। केवल शारीरिक शक्ति के धनी थे। अंग्रेज फौजी अफसरों के अनुसार वे शिष्ट तथा नम्र होते थे। वे कुमाऊँ वासियों से पूर्ववर्ती चंद राजाओं की भांति बेगार व बर्दायश लेते थे, फिर चाहे व ब्राह्मण हो, चाहे शिल्पकर्मी।

गोरखमाली भाषा बड़ी मधुर व काव्योचित होती है। इसमें नेवारी, खसकुरी व हिन्दी का भी पुट है। उदाहरणार्थ

कि करूं प्यारा गांऊ में परैं आमा को साथै मा।

धान काटन थियो यस्तो बेर भयो दिन बित्यो बातै मा।

हंसिले मुहार हजुरको समझी दिन जानथ्यो रूदै मा।

अंग्रेजों के साथ युद्ध–

अंग्रेजों के साथ गोरखों का टकराव तब प्रारम्भ हुआ, जब नेपाल में वहां के योग्यतम प्रधामंत्री भीमसेन थापा के संरक्षण में राज–काज चलने लगा। भीमसेन थापा के नेतृत्व में नेपाल ने विस्तारवादी नीति का अनुसरण करते हुए तराई के पूर्व गोरखपुर में करीब 200 गांवों पर कब्जा कर लिया। इसी को लेकर 1814 ई. में नेपाल व ईस्ट इंडिया कंपनी के मध्य युद्ध छिड़ गया। वैसे गोरखे 1787 से ही

अंग्रेजी राज्य की सीमा में आतंक मचा रहे थे जिसे अंग्रेज चुप–चाप सहन करते आ रहे थे। अटकिंसन महोदय ने प्रिंसेप, कर्नल गार्डनर, ऑबर एवं ट्रेल महोदय के सरकारी पत्राचार एवं उनके आंखों देखे साक्ष्यों के आधार पर ब्रिटिश शक्ति व नेपाल के मध्य हुए युद्ध के कारणों व परिणामों का उल्लेख किया है। केवल अंग्रेजी शासन से ही नहीं वरन् पश्चिम में कांगड़ा की घाटी में महाराजा रणजीत सिंह के साथ भी गोरखों का संघर्ष हुआ था। उन्हें अंग्रेजों की विस्तारवादी नीति से कुमाऊँ, गढ़वाल व हिमाचल को बचाना था।

अंग्रेजों के साथ गोरखों के युद्ध का तात्कालिक कारण गोरखपुर स्थित बुटवल का प्रांत था। बुटवल का परगना प्रारम्भ में पाल्या के राजा के पास था जिसे गोरखों ने पराजित कर नेपाल में बंदी बना रखा था। 1804 ई. में गोरखों ने पाल्या के राज्य को अपने आधीन कर बुटवल पर भी जबरदस्ती अधिकार कर लिया, जबकि इस समय बुटवल अंग्रेजी राज्य में था। 1812 ई. तक अंग्रेज गोरखों की लूट–पाट व अतिक्रमण को सहन करते रहे। किंतु अप्रैल 1814 ई. में गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स ने गोरखों द्वारा हथियाये गये क्षेत्रों पर अधिकार करने का आदेश अपनी सेना को दे दिया। अवध इस समय ब्रिटिश ईस्ट–इंडिया कंपनी के प्रभाव क्षेत्र में था। इस पर गोरखों की भी नजर लगी हुई थी। अंग्रेजों ने मेजर ब्रेदशॉ को नेपालियों के साथ विवादित इलाकों के बारे में समझौता करने के लिए नियुक्त किया, किंतु नेपाली अफसरों ने इस पर समझौता करने से इन्कार कर दिया। फलतः–कंपनी सरकार ने नेपाल दरबार को यह चेतावनी दे दी कि सारन के 22 गांवों में पुनः पूर्णतया अधिकार कर लेने के पश्चात् बुटवल को भी कंपनी के राज्य में मिला दिया जाएगा। भीमसेन थापा ने जो सेनापति अमर सिंह थापा का जीजा था, अंग्रेजों की इस धमकी की खिल्ली उड़ाते हुए कोई उत्तर नहीं दिया। फलतः अप्रैल 1814 ई. में अंग्रेजी फौज ने बुटवल को कंपनी के राज्य में मिला दिया।

बहादुर कौम लड़ती है। पत्र व्यवहार कायरों के लक्षण है। शेर अब पिंजड़े से बाहर निकल चुका था। ज्योंही अंग्रेजों द्वारा बुटवल के परगने पर अपने सिविल अफसर तैनात कर लिए जाने की बात अमर सिंह थापा को ज्ञात हुई, उसने 29 मई 1814 ई. को मनराज फौजदार के सेनापतित्व में गोरखा वीरों की एक टुकड़ी बुटवल पर हमला करने के लिए भेजी, जिसने 18 पुलिस अफसरों को मौत के घाट उतारने के पश्चात् 6 को घायल भी कर दिया। कालांतर में नेपालियों ने अनेक लोगों को भी या तो मार डाला अथवा उन्हें घायल कर दिया। पूरे विवादित क्षेत्र में गोरखों का अधिकार हो गया। अब बंगाल के प्रशासन ने गोरखों से इस बात की अपील की कि वे तुरन्त विवादित इलाकों का परित्याग कर दें, जिसे गोरखों ने कोरे जवाब में इनकार कर दिया। लॉर्ड मौयरा इस वक्त गवर्नर जनरल था। उसने शब्दों की जगह शस्त्र धारण करने का निश्चय किया। गोरखपुर से एक बड़ी फौज बुटवल

पर हमला करने के लिए भेजी गई, जिसने बुटवल को कम्पनी के राज्य में मिला दिया। अपनी इस विजय से अंग्रेज अब निश्चिंत होकर अपने नाच–रंग में लग गये। इस अस्थाई शान्ति का लाभ गोरखों ने उठाया तथा पुनः बुटवल पर हमला कर 24 अंग्रेज अफसरों को मार डाला। फलतः लॉर्ड मौयरा ने नवंबर 1814 में नेपाल के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अंग्रेजों ने 22 हजार लड़ाकू सैनिकों की फौज तैयार कर चार भागों में बांट ली तथा 2700 सैनिकों की एक टुकड़ी कोसी नदी के पूर्वी प्रान्तों में इस प्रदेश की सुरक्षा में तैनात कर दी। इस तरह नेपाल में एक साथ चारों कोनों से युद्ध छेड़ने के उद्देश्य से समूची सेना को सेना के चार जांबाज जनरलों के आधीन बांटा गया था।

1. मेजर जनरल मार्ले – बिहार में इसके आधीन हजार सैनिक नियुक्त कर उसे सीधे नेपाल की राजधानी काठमांडू पर हमला करने का आदेश दिया गया।

2. मेजर जनरल जे. एस. वुड – इसके आधीन 4 हजार सैनिक गोरखपुर में हमला करने को नियुक्त किये गये।

3. मेजर जनरल जिलेस्पी – इसके आधीन 3 हजार 5 सौ. सैनिक देहरादून में तैनात किये गये।

4. मेजर जनरल ऑक्टर लोनी – इसके आधीन छः हजार सैनिक गोरखा राज्य के एकदम पश्चिमी भाग में तैनात किये गये, जो सतलज और यमुना नदियों के मध्यवर्ती भाग में स्थित था।

इनमें सबसे पहले देहरादून स्थित कलुंगा के किले में हमला होना था जहां मात्र 500 गोरखा सैनिक किले की पहरेदारी कर रहे थे। गोरखा सैनिकों का सेनापतित्व बलभद्रसिंह थापा कर रहा था। मेजर जनरल रॉलो जिलेस्पी ने कलुंगा व नालापानी के किलों में एक साथ हमला कर दिया। फलतः गोरखा वीरों की खुकरियों की मार से अंग्रेज सेना में भगदड़ मच गई और जनरल जिलेस्पी पहली ही मार में हैप्पी हंटिग ग्राउण्ड की ओर चल पड़ा, तदन्तर अंग्रेजी फौज की ओर से अब नये–नये तरीके काम में लाये जाने लगे। उन्होने कलुंगा के किले पर तोपों की धुआँधार वर्षा कर दी, फलतः गोरखों को पीछे हटना पड़ा जिसमें अंग्रेजी सेना का बहुत नुकसान हुआ। अंग्रेजों को अभी तक गोरखों से लड़ने का अनुभव नहीं था। उन्हें गोरखों द्वारा इतना जबर्दस्त प्रहार किये जाने की आशा भी न थी। जनरल जिलेस्पी की मृत्यु के पश्चात् अब उनके सेना प्रमुखों ने नये–नये तौर तरीके निकालने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया। कलुंगा में गोरखों के 420 जवान मारे गये। कलुंगा की लड़ाई में चार पांच सौ गोरखों ने जिस बहादुरी से युद्ध करते हुए अंग्रेजों के छक्के छुड़ाए वह स्वर्णाक्षरों में लिखने लायक है। लड़ने में गोरखा के

http://uou.ac.in

समान कोई नहीं ; कलुगा की लड़ाई में गोरखों ने बहादुरी के साथ–साथ विनम्रता व उदारता भी दिखाई।

उधर मेजर जनरल मार्ले व जे.एस. उड कोई बुद्धिमान जनरल सिद्ध नहीं हुए। जनरल मार्ले की सेना में 5 हजार अतिरिक्त सैनिक जोड़कर उन्हें 13 हजार कर देने के बावजूद मार्ले रणभूमि छोड़कर भाग खड़ा हुआ। काठमाडू में मात्र 4–8 हजार गोरखा सैनिकों ने मार्ले की 13 हजार फौज के लगभग एक हजार सैनिक खुकरियों से काट डाले तथा इसके साथ ही उनकी दो बंदूकें भी छीन ली। इस प्रकार 10 फरवरी 1815 को जनरल मार्ले की फौज को शर्मिन्दगी का सामना करना पड़ा

ब्रिटिश जनरलों में केवल मेजर जनरल डेविड ऑक्टरलोनी ही एक योग्यतम सेनापति था। गोरखा अफसरों में काजी अमर सिंह थापा, उसका पुत्र रणजोर सिंह थापा, अंगद सरदार, हस्तिदल चौतरिया, बम शाह व चामू भंडारी प्रमुख थे। सरदार जयरखा भी इनमें से एक थे। हस्ति दल चौंतरिया व सरदार जयरखा विनायकथल के मैदान में गोला लगने से मारे गये। कर्नल निकल्स ने हस्तिदल की बहादुरी की बड़ी प्रशंसा की थी। 25 अप्रैल 1815 को अल्मोड़ा में अंग्रेजों ने चढ़ाई कर दी। 30 नवंबर , 1814 को देहरादून व 24 दिसम्बर को नाहन में वे पहले ही अधिकार कर चुके थे। डेविड ऑक्टरलोनी के नेतृत्व में जैठक, रामगढ़ व मलाऊं के किलों में भी अंग्रेजों व गोरखों के मध्य भीषण संग्राम हुआ था। अल्मोड़ा को अंग्रेजो के चंगुल से बचाने के लिए 25 अप्रैल की रात चामू भंडारी के सेनापतित्त्व में गोरखों ने खुकरी लेकर तहलका मचा दिया, जिससे ब्रिटिश फौज में कोहराम मच गया। अंग्रेज सेना का नेतृत्व कर्नल निकल्स व कर्नल गार्डनर कर रहे थे। दोनों ओर के सैकड़ों जवान मारे गये।

http://ouac.in

अंग्रेजों के साथ सन्धि :–

27 अप्रैल 1815 ई. को गार्डनर, बम शाह, चामू भंडारी तथा जशमदन थापा के नेतृत्व में अंग्रेजो और गोरखों के मध्य संधि हुई, जिसमें गोरखों द्वारा कुमाऊँ को छोड़कर नेपाल जाने व कुमाऊँ को अंग्रेजों को सुपुर्द करने का प्रस्ताव था। अगले दिन बमशाह ने जशमदन थापा को गार्डनर के पास भेजा और पत्र द्वारा यह मांग की कि पश्चिम भाग में अमर सिंह थापा, उसका पुत्र रणजोर सिंह व अन्य गोरखा सरदार जो जनरल ऑक्टरलोनी के साथ युद्धरत थे, उन्हें लड़ाई समाप्त करने का आदेश भेजा जाय, तथा जैठक व नाहन से सेना वापस बुला ली जाय। इस पत्र पर बमशाह व अल्मोड़ा स्थित अन्य गोरखा सरदारों ने हस्ताक्षर कर रखे थे। इस पर गार्डनर ने एक आदेश जारी कर अल्मोड़ा छोड़कर भागे हुए सभी कुमय्यूं को वापस

अल्मोड़ा बुला लिया। तद्नुसार 30 अप्रैल से गोरखों ने कुमाऊँ छोड़ना प्रारंभ कर दिया और 14 मई को उन्होंने झूलाघाट में काली को पार करे डोटी में प्रवेश कर लिया। पाली में नैथाना व गढ़वाल में लोहबागढ़ में अभी भी गोरखों की चौकियां थीं जिनमें लगभग डेढ़ सौ आदमी तैनात थे। इन्हें भी खाली करा लिया गया तथा गार्डनर को गवर्नर जनरल के आदेश पर कुमाऊँ का कमिश्नर नियुक्त किया गया और जी. डब्ल्यू ट्रेल को उसका सहायक बनाया गया। यह सब होने पर भी 4 मार्च 1816 तक संधि पत्र की पुष्टि नहीं हो पाई थी। नेपाल दरबार में थापा दल ने इस संधिकी पुष्टि करने से इनकार कर दिया फलतः बमशाह जो शान्ति व संधि चाहता था को यह कहना पड़ा कि यदि संधि पत्र खसियों (थापादल) के हाथ पड़ गया तो नाँही केवल वास्तविक शान्ति की स्थापना हो पाएगी, वरन् राजा के पक्षधरों के अलावा स्वयं उसे भी मौत अथवा देश निकाले का सामना करना पड़ेगा। अस्तु, बनारस से स्वर्गीय राजा रण बहादुर शाह के गुरू गजराज मिश्र को काठमांडू बुलाया गया, जिसने 2 दिसंबर 1815 को ले. कर्नल ब्रेदशॉ के साथ संधि की जिसके अनुसार सारा तराई का प्रांत काली के पश्चिम का समूचा पहाड़ी प्रदेश व मंची नदी के पूर्व का भाग ब्रिटिश सरकार को सौंप दिया। काठमांडू में एक ब्रिटिश रेजीडेंट की नियुक्ति करने पर भी सहमति हो गई किंतु शीघ्र ही नेपाल में दलबन्दी प्रारंभ हो गई। थापा दल संधि के बजाय युद्ध करने के पक्ष में था, यद्यपि गोरखाली प्रतिनिधि बरपरसा अथवा मकवानपुर, बीजीपुर तथा महोतरी सबोतरी या मोरंग को छोड़कर शेष तराई का भाग अंग्रेजों को हस्तगत करने के लिए राजी हो गया। लेकिन वह अब काठमांडू में अंग्रेज रेजीडेंट को रखने के लिए राजी न था। यही नहीं अमर सिंह थापा तुंरत युद्ध करना चाहता था। फलतः नेपाल नरेश की ओर से प्रधान मंत्री भीमसेन थापा ने संधि की पुष्टि करने से इनकार कर दिया। इस प्रकार फरवरी 1816 में गजराज मिश्र के माध्यम से गोरखों ने युद्ध की घोषणा कर दी।

अंग्रेजी फौज भी पहले से ही तैयार थी। अतः जनरल डेविड ऑक्टरलोनी के नेतृत्व में 10 फरवरी को ब्रिटिश फौज ने चोरियाघाट के दर्रे से नेपाल की घाटी की ओर प्रस्थान कर दिया। इसी दिन कर्नल निकल्स को भी शीतपुर से डोटी में हमला करने का हुक्म हो गया। गार्डनर को राजनीतिक एजेंट के रूप में फौज के साथ–साथ चलना था। ट्रेल को कुमाऊं के कमिश्नर का प्रभार सौंपा गया। तभी ऑक्टर लोनी की ओर से यह समाचार प्रसारित कर दिया गया कि नेपाल दरबार ने 2 दिसंबर की संधि की पुष्टि कर दी थी। मकवानपुर में गोरखालियों की पराजय तथा दोनों ओर की जनहानि के कारण यह संधि पुष्ट हो पाई थी।

संधि के फलस्वरूप निम्नांकित शर्ते तय की गई।

1. **2 दिसंबर 1815 में गजराज मिश्र द्वारा की गई संधि की नेपाल नरेश ने 4 मार्च 1916 में पुष्टि कर दी।**

2. **दोनों ओर से युद्ध बंदी की अंतिम घोषणा कर दी गई।**

3. **पूर्व संधि के फलस्वरूप तराई का जो प्रदेश अंग्रेजों को सौंपा गया था उसे पुनः नेपाल को लौटा दिया गया क्योंकि इस प्रांत में गोरखा सरदारों की अपनी निजी जागीरें थीं जिनमें मेलमिलाप रखना कम्पनी सरकार के लिए अत्यावश्यक था**

4. **अवध की सीमा पर स्थित भू–भाग अवध के नवाब को दे दिया गया।**

5. **मंची और तीस्ता नदियों के मध्य की छोटी सी पट्टी सिक्किम के राजा को दी गई।**

6. **यह सब व्यवस्था ई. गार्डनर की देख–रेख में हुई जो नेपाल में सबसे पहला ब्रिटिश रेजीडेंट था।**

7. **टिंकर और छांगरू नेपाल को हस्तगत करा दिए गए।**

8. **नाभी व कुटि ब्रिटिश ब्यांस में मिला दिये गये।**

वहां पर यह बात ध्यांतव्य है कि अंग्रेजों ने अल्मोड़े में अधिकार करने से पूर्व गोरखों को तरह–तरह के आश्वासन व लालच दिए थे, जिनमें उन्होंने यह भी आश्वासन दिया था कि यदि गोरखाली लोग अल्मोड़ा अंग्रेजों को सौंप दें तो उनके साथ उदारता बरती जाएगी तथा किसी भी तरह चंदों के राज्य को पुनः स्थापित नहीं किया जाएगा। यह भी कि गोरखों को काली पार कर डोटी में उतारने तक का उत्तरदायित्व अंग्रेजों का होगा। इनमें कुलियों की व्यवस्था भी शामिल थी। कालांतर में इन्हीं शर्तों के मद्देनजर नेपाली झूलाघाट पार नेपाल गये थे।

इस प्रकार गोरखों तथा अंग्रेजों के मध्य हुई उपरोक्त संधि को 'सिगौली की संधि' कहा जाता है। जिसके अनुसार 4 मार्च 1816 के पश्चात् कुमाऊँ में अंग्रेजी सरकार की स्थापना हुई। सिगौली की संधि के अनुसार जहां नेपाल सरकार ने एक ब्रिटिश रेजीडेंट काठमांडू में रखनी स्वीकार की, वहीं अंग्रेजों ने भी गोरखा सैनिकों की बहादुरी से प्रभावित होकर उन्हें ब्रिटिश इंडियन आर्मी में भर्ती करना स्वीकार कर लिया।

अंग्रेजों और गोरखों के बीच युद्ध तथा उससे पूर्व मूरक्राफ्ट की तिब्बत यात्रा का वर्णन परिशिष्ट 2 में दिया गया है।

http://uou.ac.in

परिशिष्ट– 1

–डा0 अजय सिंह रावत

गढ़वाल में गोरखों के विभिन्न सेनानायकों का नेतृत्व

1. अमर सिंह थापा–

काशी से लौटकर तत्कालीन नेपाल नरेश रणबहादुर ने नेपाल के श्रेष्ठतम सेनापति अमरसिंह थापा को सन् 1804 से 1815 तक नेपाल दरबार की ओर से काली नदी से लेकर सतलुज पार तक के विजित प्रदेश का सर्वोच्च न्यायाधीश नियुक्त किया। अमर सिंह थापा ही कुमाऊँ एवं गढ़वाल का नेपाल दरबार द्वारा भेजा सर्वोच्च पदाधिकारी था। उनके आधीन हस्तीदल चतुरिया को नायब सुब्बा तथा काजी रणधीर सिंह बसन्यात को गढ़वाल में सेनापति का पद दिया गया था।

शासन में सुप्रबन्ध का प्रयत्न–

सम्पूर्ण राज्य में भारी अव्यवस्था व्याप्त थी। आमिलों के अत्याचारों से पीड़ित प्रजा शान्ति की खोज में कभी मैदानों में भागती थी, कभी पहाड़ों पर किन्तु प्रत्येक स्थान पर यन्त्रणायें जैसे उनकी प्रतीक्षा करती थीं। दून की हरी–भरी उपत्यका उजाड़ हो चुकी थी। अस्तु, अमरसिंह ने जनता का विश्वास जीतने के लिये कुछ तो सुधार किये किन्त कुछ स्थानों पर पूर्ववत् व्यवस्था ही बनाए रखी। जैसे उसने श्रीनगर में भूतपूर्व अधिकारियों, सज्जन व्यक्तियों को बुलाकर उनसे मन्त्रणा की। तत्पश्चात् घाटों पर चुंगी वसूल करने की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। गढ़ नरेशों ने संकल्प कर जो भूमि मन्दिरों को दान दी थी उसे पूर्ववत् बने रहने दिया। जिन राज्याधिकारियों ने नवीन शासन तन्त्र को सहायता दी थी उनकी जागीरों एवं वैयक्तिक पूंजी पर उन्हीं लोगों का अधिकार बने रहने दिया।

पश्चिम का अभियान–

सिरमौर के अपदस्थ नरेश कर्म प्रकाश ने अमरसिंह के पुत्र रणजोर सिंह से याचना की कि वह उसका सिरमौर वापस दिला दे। अपनी विजय पताका के फहराने का सुवअसर जान अमरसिंह ने कुमाऊँ व गढ़वाल का सैन्य नेतृत्व अपने पुत्र को सौंपकर भक्तिवीर थापा, हस्तीदल चौतरिया एवं रणधीर सिंह के साथ यमुना की ओर कूच किया। सन् 1815 तक पश्चिम विजय का अभियान चलता रहा तथा अमरसिंह को पुनः यह अवसर न मिला कि शासन में कोई सुधार कर सके।

http://uou.ac.in

2. रणजोर सिंह थापा (शासन 1804–1805)–

रणजोर सिंह उत्तम प्रकृति का व्यक्ति था। विद्वानों, कलाविदों का अत्यधिक सम्मान करता था। गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्राकर एवं कवि मोलाराम पर उसकी विशेष कृपा दृष्टि थी जिन्होंने 'रणजोर' को प्रसिद्ध दानवीर कर्ण की उपमा से विभूषित किया है।

शासन की सुव्यवस्था हेतु उसने एक सभा मण्डली का गठन किया था जो राज्य की समस्याओं पर मन्त्रणा कर उचित मार्ग निर्देशन करती थी।

रणजोर सिंह के पदाधिकारी–

यद्यपि रणजोर सिंह स्वयं श्रेष्ठतम व्यक्ति था किन्तु उसके सामन्तों का व्यवहार अत्यधिक निरंकुश एवं क्रूरतम था। उनकी धारणा थी कि जनता के साथ जितनी अधिक कठोरता की जाये शासन उतना ही स्थायी रहता है। अस्तु इन लोगों ने प्रजा पर मनमाने अत्याचार किये। वे भद्र पुरूषों को अपमानित करते थे, बलात्कार की घटनायें नित्य होती थीं, गोरखा सैनिक एवं अन्य अधिकारीगण बलात् बालिकाओं एवं विवाहित नारियों को पांच या सात रूपये देकर अपनी उपपत्नी बना लेते थे। रणजोर के शासनकाल में जन्मे अत्याचार, लूटमार व यातनाओं को गोरखा शासन के अन्त तक गढ़राज्य की निरीह प्रजा को अंगीकार करना पड़ा। समाज टूटने लगा, राज्य क्षय हो गया।

कर प्रणाली में किंचित परिवर्तन–

गढ़वाल में पहले से चली आ रही न्याय प्रणाली एवं कर प्रणाली में किंचित परिवर्तन किया गया। भूमिकर के साथ कुछ नवीन कर, यथा–मोकर, डांकर, मझारी, घोकर, सलामी तथा सोन्याफागुन लगाये गए। अपराधों के लिए अपराधी की आर्थिक स्थिति उसके दण्ड की धनराशि को नियत करती थी। निश्चित समय पर राजस्व जमा न करने पर व्यक्ति विशेष के घरवालों को नीलाम कर दिया जाता था।

दून उपत्यका पर कहर–

गढ़राज्य नरेश श्री प्रद्युम्न शाह की मृत्यु का समाचार हवा के साथ समग्र गढ़राज्य में फैल गया। गढ़राज्य की प्रजा हताश हो गई और तस्वीर के दूसरी ओर गोरखाओं की बन आई। उन्होंने नगर व ग्रामों को जी भर कर लूटा। निरीह प्रजा को खूब सताया। प्रद्युम्न शाह के मित्र भी अत्याचारों की ज्वालाओं में भून दिये गये। देहरादून स्थित तत्कालीन गुरू राम राय मन्दिर के महन्त श्री हरसेवक थे जो कि प्रद्युम्न शाह के हितैषी थे। अन्यायी गोरखाओं को महन्त पर अपराध लगाते देर न

लगी। हत्या का आरोप आनन फानन लगा दिया गया किन्तु हत्या का प्रमाण मिल ही न पाया। तत्पश्चात् गोरखा न्याय प्रणाली का घृणित व अमानवीय साक्ष्य 'कढ़ाई–दीप' की व्यवस्था की गई। इसके अनुसार कढ़ाई के उबलते हुए सीरे में उनके दोनों हाथ डाल किये गये। स्वाभाविक था कि हाथ बुरी तरह जल गये। हाथों का जलना उनके अपराध का प्रमाण माना गया और उन्हें दण्ड स्वरूप एक महती धनराशि निरपराध होने के बावजूद भी देनी पड़ी। इस उपत्यका में महन्त जी के अनेक गांव थे। उक्त घटना की यह प्रतिक्रिया हुई कि महन्त जी के समस्त गांव उजाड़ हो गये। इसका प्रभाव अन्य ग्रामों पर भी पड़ा, हरी भरी उत्पत्यका वीरान व निर्जन हो गई। पूरे वर्ष भर खेती नहीं की गई।

माणा घाटी के भोटांतिकों का आत्मसमर्पण–

गढ़ नरेशों ने माणाग्राम बद्रीनाथ के मन्दिर को अर्पण कर दिया था। इस हेतु माणाग्राम के निवासी भौटान्तिक कर मुक्त थे। इनकी समृद्धि की गाथायें बढ़े चढ़े रूप में फैली थीं। गोरखा तंत्र की आंखें इनके ऐश्वर्य पर गड़ गयी। फलस्वरूप एक महती गोरखा कुमुक भोटान्तिकों के प्रदेश में चढ़ आई। भोटान्तिकों ने रीणी (ऋषि गंगा) के झूले (पुल) को काट डाला। गोरखा सैनिकों के बढ़ते हुए कदम रूक गये किन्तु इस व्यवधान से अधिक हानि बेचारे भोटान्तिकों को हुई क्योंकि उनका निचली घाटियों से जो शीतकालीन व्यापार होता था वह इसी झुले (पुल) के द्वारा होता था और इसी व्यापार पर इसकी अगली कड़ी 'ग्रीष्मकालीन तिब्बती व्यापार' निर्भर करता था। भुखमरी की नौबत आ गई मरता क्या न करता, भोटान्तिकों को गोरखों के आगे झुकना ही पड़ा, आधीनता स्वीकार करनी पड़ी, किन्तु राजस्व वसूल करने में गोरखा सैनिकों का व्यवहार इतना निर्मम एवं कष्टदायी होता था कि भोटान्तिक के कई परिवार जन्मभूमि का मोह त्यागकर अन्यत्र जा बसे।

रणजोर का पलायन–

रणजोर थापा को सम्भवतः एक वर्ष पश्चात् पश्चिम के अभियान पर जाना पड़ा जहां उसके पिता व्यस्त थे।

3. हस्तीदल चौतरिया (1805–1808)–

हस्तीदल चौतरिया शान्त प्रकृति का लगभग 43–44 वर्ष का पुरूष था। कृषकों के प्रति इसकी विशेष आस्था थी।

दून उपत्यका में सुप्रन्ध–

हरीतिम दूनस्थली, जो रणजोरसिंह के काल में बंजर हो चुकी थी, चौतरिया ने उसे पुनः हर–भरा कर दिया। हरसेवक राम को उनकी प्रतिष्ठा पुनः मिल गई। ग्रामीण के पुनर्निवास की सराहनीय व्यवस्था की गई। दून की वार्षिक आय जो गढ़ नरेशों के समय नौ सहस्त्र थी चौतरिया के काल में बढते–बढ़ते अट्ठारह सहस्त्र हो गई।

सुव्यवस्था के प्रयत्न– सिख, जाट, गूजर, राँघड़, रोहिले लूटेरे सदैव दून स्थली में लूटमार कर जनता को परेशान करते थे। दून के आमिलों ने घोषणा की कि यदि अब लुटेरे आयेंगे तो उनके ग्राम जला दिये जायेंगे। सिख लुटेरों की एक टोली ने इस घोषणा की उपेक्षा कर पुनः दून में प्रवेश कर लूटमार की। इस पर गोरखा सैनिकों ने लुटेरों का पीछा कर उनके ग्राम को घेर कर चारों ओर से आग लगा दी– स्त्री, बच्चे वृद्ध सब जला दिये गये। यद्यपि यह बर्बरता का कार्य था किन्तु इसका अच्छा परिणाम यह हुआ कि लूटमार का सर्वथा अन्त सा हो गया और शान्ति स्थापित हो गई।

कृषकों के कल्याणार्थ प्रयत्न–

कृषि की उन्नति के लिए इसने तकावी ऋण दिये, लगान की दर घटा दी। सयाणों को राजस्व की दर कम कर अर्थात् पांच सात रूपया वार्षिक कर लेकर पूरा ग्राम देना प्रारम्भ कर दिया। इस पर प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी समृद्धि हेतु अपने ग्राम बसाये तथा कृषकों की दशा सुधारी।

दासों की हीन दशा–

इतनी उदार प्रकृति का होने पर भी दासों की दीनता में कोई अन्तर नहीं आया था। हरिद्वार के 'हर की पैड़ी' वाले मार्ग में स्थित भीम–गोड़ा के निकट गोरखाली चौकी पर सहस्त्रों अभागे नर, नारी, बाल नीलाम किये जाते थे। दासी एवं केटी (दास बच्चे) गोरखा सैनिक महती संख्या में अपने पास रखते थे जिनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था।

रेपर का गढ़ राज्य आगमन–

अधिक लाभ प्राप्ति हेतु कम्पनी सरकार ने रेपर को हस्तीदल के समक्ष भेजा था ताकि गढ़राज्य से होते हुए वे तिब्बत में व्यापार कर सकें। इसी बीच चौतरिया के हाथ से नेपाल सरकार ने सत्ता छीन ली थी क्योंकि हस्तीदल चौतरिया नेपाल दरबार के आदेशानुसार कांगड़ा दुर्ग को फतह करने गया, किन्तु विजयश्री हाथ न

http://uou.ac.in

लगी। अमरसिंह थापा के इस अभियान की असफलता को इंगित करने पर हस्तीदल को नेपाल सरकार ने पदच्युत कर दिया।

4. भैरों थापा (1808–1811)–

भैरों थापा नृशंस, अत्याचारी एवं क्रूर शासक था इसके सहायक भारादार छन्नू भण्डारी, बुद्धि थापा, परशुराम थापा तथा जमादार दून्तिराना भी भैरों की भांति ही बर्बर थे। गढ़राज्य में प्रवेश करते ही भैरों को नेपाल दरबार ने बुद्धि थापा व परशुराम थापा के साथ कांगड़ा अभियान का आदेश दिया। भैरों की अनुपस्थिति में आमिलों, भारादारों, ने जनता को लूटना प्रारम्भ कर दिया। उनकी विलासी प्रवृत्तियों के हेतु धन देकर प्रजा तबाह हो गई। शोषण एवं उत्पीड़न का इतना ताण्डव नर्त्तन हुआ कि गांव निर्जन हो गये, बस्तियां वीरानियों में ढल गईं, मानव का विश्वास थककर टूट गया। गढ़वाल के कवि व चित्रकार श्री भोलाराम ने नेपाल सरकार को इस दुर्दशा व अत्याचारों से अवगत कराया किन्तु इसका फल बेचारे कवि को भुगतना पड़ा। चौतरिया के शासनकाल में 'रण बहादुर चन्द्रिका' की रचना कर इस गढ़वाली चित्रकार को नेपाल दरबार ने प्रसन्न होकर जो सनद एवं जागीर दी थी वह तत्कालीन गोरखा भागीदार ने छीन ली। यद्यपि श्री भोलाराम नेपाल नरेश के समक्ष स्वंय उपस्थित हुए और उन्हें पुनः अपनी जागीर एवं सनदें मिल गईं किन्तु जनता के दुःख–निवारण हेतु नेपाल नरेश ने कुछ भी नहीं किया।

कुँवर वीरभद्र का गढ़राज्य आगमन–

भीमसेन थापा ने सन् 1809 में अमरसिंह थापा के दौहित्र (पुत्री का पुत्र) कुँवर वीरभद्र को कांगड़ा विजय में सहायता देने के लिए भेजा। इन लोगों ने श्रीनगर में धूमधाम से होली का उत्सव मनाया। सारी नगरी विलास में डूब गई। तत्पश्चात् वह कांगड़ा पहुंचा, अमरसिंह न इसे रणजोर के साथ मोरनी दुर्ग पर अधिकार के लिये भेज दिया।

कम्पनी के लिए भांग का उत्पादन एवं लीसे का व्यापार–

कुमाऊँ के लखनपुर, दारों, रौगड़, सालम, बढ़ारौ, महरूर गुम देष तल्ला चौकोट तथा गढ़वाल के बधाण लोभा चाँदकोट, चांदपुर, धनपुर, देवलगढ़ के पठारी भाग में कम्पनी सरकार के लिये भांग की खेती होने लगी जिससे उत्पादकों को खूब लाभ हुआ। कुमाऊँ व गढ़राज्य के पठारी भागों में जहां चीड़ के पेड़ थे लीसा निकालकर बिरोजा, पिथ तथा तारपीन बनाया जाने लगा। ब्रिटेन में निर्मित तारपीन से यहां का तारपीन अधिक पीला, पारदर्शी एवं सुगन्धित था।

5. काजी बहादुर भण्डारी (1811–1812)–

गढ़वाल में राजस्व की राशि उपज पर आधारित न होकर ग्राम की सभी प्रकार की अनुमानित आय पर निर्धारित की गई थी जिस कारण कृषक लगान की पूर्ण धनराशि कभी नहीं दे पाते थे। फलतः उन्हें गोरखा पदाधिकारियों के अत्याचारों के पाटों पर सदैव ही पिसना पड़ता था। भू–व्यवस्था का यह हाल था कि सैनिकों को वेतन तक न 'मिल पाता था। जब निरन्तर इन घटनाओं की सूचनायें नेपाल दरबार को मिलीं तो उसकी नींद टूटी और उसने श्री बहादुर भण्डारी को सुप्रबन्ध एवं सुव्यवस्था हेतु भेजा। भण्डारी के आधीन दशरथ खत्री, सुबेदार अजब भण्डारी, कृष्णानन्द खन्डूरी, हर्कूगुरू एवं बागदार खत्री को भूमि सम्बन्धी सुधार हेतु नियुक्त किया गया। सेनापति के पदपर भैरवसिंह नियुक्त था।

भू–व्यवस्था में परिवर्तन–

उर्वरता को दृष्टि में रखकर भूमि को गढ़वाल में अबल, दम, सोम, चाहर तथा सुँखबासी पांच भागों में विभाजित किया गया। उर्वरता के आधार पर भूमिकर निर्धारित किया गया।

प्राचीन सनदों की पुनः जांच की गई और अनेक सनदें व जागीरें रद्द कर दी गईं। श्री मोलाराम की जागीर भी छीन ली गई तथा सैनिक वृत्ति के रूप में उन्हें नेपाल दरबार से जो एक रूपया मिलता था उसे घटकार आठ आना प्रतिदिन कर दिया गया।

इन सद्प्रयासों के भी कुछ सफल परिणाम न निकले क्योंकि गोरखा भूमि व्यवस्था का जो वास्तविक घुन था वह सैनिकों द्वारा मनमाने ढंग से जनता से कर वसूल करने का नियम था जिसे 'बालि' कहते थे। यह प्रथा काजी बहादुर ने भी पूर्ववत रखी जिससे जनता के उत्पीड़न में रंचमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा क्योंकि वास्तविक उपचार हुआ ही नहीं।

6. अमरसिंह के आमिलों का शासन (1812–1815)–

अमरसिंह थापा ने गोरखा राज्य की विजय पताका सतलुज नदी के पार तक फहरा दी थी इसलिए नेपाल सरकार का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम अलंकार 'काजी' की पदवी से अमरसिंह को विभूषित किया गया। डोटी का शासन 'हस्तीदल' को, कुमाऊँ का बमशाह एवं गढ़वाल तथा यमुना से सतलुज तके विजित स्थल का शासन अमरसिंह तथा उसके पुत्र रणजोर को सौंप दिया गया।

http://ignou.ac.in

अमरसिंह– कठोरता का प्रतिरूप गढ़राज्य में–

सन् 1811 ई0 में अमरसिंह ने बलसन तथा बुशेहर की सेनाओं को परास्त कर बुशेहर का दक्षिण भाग अपने साम्राज्य में मिला लिया। बुशेहर वासी सुसंस्कृत एवं सभ्य थे जो कि अमरसिंह के आतंक एवं कठोरता के सम्मुख घुटने टेकने को सन्नद नहीं थे अस्तु इस प्रान्त में अमरसिंह ने उदारता का व्यवहार किया किन्तु इसके ठीक विपरीत उसने गढ़वाल की भोली जनता से कठोर व्यवहार किया। यद्यपि गढ़राज्य की प्रजा बुशेहर वासियों की भांति सुदृढ़, ऐश्वर्यपूर्ण एवं सुसंस्कृत नहीं थी किन्तु मानव से दानवता का सलूक करना मानवता का गला घोंटना है जिसके लिये अमरसिंह थापा को गढ़राज्य की धरती पर कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। सन् 1812 से 1815 तक गढ़वाल में अमरसिंह के प्रतिनिधियों के रूप निम्नांकित सरदारों ने शासन किया–

(1) सन् 1812–फौजदार परमाराम, श्रेष्ठ थापा, बन्धु थापा तथा भक्ति थापा।

(2) सन् 1813– सूबेदार तुलाराम, अधिकारी रणजोर।

(3) सन् 1814– तुलाराम, सूबेदार हिकमतसिंह, सूबेदार रामकिशन, फौजदार कालू पाण्डे, फौजदार हरि राणा, काजी अर्जुन।

(4) सन् 1815– सूबेदार तुलाराम, अधिकारी बख्तावर सिंह बसन्यात, सरदार भैरवसिंह, फौजदार स्वमंगिरि।

http://uou.ac.in

परिशिष्ट– 2

–डा0 अजय सिंह रावत

मूरक्राफ्ट की तिब्बत यात्रा

सन् 1852 ई0 में मूरक्राफ्ट व हियरसे कुमाऊँ व गढ़राज्य होते हुए ऊन की विस्तृत जानकारी प्राप्ति हेतु तिब्बत पहुंचे। इनके साथ गुलाम हैदरखां तथा हरकदेव पण्डित भी गये थे। तिब्बत प्रवेश के समय इन्होंने गुंसाइयों का वेश बना लिया था। वापसी पर सीमा प्रान्त के गोरखा भारादार ने 15 अक्टूबर को इन्हें बिना अनुमति प्रवेश के कारण बन्दी भी बना लिया किन्तु बमशाह के आदेशानुसार पांच नवम्बर को इन्हें मुक्त कर दिया गया।

अंग्रेजी कम्पनी के साथ सम्बन्धों में तनाव–

नेपाल द्वारा विजित प्रदेश एवं कम्पनी के राज्य की सीमायें परस्पर मिलती थीं, अस्तु सीमा सम्बधी झगड़ों का उद्जन स्वाभविक था। कालान्तर में युद्ध की विभिषिकाओं का प्रारूप इस पृष्ठभूमि पर तैयार होने लगा क्योंकि शान्ति स्थापना की चेष्टायें व्यर्थ हो गई थीं। फलतः 4 जून 1813 को गवर्नर जनरल लार्ड मिन्टो ने एक कड़ा पत्र नेपाल नरेश को भेजा और इसके उत्तराधिकारी लार्ड हेस्टिंग्ज ने 1–11–1814 को युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध का पहला निवाला बनी दून की उपत्यका जहां 22–10–1814 को अंग्रेज आक्रांता चढ़ आये।

http://uou.ac.in

अंग्रेजों एवं नेपाल का युद्ध

पृष्ठ–भूमि–

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की रचना भारत में प्रवेश एवं जम्बूद्वीप को आक्रान्त कर उस पर अधिकार कर लेना– यह तो सर्वविदित तथ्य है कि किन्तु इससे पूर्व कि नेपाल युद्ध पर प्रकाश डाला जाये नेपाल तथा अंग्रेजों के सम्बन्ध में दो पंक्ति लिखना आवश्यक है। भारत प्रवेश करने के बाद ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी कुमाऊँ गढ़वाल, नेपाल एवं तिब्बत आदि क्षेत्रों में व्यापार का प्रसार करने के लिए अत्यन्त ही लालायित थी। सन् 1767 ई0 में जब पृथ्वी नारायण शाह ने नेपाल पर अपना अधिकार जमाने का प्रयास किया तो अंग्रेजों ने नेपाल में अपना भविष्य अंधकारमय जान तत्कालीन नेपाल नरेश जयप्रकाश मल्ल की याचना पर तुरन्त ही एक अंग्रेज कुमुक मल्ल की सहायतार्थ भेजी। पर्वतीय मार्गों से जलवायु से अनजान इस कुमुक

का सेनापति कैप्टन किनलोक था। परिणाम निश्चित था, इस अभागी सेना के 2800 सैनिकों में से केवल 800 सनिकों जीवित बचे जो कि कम्पनी की गरिमा पर एक कल्मष था।

सन् 1774 में जार्ज बोगलों को भूटान भेजा गया था और आदेश दिया गया था कि वह नेपाल के मार्गों का प्रयोग न करें। सन् 1795 में मौलवी अब्दुल कादिर को नेपाल की आन्तरिक स्थिति का पता लगाने भेजा गया। सन् 1802 से सन् 1803 तक कैपटन नौक्स नेपाल में रहा किन्तु उसे नेपाली जनता से तनिक भी सहयोग न मिला। सन 1802 से 1803 तक गढ़राज्य एवं कुमाऊँ की दक्षिणी सीमा पर यमुना नदी से काली नदी तक कम्पनी ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

गवनर जनरल वैलेजली की नीति नेपाल से मित्रतापूर्ण थी। लार्ड मिन्टो भी वैलेजली का ही अनुयायी था। सन् 1809 में उसने नेपाल के राजा को एक पत्र भेजा कि काशीपुर की फैक्ट्री के प्रबन्धक रूथर फोर्ड को अल्मोड़ के वनों से चीड़ प्राप्त करने दे। साथ ही वहां के निवासियों को लीसा निकालने का प्रशिक्षण देने की भी अनुमति दे। नेपाल नरेश ने अपनी स्वीकृति दे दी।

सन् 1812 में जब मूरक्राफ्ट बिना अनुमति प्राप्त किए नेपाल के मार्ग से होता हुआ तिब्बत गया था तो नेपाल नरेश ने रोषपूर्ण पत्र गवर्नर जनरल को भेजा था और कम्पनी ने मूरक्राफ्ट की यथेष्ट भर्त्सना की थी।

सन् 1813 में लार्ड हेस्टिंग्ज ने भारत में शासन की बागडोर हस्तगत की। बुटवल तथा शिवराजपुर के इलाके पल्पा–नरेश पृथ्वी नारायण के पास थे जो कि लखनऊ के नवाब के आधीन था। लखनऊ के नवाब की पराजय अंग्रेजों के हाथों हुई इस हेतु पल्पा परोक्ष रूप से अंग्रेजों के आधीन हो गया था किन्तु पृथ्वी नारायण काठमाण्डू में कैद था, इसलिए भीमसिंह थापा का पिता अम्बर सिंह पल्पा का जागीरदार बना हुआ था। उससे जब कम्पनी ने शिवराज एवं 'बुटवल' के प्रान्त मांगे तो अम्बर सिंह चुप्पी साधे बैठा रहा। हेस्टिंग्ज ने पुनः उक्त स्थलों की मांग की, 25 दिन की अवधि दी गई किन्तु कोई प्रतिक्रिया न देखकर कम्पनी ने सन् 1814 में सेना भेज, तराई हस्तगत कर बुटवल में तीन एवं शिवराजपुर में एक थाना स्थापित किया। सेना लौट आई। 29 मई 1814 को पुनः नेपाली सेनाएं आई बुटवल के थाना रक्षकों की हत्या करदी। आतंकित होकर मुट्ठी भर अंग्रेज जो शिवराजपुर में थे, स्वयं ही शिवराजपुर त्याग कर चले गये।

अब युद्ध के अतिरिक्त कोई चारा न था। दोनों ओर युद्ध की तैयारियां होने लगीं। नेपाली सेना के विषय में अंग्रेज कप्तान हियरसी ने लिखा ''गोरखाली कमान्डर अज्ञ, कुटिल, धोखेबाज, अविश्वसनीय, हठधर्मी होते हैं। वह विजय और

युद्ध में खून के प्यासे तथा क्रूर एवं पराजय में नीच तथा घृणास्पद बन जाते हैं। उनकी किसी सन्धि या शर्त पर विश्वास नहीं किया जा सकता....''किन्तु हियरसी के यह आक्षेप सर्वथा असत्य एवं मूर्खतापूर्ण थे। गोरखा युद्ध की एक छोटी–सी कुमुक ने ही यह सिद्ध कर दिया था।

अंग्रेजी सेनाओं ने चार स्थलों से नेपाल पर धावा बोल दिया।(1) मेजर जनरल मार्ले की कमान में पहले 8000 फिर 13000 सैनिकों ने बिहार से प्रस्थान करते हुए काठमान्डु को अपना लक्ष्य बनाया। (2) गोरखपुर से बढ़ने वाली 4000 सेना का संचालन मेजर जनरल वुड ने किया। (3) मेजर जनरल गिलेस्पी को 3500 के साथ देहरादून का अभियान सौंपा गया। (4) पश्चिमी छोर पर सतलुज–यमुना के मध्य मेजर जनरल आक्टर लोनी अपने सैनिकों के साथ अग्रसर हुआ।

19 अक्टूबर 1814 को गिलेस्पी की सेनाएं सहारनपुर से रवाना हुई और देहरादून तक पहंचने में उन्हें किसी भी व्यवधान का सामना न करना पड़ा। दून उपत्यका में ही स्थित देहरादून से साढ़े तीन मील दूर खलंगा (नालापानी) का दुर्ग था जिसके रक्षक का नाम बलभद्र था। तीन–चार सौ सैनिकों के साथ उसे दुर्ग–रक्षा का भार सौंपा गया था।

लगातार तीन धावे बलभद्र पर बोले गए– प्रथम 25 अक्टूबर को कर्नल भावी ने छः पौन्डी तथा दो हवाईजर तोपों से, द्वितीय 26 अक्टूबर को गिलेस्पी ने, तृतीय पुनः 31 अक्टूबर को गिलेस्पी ने बड़ी भयावह तैयारी के साथ, जिसमें बेचारा गिलेस्पी वीरगति को प्राप्त हो गया। रणबाँकुरे बलभद्र ने अंग्रेजों के तीनों हमले नाकाम कर दिये। अंग्रेजों ने दिल्ली से सहायता की याचना की और युद्ध 24 नवम्बर तक के लिऐ रोक दिया गया। सहायता प्राप्त करने पर तुमुल युद्ध छिड़ गया। एक ओर मुट्ठी भर बलभद्र के साथी, दूसरी ओर अंग्रेजों की विपुल सेनाएँ।

पशुपतिनाथ की जय का निनाद करता यह छोटा सा दल महाकाल बना हुआ फिरंगियां की सागर जैसी असीम शक्ति से भिड़ गया क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि मुकाबला एक और दस का नहीं बल्कि एक और सौ का है, वीरगति अवश्यम्भावी है, किन्तु उन्हें अपने शौर्य व वीरता की कहानी जमीं पर ही नहीं आसर्मा तक लिखनी थी। अंग्रेजों ने जब देखा कि हमारे आक्रमण विफल हो रहे हैं तो उन्होंने दुर्ग की जलपूर्ति के समग्र उद्‌गम बन्द कर दिये। गोली की मार से अधिक यातनामय प्यास की मार होती है। पन्द्रह बीस दिन के बाद पानी का कष्ट असह्य हो गया। 30 नवम्बर को दुर्ग के द्वार खोल दिये गये। रणबाँकुरा बलभद्र अपने 70 बचे हुए वीर साथियों के साथ अंग्रेजी सेनाओं की पंक्तियों को चीरता हुआ निकल गया।

http://ou.ac.in

'जैनागढ़' व 'जेठक' नामक स्थानों पर अंग्रेजी सेनाओं को बलभद्र के हाथों लोहे के चने चबाने पड़े। बलभद्र बढ़ता हआ रणजीतसिंह के वीरों के साथ मिल गया और अफगानों के साथ युद्ध करते हुए यह सत्तर वीर एक–एक कर शहीद हो गए। इन्होंने फिरंगियों को यह दिखा दिया कि हिमालय की पुनीत स्थली वीर प्रसविनी है, हिमानी के प्रहरी समय आने पर अपने हाथों को खंजर बना लेते हैं। शहीद की मौत ही उनके वतन की जिन्दगी होती है। अंग्रेजों ने भी उनके शौर्य के समक्ष सिर झुकाया जिसका प्रमाण आज भी उपलब्ध कलंगा में दो स्मारक है। जिनमें से एक पर लिखा है–

''हमारे वीर विरोधी दुर्गपाल बलभद्र और उसके वीर गोरखों के सम्मान में वह उत्कीर्ण है, जो कि पीछे रणजीत सिंह की नौकरी में रहते अफगान तोपखाने के सामने एक–एक कर मारे गए।''

(राहुल से उद्धृत)

श्री फ्रेजर ने युद्ध का वर्णन इन शब्दों में किया है कि ''.....घायलों और बन्दियों के साथ क्रूरता नहीं की गई, जहरीले बाण इस्तेमाल नहीं किये गये, कुँए या पानी में विष नहीं डाला गया, बदले की निकृष्ट भावना उन्हें प्रभावित करती नहीं देखी गई। उन्होंने मनुष्यों की भांति हमारे साथ न्यायोचित ढंग से लड़ाई की और लड़ने के बीच वाले विश्राम के वक्त ऐसी उदार नम्रता दिखलाई जो कि अधिक प्रबुद्ध जाति के अनुरूप ही हो सकती है...।''

अंग्रेजों ने जहां सैन्य बल पर नेपाल को विजित करने का प्रयास किया दूसरी ओर नेपाली भारादरों को रिश्वत से फोड़ने की भी कोशिश की। कुमाऊँ के प्रतिनिधि (नेपाल द्वारा नियुक्त) बमशाह को डोटी के राज्य का भी लालच दिया।

नालागढ़ के पास अंग्रेजी सेनाएं 2 नवम्बर को पहुंची। 4 तारीख को भयंकर गोलाबारी के समक्ष गोरखा सैनिकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। एक के बाद एक दुर्ग धराशायी होता गया। सूरगढ़ की बारी आयी जहां प्रबल भक्ति थापा ने जमकर लोहा लिया किन्तु सत्तर वर्षीय यह वीर दिग्गज रणभूमि में ही मारा गया। जिसके निर्जीव शरीर को बड़े सम्मान के साथ आक्टरलोनी ने गोरखा सैनिकों को सौंपा। मई के प्रथम सप्ताह में मलोव को हस्तगत करने की योजना प्रारम्भ की गई। यहा प्रसिद्ध गोरखा सेनापति अमरसिंह निवास कर रहा था। दो दिन का अल्टीमेटम दिया गया, 10 तारीख को युद्ध प्रारम्भ हुआ। बारूद के कगार पर कब तक गोरखा कुमुक ठहरती? 15 मई को मलोव ने आत्मसमर्पण कर दिया। कुमाऊँ का भारादार बमशाही पहले ही आत्मसमर्पण कर चुका था। अब यमुना व सतलज के मध्य समग्र दुर्ग अर्की, सबाथू, जैठक, जगतगढ़, खाई आदि अंग्रेजों के अधिकृत हो गए।

गढ़वाल के भी दुर्ग अंग्रेजों को सौंप दिए गए, क्योंकि देहरादून पर गिलेस्पी को आंशिक सफलता प्राप्त हो ही चुकी थी।

इसी बीच नेपाल सम्राट ने चीन के शासक से सहायता का अनुरोध किया किन्तु चीन में गृहयुद्ध के बादल मँडरा रहे थे इस हेतु वह सहायता न दे पाया, फलतः सन्धि का आयोजन हुआ। नेपाल से राजगुरू गजराज मिश्र एवं चन्द्रशेखर उपाध्याय शान्ति वार्ता के लिए आए, जिनके समक्ष अंग्रेजों ने निम्नांकित शर्तें रखी–

1. **युद्ध के पूर्व झगड़े के क्षेत्र लौटा दिये जाएं।**
2. **काली–रापती के बीच की तराई स्थली अंग्रेजों को मिले।**
3. **बुटवल को छोड़कर रापती और गंडक की तराई भूमि भी अंग्रेज लेंगे।**
4. **गंडक–कोसी के मध्य की तराई जमीन अंग्रेजों को अधिकृत होगी।**
5. **मेची–विस्ता के मध्य का तराई भाग एवं पर्वतीय प्रदेश पर अंग्रेजों की सत्ता होगी।**
6. **मंचि और तिस्ता नदियों के मध्य छोटी सी पट्टी सिक्किम के राजा को दी गई।**

अन्तिम शर्त को नेपाल सम्राट ने अस्वीकार कर दिया एवं पुनः युद्ध की विभाषिकाओं ने नेपाल की सरहदों को आवेष्ठित कर दिया।10 फरवरी 1816 को आक्टर लोनी काठमान्डु के मार्ग पर स्थिति भिद्दाखीरी अमलेखगंज तक पहुंच गया। मकवानपुर में भी अंग्रेजों को ही विजयश्री मिली। लगातार शौय एवं वीरता की अभिव्यक्ति करते हुए भी पराजय का सामना करते–करते अब गोरखा वीरों का मनोबल टूट गया, हताश व निराश नेपाल सम्राट ने मजबूर होकर सिगौली के सन्धि–पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

30 नवम्बर 1815 को खलंगा विजय के बाद गढ़वाल का शासनतंत्र अंग्रेजों के हाथों में आ गया। उन्होंने गढ़वाल का उर्वरतम पश्चिमी भाग स्वयं ले लिया और शेष भाग गढ़वाल नरेश सुदर्शन शाह को सौंप दिया। 4 मार्च 1820 की सन्धि के अनुसार टिहरी पर भी गढ़वाल नरेश का अधिकार मान लिया गया। 1840 में अंग्रेजों ने अपने अधिकृत स्थल की राजधानी श्रीनगर के स्थान पर पौड़ी कर दी, क्योंकि पौड़ी की जलवायु अपेक्षाकृत ठण्डी थी।

http://uou.ac.in

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

अध्याय– पांच

प्रशासनिक नवाचारों की प्रयोगशालाः उत्तराखण्ड (1815–1949)

–डा0 आर0एस0 टोलिया

उत्तर–पूर्व में चीन और दक्षिण–पूर्व में नेपाल की अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं से विभाजित, पश्चिम में हिमाचल प्रदेश व दक्षिण में उत्तर–प्रदेश की सीमाओं से सटे, केन्द्रीय हिमालय जोन में 77^0 34′ तथा 81^0 02′ पूर्व देशांतरों व 28^0 43′ तथा 31^0 27′ उत्तरी अक्षांस के बीच स्थित, 2 मण्डलों व 13 जनपदों में प्रशासनिक रूप से विभाजित तथा 53,483 वर्ग किलोमीटर में फैले उत्तराखण्ड राज्य का प्रशासनिक इतिहास अत्यंत ही रोचक है।

भारतीय गणतंत्र के 27वें राज्य के रूप में स्थापित 9 नवम्बर, 2000 को उदित इस राज्य को इसकी विशिष्टताओं के कारण वर्तमान समय में भी 'विशेष श्रेणी पद' दिया गया है। काल–क्रम की दृष्टि से भी 3 मई, 1815 के एडवर्ड गार्डनर को इस नये क्षेत्र का 'कुमाऊँ के मामलों का कमिश्नर' नियुक्त होने से 1 अगस्त 1949 को टिहरी गढ़वाल रियासत के इसमें पुनः संविलयन होने तक, यह क्षेत्र निरंतर प्रशासनिक नवाचारों की प्रयोगशाला ही बनी रही। आज भी इसके प्रशासन के विभिन्न पहलुओं में उन नवाचारों व प्रयोगों का प्रभाव अनुभव किया जा सकता है।

आधुनिक युग के ब्रिटिश–कालीन भारतीय साम्राज्य की प्रशासन–प्रणाली को तीन स्पष्ट काल–खण्डों में विभक्त किया जा सकता है।

1. ईस्ट इंडिया कम्पनी का एक विशुद्ध व्यवसायिक स्वरूप, जब वह फ्रांसीसी और हालैण्ड की अन्य कम्पनियों के साथ व्यवसायिक स्पर्धा में व्यस्त थी (1599–1702), और जिस अवधि में कम्पनी की गतिविधियाँ, राजा के अधिकार–पत्रों (चार्टरों) के स्थान पर ब्रिटिश संसद के अधिनियमों से मर्यादित थीं,

2. कम्पनी के द्वारा अपने भारतीय उपनिवेश का सुदृढ़ीकरण तथा सार्वभौम प्रभुसत्ता की राजशाही के साथ साझेदारी (1702–1858), और

3. सैन्य–द्रोह के पश्चात् शेष प्रशासनिक शक्तियों का भी समर्पण (1858–1949),

http://uou.ac.in

मुगल साम्राज्य की पकड़ दक्षिण में ढीली थी और अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोपीय शक्तियाँ अपने–अपने उपनिवेशों की स्थापना में अटलांटिक सागर के दोनों छोरों पर व्यस्त थीं. भारतीय उप–महाद्वीप भी इस उथल–पुथल से अछूता न रह सका।

दक्षिण–भारत में समुद्रतटीय निरापदताः

मुगल सम्राट आलमगीर औरंगजेब की 1707 में मृत्यु के तुरन्त पश्चात् लगभग पूरा दक्षिण–भारत दिल्ली के नियंत्रण से मुक्त हो गया। दक्षिण–भारत की स्थानीय राजनीति में हस्तक्षेप करने वाला पहला यूरोपीय देश फ्रांस था। औरंगजेब की मृत्यु तक सभी यूरोपीय देश शुद्ध रूप से व्यापारिक गतिविधियों में व्यस्त थे तथा व्यापारियों के रूप में वे किसी भी शासक के आदेश का पालन करने को तैयार रहते थे, चाहे वह किसी भी नस्ल या धर्म का अनुयायी हो।

दक्षिण–भारत में 1707 के पश्चात् उत्पन्न हुई राजनैतिक व प्रशासनिक अस्थिरता के दौरान 1735 में बेनॉ ड्यूमा (Benoit Dumas) का पॉडुचेरी का गवर्नर बनना, जिसे भारत में स्थित सभी फ्रांसीसी उपनिवेशों का निमंत्रण दिया गया था। ड्यूमा का तंजोर के राजा के राज्यारोहण में हस्तक्षेप (1730), नवाब कर्नाटक और मरहठों के युद्ध के बाद भगोड़े नवाब के परिवार को पांडुचेरी किले में प्रश्रय देना और अन्ततः मुगल सम्राट द्वारा ड्यूमा को नवाब की पदवी और मनसबदारी देना, ड्यूमा के बाद नये गवर्नर जोसेफ फ्रांस्वा डूप्ले को भी नवाब की पदवी से विभूषित करना (1741) और डूप्ले का नवाब के रूप में फ्रांसीसी वर्चस्व स्थापित करने के प्रयास इस अवधि की कुछ प्रमुख घटनाएं थीं; दक्षिण भारत की इन महत्वपूर्ण घटनाओं के तुरन्त बाद ही यूरोपीय महाद्वीप में ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य युद्ध छिड़ गया। इस समय डूप्ले पांडुचेरी का गवर्नर था और राबर्ट क्लाइव मद्रास में कम्पनी का युवा राइटर। फ्रांसीसियों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच दक्षिण–भारत व यूरोपीय महाद्वीप में इन दोनों बड़ी राजनैतिक शक्तियों के बीच समय–समय पर होने वाले संघर्षों का एक परिणाम भारत में यह रहा कि यहॉ के सभी राजा–रजवाड़ों को इन यूरोपीय देशों की सैन्य–शक्ति का अभिज्ञान हो गया और अब वह इन दोनों देशों की सैन्य टुकड़ियों की समय–असमय अस्थायी सैनिक सेवाओं के बदले कुछ आर्थिक सहायता या अपने राज्य का कुछ भाग देने को तैयार रहते थे। इस बदली स्थिति का सबसे पहले लाभ अंग्रेजों ने उठाया। दक्षिण–भारत में अंग्रेजी और फ्रांसीसी ताकतों की इस कशमकश का अंत डूप्ले की 1754 में अपने देश को वापिसी और उसके उत्तराधिकारी गोडेच्यू द्वारा मद्रास के गवर्नर के साथ शान्ति–संधि के साथ हुआ किन्तु डूप्ले के प्रस्थान के दो वर्षों के बाद ही अंग्रेज और फ्रांसीसी पुनः यूरोप के सात–वर्षीय युद्ध (1756–63) में विरोधी बनकर एक दूसरे के पुनः आमने–सामने आ गये। 1758 में फ्रांस ने काम्टे लाली–तोलेन्दाल को

http://ignou.ac.in

अंग्रेजों को भारत से बाहर खदेड़ने के उद्देश्य से भेजा किन्तु उसकी अपनी गरम–मिजाजी, पांडुचेरी के गवर्नर से गहरे मतभेद के चलते उसे और फ्रांसीसी सेना को बंगाल से क्लाइव द्वारा भेजे गये कर्नल फोर्ड के हाथों हार का सामना करना पड़ा। अन्ततः 1760 में कर्नल कूट की सेना ने वांडीनाश के युद्ध में फ्रांसीसी सेना को अन्तिम रूप से पराजित कर दिया और पांडुचेरी के गवर्नर बसी को बंदी बना लिया। इस प्रकार 1761 तक दक्षिण–भारत में अंग्रेजी–फ्रांसीसी आधिपत्य के संघर्ष का पांडुचेरी को अंग्रेजों द्वारा हस्तगत करने के साथ अन्त हो चुका था।

कहा जा सकता है कि भारतीय उप–महाद्वीप के परिप्रेक्ष्य में दक्षिण–भारत में 1761 तक अंग्रेजों की किसी भी दूसरे यूरोपीय देश से स्पर्धा की हर सम्भावना समाप्त हो चुकी थी। पांडुचेरी को फ्रांसीसियों को पुनः 1763 में पेरिस की संधि की शर्तों के अन्दर लौटाया गया, 1778 में फिर इस पर अंग्रेजों ने कब्जा किया और पुनः 1783 में इसे वापिस लौटाया। 1793 में कार्नवालिस के पुनः अधिग्रहित करने के बाद इसे 1802 में अमीन्स की संधि के द्वारा पुनः लौटाने की शर्त रखी गयी किन्तु लार्ड वेलेजली ने अपने विवेक का प्रयोग करते हुये इसे 1816 में ही फ्रांसीसियों को वापिस किया।

उत्तरी–भारत में सुदृढ़ीकरण व विस्तार

उत्तरी भारत में इस दौरान औरंगजेब की मृत्यु के समय बंगाल सूबे का नवाब, या गवर्नर, मुर्शीद कुली खॉ था, जो जफर खॉ के नाम से भी जाना जाता था। मुर्शीद कुली खॉ ने बंगाल सूबे की राजधानी ढाका को असुरक्षित समझते हुए कासिम बाजार के निकट स्थित मुर्शिदाबाद को स्थानान्तरित कर दिया था। मुर्शिदाबाद में अंग्रेजी, फ्रांसीसी और हॉलैण्ड की कम्पनियों की फैक्ट्रीरयाँ स्थापित थी। अंग्रेजों का मुख्यालय कलकत्ता था, फ्रांसीसियों का चन्द्रनगर और डच का चिनसुरा में। नवाब मुर्शीद कुली खॉ के 21 वर्ष के शासन के पश्चात् वंशानुगत उत्तराधिकार की श्रृंखला 1740 में जाकर टूटी जब अलीवर्दी खॉ ने बंगाल की सत्ता हथिया ली। अलीवर्दी खॉ बंगाल के प्रसिद्ध नवाबों में अन्तिम था और उसकी 1756 में मृत्यु के बाद उसका पोता, सिराजुद्दौला गद्दी–नशीन हुआ। मात्र दो महीनों के अन्दर ही उसकी अंग्रेजों से अनबन हो गयी। जब अंग्रेजों ने एक भगौड़े को उसे लौटाने से मना कर दिया और कलकत्ता में फ्रांसीसियों के आक्रमण से सुरक्षा के लिए दुर्ग–निर्माण कार्य को सिराजुद्दौला के आदेश के बाद भी बंद नहीं किया तो उसने एक बड़ी सेना लेकर कलकत्ता पर आक्रमण कर दिया। गवर्नर ड्रेक और अन्य अंग्रेज जहाजों में चढ़कर नदी के रास्ते भाग खड़े हुये और जिन्होंने आत्म–समर्पण किया उन्हें फोर्ट विलियम की सैनिक जेल में ठूंस दिया गया. "ब्लैक

होल" के नाम से कुख्यात इस काण्ड में 146 में से केवल 23 व्यक्ति ही जीवित बचे। क्लाइव व एडमिरल वाटसन के सैन्य हस्तक्षेप से कलकत्ता दुबारा 1757 में अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। इस बीच यूरोप में अंग्रेजों और फ्रांसीसी के फिर युद्धरत होने पर यहां क्लाइव ने फ्रांसीसी चन्द्रनगर को अपने कब्जे में ले लिया। अपने अधिकार–क्षेत्र में इस सैनिक गतिविधि से क्षुब्ध सिराजुद्दौला ने फ्रांसीसियों का पक्ष लिया और क्लाइव ने डुप्ले की नीति का ही अनुसरण करते हुए मीरजाफर के रूप में नवाब की गद्दी के लिए अपना प्रतिस्पर्धी प्रत्याशी खड़ा कर लिया। नवाब के प्रमुख अधिकारियों के सहयोग से और एक फर्जी संधि के आलेख्य के आधार पर नवाब को सचेत करने के बाद क्लाइव ने युद्ध की घोषणा कर दी; परिणामस्वरूप 23 जून 1757 को प्लासी का युद्ध हुआ। सिराजुद्दौला अपने अंगरक्षकों के साथ मुर्शिदाबाद को भाग निकला और मीरजाफर की टुकड़ी अंग्रेजी सेना से आ मिली। क्लाइव ने मीरजाफर को मुर्शिदाबाद में नवाब की गद्दी पर बैठाया और दिल्ली के मुगल परिवार से उसके अभिषेक का अधिकार पत्र भी प्राप्त कर लिया; सिराजुद्दौला की हत्या मीरजाफर के पुत्र ने की।

23 जून के 'प्लासी के युद्ध' की विजय तिथि को ही सभी इतिहासकार भारत ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापना दिवस के रूप में महत्व देते हैं।

दीवानी के अधिकार, 1765

मीरजाफर को नवाब बनाने की प्रक्रिया में उससे विशाल धनराशि की वसूली की गयी। गवर्नर ड्रेक और कर्नल क्लाइव ने कमेटी के सदस्य, कमान्डर इन चीफ के अलावा निजी अवदान के रूप में भी भारी धनराशि प्राप्त की। अधिकृत अनुमान के अनुसार हर प्रकार की वसूली को सम्मिलित करते हुए यह उगाही 2,340,000 पाउण्ड से कम न थी। नवाब ने इसके अतिरिक्त कम्पनी को जमींदारी अधिकार के रूप में 882 वर्ग मील क्षेत्र कलकत्ता के आस–पास दिया जो आज 24 परगना जिला कहलाता है। 1757 में कम्पनी को जमींदारी अधिकार दिये जबकि भूमि का लगान नवाब को ही मिलता था किन्तु 1759 में नवाब ने क्लाइव को एक व्यक्तिगत जागीर के रूप में ही दे दिया। इस प्रकार कम्पनी की जमींदारी का जागीरदार क्लाइव बन गया। क्लाइव को मुगल साम्राज्य की मनसबदारी का ओहदा भी दिया गया। क्लाइव की इस जागीर की ब्रिटिश संसद में जॉच भी हुई और अन्ततः यह जागीर क्लाइव की 1774 में मृत्यु के बाद ही कम्पनी को वापिस मिल सकी।

1758 में क्लाईव को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने पूरे बंगाल की अंग्रेजी बस्तियों का गवर्नर तैनात किया। ऊपरी भारत में शाहजादा (जो बाद में शाह आलम के रूप

में मुगल सम्राट बना) नवाब वजीर के बल पर पूरे बंगाल सूबे पर अपना अधिकार व्यक्त कर रहे थे और उधर दक्षिण में, इसी समय, फ्रॉसीसी लाली व बुसी, मद्रास में अंग्रेजी शक्ति के लिए खतरा बने हुए थे। क्लाईव ने पटना को शहजादे के नियंत्रण से मुक्त किया और दक्षिण में कर्नल फोर्ड को नार्थ सरकार तथा हैदराबाद में स्थाई ब्रिटिश प्रभाव स्थापित किया, साथ ही डच कालोनी पर भी अधिकार कर उनके प्रभाव को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। इसके बाद चिनसोरा में डच कालोनी हमेशा अंग्रेजों की सहमति से ही आबाद रह सकी।

1760 से 1775 तक क्लाईव इंग्लैण्ड प्रवास में रहा. अपने पीछे बंगाल में वह कोई प्रशासन व्यवस्था नहीं छोड़ सका था. हाँ अंग्रेजों के नाम पर स्थानीय लोगों से भयादोहन कर धनराशि वसूल करने की एक नई परम्परा अवश्य स्थापित हो चुकी थी। 1761 में जब मीर जाफर को हटा कर उसके दामाद मीर कासिम को नबाब बनाया गया तब परम्परागत निजी वसूली के अतिरिक्त इस बार बर्दवान, मिदनापुर और चिटगांव, तीन जिलों को भी नबाब से प्राप्त कर लिया गया। मीर कासिम महत्वाकांक्षी व्यक्ति था और अपने को स्वतंत्र करने के इरादे से वह मुर्शिदाबाद से हट कर मुंघेर आ गया, जो ऊपरी भारत से संचार का एक मात्र बिन्दु था। यहॉ उसने सेना बढ़ायी, सेना को यूरोपीय ढाँचे में प्रशिक्षित करने के साथ–साथ अवध के नवाब वजीर से दोस्ती बढ़ाई. कम्पनी के कर्मचारी पूरे बंगाल में अपना निजी व्यवसाय बिना किसी स्थानीय कर/शुल्क के चलाते रहने का अधिकार मानते थे। यह नबाब के कस्टम अधिकारी के साथ विवाद का विषय बन गया और गवर्नर वेन सिटार्ट, वारेन हेस्टिंग्स के हस्तक्षेप के बावजूद, नबाब के अफसरों ने एक अंग्रेजी जहाज पर गोलीबारी की जिससे पटना में 2000 कम्पनी सिपाही मारे गये। लगभग 200 अंग्रेज जो बंगाल के विभिन्न स्थानों पर थे उनकी भी हत्या कर दी गयी. मीर कासिम की सेनाओं को दो स्थानों पर हार का मुंह देखना पड़ा, उसने अवध के नबाब नजीर के यहॉ शरण ली. इस बीच शाह आलम मुगल सम्राट बन चुका था। शुजाउद्दौला और शाह आलम के संयुक्त प्रयासों से पटना को घेरे में ले लिया गया, इसी बीच अंग्रेजी सेना में सैन्य विद्रोह हो गया जिसे मेजर हेक्टर मनरो ने कठोरता से दबाया। विद्रोही सिपाहियों को तोप से बांध कर उड़ा दिया गया। 1764 में ही मेजर हेक्टर मनरो ने बक्सर के ऐतिहासिक युद्ध में विजय प्राप्त की, इससे जहॉ अवध को विजेताओं के शरणगत जाना पड़ा वहीं शाह आलम को अंग्रेजी कैम्प में एक याचक के रूप में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ गई।

इसी अवधि में काउंसिल ऑफ कलकत्ता को अपना पसंदीदा खेल, अर्थात बंगाल सरकार को एक नये नवाब को बेचना, खेलने का फिर अच्छा मौका मिल गया। 1762 में मीर जाफर को दोबारा गद्दी पर बिठाया गया और 1765 में उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटे को उत्तराधिकार सौंपा गया। 1765 में क्लाइव अब

वैरन क्लाइव ऑफ प्लासी के रूप में दोबारा बंगाल के गवर्नर के रूप में आया। दोबारा बंगाल का गवर्नर बनकर लौटने पर क्लाइव ने दो महत्वपूर्ण नीतिगत मामलों पर अपना ध्यान मुख्य रूप से केन्द्रित किया। प्रथम, मुगल सम्राट से एक ग्रांट के रूप में भौगोलिक क्षेत्र पर आधिपत्य की प्राप्ति, तथा दूसरे, कम्पनी सेवा का शुद्धिकरण, जिसमें गलत तरीकों से धनोपार्जन पर प्रतिबंध तथा ईमानदार श्रोतों से कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन। इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति में उसके उत्तराधिकारियों द्वारा तात्कालिक सफलता तो प्राप्त न की जा सकी किन्तु एक ठोस प्रशासन को स्थापित करने के प्रयास की शुरूआत का श्रेय क्लाइव की दूसरी गवर्नरी के कार्य–काल को दिया जा सकता है। संक्षेप में, जहॉ ब्रिटिश काल की सामरिक व सैन्य–प्रभुत्व का प्रारम्भ जून 1757 की प्लासी की जीत से माना जाता है वहीं एक प्रशासन की ठोस आधारशिला रखने का श्रेय क्लाइव की दूसरी गवर्नरी (1765–67) को दिया जा सकता है।

कम्पनी सेवा के पुनर्गठन का काम आसान न था। कम्पनी–सेवक, सेना तथा सिविल, भ्रष्टाचार में आकंठ डूबे हुए थे, उनके औपचारिक वेतन तो नाम मात्र के थे किन्तु उन्हें इसकी भरपाई निजी व्यवसाय और भेंटों के माध्यम से करने की खुली छूट थी, जो वेतन का कई सौ गुना हो जाता था। सिविल सेवा के कर्मचारियों और लगभग 200 सैनिक अधिकारियों के सैन्य द्रोह के उपरान्त भी क्लाइव ने इन सुधारों को कठोरता से लागू कराया। निजी व्यवस्था व भेंट स्वीकार करने पर प्रतिबन्ध लगाया और वेतन में पर्याप्त वृद्धि कर दी गयी, जिसकी नमक के एकाधिकार से प्राप्त होने वाली आय से प्रतिपूर्ति की गयी। 1767 में लार्ड क्लाइव ने अन्तिम बार भारत छोड़ा। 1773 में उसके कार्यकाल की जॉच बिट्रिश संसद की दो समितियों द्वारा की गयी और हाउस ऑफ कॉमन्स में उनके आचरण पर निन्दा प्रस्ताव भी लाया गया। यह प्रस्ताव आंशिक रूप से स्वीकार भी किया गया किन्तु एक दूसरे प्रस्ताव से यह भी स्वीकार किया गया कि रॉबर्ट क्लाइव, लार्ड क्लाइव ने साथ ही अपने राष्ट्र के लिए महान व प्रशंसनीय सेवाएं प्रदान की। 1774 में क्लाइव ने स्वयं अपने ही हाथों मृत्यु का वरण किया।

दोहरी प्रशासन प्रणाली का अन्त, 1772

1767 में क्लाइव की इंग्लैण्ड वापसी और 1772 में वारेन हेस्टिंग्स के गवर्नर बनने तक कोई विशेष परिवर्तन, प्रशासन व्यवस्था में सुधार के दृष्टिकोण से नहीं हो पाये। (वरेल्स्ट (Verelst) जो क्लाइव के बाद गवर्नर बना), के पास ऐसी इच्छा शक्ति न थी कि वह प्रशासन व्यवस्था में घर कर गयी कुरीतियों को प्रभावी रूप से दूर कर सकता।

जिस अवधि में क्लाइव इंग्लैण्ड में था (1760–65) और नवाब मीर जाफर को हटाकर उसके दामाद मीर कासिम को नवाब बनाया गया, उसके ऐवज में तीन जनपदों मिदनापुर, चिटगांव और बर्दवान कम्पनी ने हस्तगत कर लिये थे, हेनरी वेरेलस्ट जो उस समय काउन्सिल का सदस्य था को चिटगांव के सीधे प्रशासन का प्रभार भी दिया गया। हेनेरी वेरेलस्ट ने चिटगांव जिले का कार्यभार सन् 1761 से 1765 ई. तक एक एजेण्ट के रूप में संभाला। तत्पश्चात् 1765 ई. में बर्दवान का कार्यभार संभाला और 1766 में मिदनापुर का। 1765 में ही दीवानी, अर्थात् वित्तीय सिविल प्रशासन का कार्य, बंगाल, बिहार और उड़ीसा के शाह आलम ने कम्पनी के सुपुर्द कर दिया। हेनरी वेरेलस्ट के द्वारा उनके प्रभार में दिये गये जिलों का प्रशासन दीवानी के अन्तर्गत अन्य जिलों की तुलना में बेहतर पाया गया। 1769 में हेनरी वेरेलस्ट द्वारा प्रचालित की गयी।प्रशासन व्यवस्था को ही पूरी कम्पनी–दीवानी क्षेत्र में प्रभावी कर लिया गया। कम्पनी के एजेण्टों को पर्यवेक्षक का पदनाम देते हुए उनके उत्तरदायित्व में, संग्रह का पर्यवेक्षण और शक्ति के दुरूपयोग को रोकना जोड़ दिया गया चूंकि हेनरी वेरेलस्ट ने ही चिट्गॉव, बर्दवान और मिदनापुर में इस नयी राजस्व प्रणाली को विकसित किया था। उन्हें ही वर्तमान "कलेक्टर" पदनाम का पहला धारक माना जाता है।

वारेन हेस्टिंग्स जो एक अनुभवी कम्पनी के सेवक थे तथा अपने बुद्धि कौशल के साथ–साथ ईमानदारी के लिए भी प्रसिद्ध थे, को 1772 में गवर्नर नियुक्त किया गया। उनसे अपेक्षा भी की गयी कि वे इन सुधारों को कड़ाई से क्रियान्वित करायेंगें।

कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का वह महत्वपूर्ण संकल्प जिसने वर्तमान जनपद राजस्व प्रणाली की नींव डाली कुछ इस प्रकार से था। "(कम्पनी के द्वारा) दीवान के रूप में काम करना, अपने ही कर्मचारियों के माध्यम से, पूरे राजस्व प्रशासन का प्रशासन व प्रबन्धन करना'' वारेन हेस्टिंग्स ने इस व्यवस्था को मूर्तरूप देने के लिए अपना कोषागार मुर्शिदाबाद से कलकत्ता स्थानांतरित कर लिया। यूरोपियन अधिकारियों को तब तक ख्याति प्राप्त नये कलेक्टरों के रूप में राजस्व संग्रह के पर्यवेक्षक और न्यायालयों में पीठासीन अधिकारियों के रूप में तैनाती प्रारम्भ की।

राबर्ट क्लाइव ने जहॉ ब्रिटिश सामाज्य की भौगोलिक आधारशिला रखी, वारेन हेस्टिंग्स ने उस साम्राज्य के संचालन के लिए ब्रिटिश प्रशासन की व्यवस्था की, जो भ्रष्ट दोहरी शासन व्यवस्था 1765 से 1772 के बीच क्लाइव के शासन काल में गहराई तक पैठ कर गयी थी, उसे अगले तेरह वर्षों में वारेन हेस्टिंग्स ने अपने अंग्रेजी अधिकारियों के माध्यम से (1772–85) प्रयोगों के रूप में सुधारने का प्रयास किया। जैसा कहा गया है यदि क्लाइब भारतीय साम्राज्य का सैनिक संस्थापक था तो वारेन हेस्टिंग्स उस साम्राज्य का प्रशासनिक प्रबन्धक था।

वारेन हेस्टिंग्स (1772–1785) की एक शासक के रूप में ख्याति मुख्यतः उसके प्रशासनिक सुधारों पर आधारित है। उसने भारतीय सिविल सेवा को पुनर्गठित किया, राजस्व संग्रह के प्रत्येक शाखा में सुधार किये, न्यायालयों की स्थापना की और पुलिस को उसके प्रारम्भिक स्वरूप में स्थापित किया, किन्तु इतिहास में उसका नाम, उस आन्तरिक प्रशासन प्रणाली में सुधार के लिए न होकर उसकी निर्भीक विदेश नीति और उस नीति को क्रियान्वित करने में जो कठिनाइयॉ उसने अनुभव की, से अधिक सम्बन्धित है। 1772 से 1774 तक वह बंगाल के गवर्नर रहे और 1774 से 1785 तक पहले गवर्नर जनरल। रेग्युलेटिंग एक्ट 1773 के द्वारा नई स्थापित काउन्सिल के अध्यक्ष के रूप में उन्हें अपने आन्तरिक सुधारों को लागू करने में भारी विरोध का भी सामना करना पड़ा, जबकि अवध, मराठों और हैदर अली से सम्बन्धित मामलों में वह अपनी बात मनवाने में कमोवेश सफल रहे. हेस्टिंग्स ने कम्पनी की आर्थिक स्थिति को अपने कई निर्णयों के माध्यम से सुदृढ़ किया, जिसमें 1765 से दिल्ली के तथा–कथित मुगल साम्राज्य को दी जाने वाली भेंट राशि को रोकना भी सम्मिलित था। इसी अवधि में कम्पनी के प्रमुख विरोधी मराठा थे जिनके विरूद्ध हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब वजीर को सैनिक सहायता भी दी, इससे कम्पनी को मराठों के सापेक्ष अपनी पूरी पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने में बड़ी सफलता मिली।

वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल (1772–1785) के दौरान गवर्नर जनरल का नियंत्रण पश्चिमी और दक्षिणी प्रेसिडेंसियों पर ढीला और काफी अनिश्चित सा था। बम्बई व मद्रास प्रेसिडेंसियों में कार्यरत अधीनस्थ न केवल अक्षम थे बल्कि कई अवसरों पर तो वह विद्रोह तक कर बैठते थे।

वारेन हेस्टिंग्स के प्रस्थान के उपरान्त 20 महीनों के अन्तराल का कार्यकाल कम्पनी के एक लोक सेवक सर जॉनसन मेक्फरसन (फरवरी 1785–सितम्बर 1786) के पास रहा। प्रशासनिक सुधार के दृष्टिकोण से अगले गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस का कार्यकाल महत्वपूर्ण रहा। कार्नवालिस इग्लैण्ड के कुलीन वर्ग से तैनात होने वाले पहले गवर्नर जनरल थे. वे दो अवसरों पर गवर्नर जरनल रहे पहले 1786 से 1793 तक प्रशासनिक दृष्टि से उनका पहला कार्यकाल बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त को लागू करने के लिये प्रसिद्ध रहा।

सिविल प्रशासन की आधार शिला तो हेस्टिंग्स ने रखी किन्तु उसे वस्तुतः मूर्त रूप देने का पूरा श्रेय कार्नवालिस को ही जाता है। फौजदारी न्यायिक प्रबंधन यूरोपीय अफसरों को सौंपने और सदर निजामत अदालत के रूप में फौजदारी का अमीलेट न्यायालय कलकत्ता में उसके द्वारा स्थापित किया गया। कार्नवालिस ने ही कलक्टर को जज के कार्यभार से विलग किया, और कम्पनी के "राइटर्स" और "मर्चेन्टस" को एक प्रशासनिक सिविल सेवा के रूप में पुनर्गठित किया. इसी

व्यवस्था को बंगाल की भॉति ही बम्बई और मद्रास में भी लागू कर दिया गया, तब उन प्रेसिडेन्सियों ने भी सार्वभौम प्रभुसत्ता अर्जित कर ली।

जैसा कहा गया लार्ड कार्नवालिस की मुख्य उपलब्धि बंगाल में स्थायी बंदोवस्त व्यवस्था को लागू करना रहा। लार्ड कार्नवालिस ने पहले एक दस वर्षीय बन्दोबस्त (1789–1791), 3 वर्षों के प्रयोग के बाद लागू किया, इससे पूर्व मुगलकालीन व्यवस्था के अनुसार ही भू–राजस्व वसूल होता था। पहले इस बन्दोबस्त को दस वर्षीय कहा गया किन्तु इसे 1793 में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के आदेश से सितम्बर, 1792 में स्थायी घोषित कर दिया गया. इससे प्राप्त धनराशि सिक्का रुपया 2.68 लाख के करीब थी। यद्यपि कार्नवालिस ने इसे लागू किया परन्तु इस बन्दोबस्त के गुण–दोष का पूरा श्रेय जॉनशोर, बाद में लार्ड टीगन माउथ, जो एक जानकार लोक सेवक थे, को ही जाता है। 1792 ही वह समय है जब बनारस राज्य में कम्पनी ने अपने पैर बढ़ाने शुरू किये थे।

पहले प्रान्त का गठन (1775–1856)

कम्पनी की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से हेस्टिंग्स ने विद्रोह पर उतारू बनारस के राजा चेत सिंह और अवध की बेगम से बलपूर्वक आर्थिक योगदान की मांग की। चेत सिंह ने सैनिक सहायता के लिए अनुदान की मांग का विरोध– कम्पनी के विरोधियों के साथ आरोपित षड़यंत्र के विरोध में एक विद्रोह का नेतृत्व किया जो कि असफल रहा और जिसके परिणामस्वरूप राजा चेत सिंह की सम्पत्ति को कम्पनी द्वारा अधिग्रहित कर लिया गया। अवध की बेगम, राज–माता, पर भी राजा चेत सिंह को भड़काने के आरोप में भारी आर्थिक दण्ड लगाया गया। इंग्लैण्ड वापसी पर 1788 में हाउस ऑफ कामन्स में इन आरोपों पर महा अभियोग चलाया गया और हाउस ऑफ लार्ड्स में सुनवाई की कारवाही पूरे सात वर्षों तक (1788–95) चलती रही. यद्यपि वारेन हेस्टिंग्स को इनमें से किसी भी आरोप के लिए दोषी नहीं पाया गया किन्तु इस अवधि में वह आर्थिक रूप से बिल्कुल कंगाल ही हो गये; कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने ही दान देकर उन्हें इस घोर आर्थिक संकट से उबारा।

आज के उत्तराखण्ड के पूर्ववर्ती राज्य, उत्तरप्रदेश, के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया का प्रारम्भ वारेन हेस्टिंग्स के कार्य काल के दौरान राजा बनारस और अवध की बेगम पर लगाये गये आर्थिक अनुदान व दण्ड से ही प्रारम्भ होती है। उत्तर प्रदेश का जो भौगोलिक–आकार अन्ततः बना उसे निम्न चरणों में कालबद्ध किया जा सकता है।

http://uou.ac.in

क्र.सं	उत्तर–प्रदेश का गठन
1.	1775 में बनारस का अधिग्रहण तथा वहां एक रेजिडेन्ट की तैनाती, 1784 में मार्गदर्शन के लिये नियमों का प्रख्यापन तथा जोनाथन डंकन की रेजिडेन्ट के रूप में नियुक्ति; 1795, राजा की प्रशासन व्यवस्था को बंगाल और बिहार में लागू करना। जनपद–प्रशासन व्यवस्था से बदला गया; बनारस, मिर्जापुर, गाजीपुर और जौनपुर में जज एवं मजिस्ट्रेट की तैनाती तथा पूरे बनारस 'प्रान्त' के लिए एक कलेक्टर; कालान्तर में गाजीपुर (1817), जौनपुर (1818) और मिर्जापुर (1830) में भी कलेक्टरों की तैनाती; 1829, एक 'कमिश्नर ऑफ रेवेन्यू एण्ड सर्किट' की बनारस में तैनाती।
2.	1773, रेजिडैण्ट ऑफ अवध की तैनाती
3.	1798, इलाहाबाद और फतेहगढ़ किले वापस लिए गये
4.	1801, एटा और मैनपुरी, फर्रूखाबाद, इटावा, कानपुर, फतेहपुर, इलाहाबाद, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती और आजमगढ़ (नवाब द्वारा अर्पित)
5.	1801, बिजनौर, मुरादाबाद, बदायूँ, बरेली, शाहजहॉपुर, पीलीभीत (नवाब द्वारा अर्पित)
6.	1802, फर्रूखाबाद का शेष भाग (फतेहगढ़ के नवाब द्वारा अर्पित)
7.	1803, सहारनपुर, मुज्जफरनगर, मेरठ, बुलंदशहर, अलीगढ़, आगरा, मथुरा, बांदा और हमीरपुर (दौलतराव सिंधिया से युद्ध में जीते, लस्वारी संधि)
8.	1805, आगरा से और क्षेत्र प्राप्त (भरतपुर राजा द्वारा अर्पित)
9.	1815, उत्तराखण्ड के आठ पर्वतीय जनपद को नेपाल युद्ध में गोरखाओं से जीता, टिहरी रियासत (टिहरी और उत्तरकाशी) स्वतन्त्र रियासत.
10.	1840, जालौन अध्याप्त (गोविन्दराव)
11.	1844, झांसी (ललितपुर) सिंधिया द्वारा अर्पित
12.	1853, झांसी अध्याप्त
13.	1856 अवध के 12 जनपद अधिग्रहित, तथा
14.	14 फरवरी 1949, बनारस, रामपुर टिहरी–गढ़वाल रियासतों का भारतीय उपनिवेश में विलय

http://uou.ac.in

उत्तर–प्रदेश ने इन चौदह चरणों में भौगोलिक रूप से जो स्वरूप ग्रहण किया वह 9 नवम्बर, 2000 तक यथावत बना रहा। जब उस तिथि को स्वतन्त्र भारत में इस प्रांत का पहली बार विभाजन हुआ और भारतीय गणराज्य के 27वें प्रदेश के रूप में उत्तराखण्ड राज्य (पूर्व में उत्तरांचल) की स्थापना हुई।

प्रशासनिक प्रबंधन और पुनर्गठन (1801–1950):

बंगाल, मद्रास और बम्बई प्रेसिडेन्सियों से इतर नार्थ–वेस्टर्न प्राविंसेंज के रूप में 1836 में पहले प्रांत के रूप में उत्तर–प्रदेश का गठन हुआ, जिसके प्रमुख लेफ्टिनेंट गवर्नर रखे गये, जबकि तीनों प्रेसिडेंसियों के प्रमुख गवर्नर थे। स्वाभाविक है कि जैसे–जैसे इस नये प्रांत की एक नई प्रशासनिक इकाई का आकार बढ़ता गया समय–समय पर कई नयी प्रशासनिक व्यवस्थाओं, पुनर्गठन तथा विभिन्न प्रशासनिक संस्थाओं के स्थान–परिवर्तन की आवश्यकता भी अनुभव की गयी; परिवर्तन लाये गये। इन सभी पुनर्गठनों, नामांतरणों व स्थान परिवर्तनों को भी निम्न 16 प्रमुख चरणों में सूचीबद्ध किया जा सकता है।

क्र.	**तलिका : II**
1-	**1801–1803,** बंगाल प्रेसिडेंसी (बंगाल, बिहार और उड़ीसा) में बनारस और अवध के नवाब द्वारा जो जिले अर्पित किये गये उनके स्वतंत्र रूप से राजस्व प्रशासन के लिए, बरेली में एक बोर्ड की स्थापना लेफिनेंट गवर्नर की अध्यक्षता में की गयी, किन्तु यह प्रयोग सफल नहीं रहा।
2-	**1804–36,** पुरानी व्यवस्था को ही यथावत रखते हुए राजस्व–प्रशासन के लिए नये क्षेत्रों का भी पर्यवेक्षण बोर्ड ऑफ रेवेन्यू, फोर्ट विलियम, कलकत्ता को ही दे दिया गया।
3-	**1807,** चूँकि नये अर्पित जनपदों में भू–सर्वेक्षण व भू–राजस्व सर्वेक्षण की कार्यवाही में अपेक्षित प्रगति न आ सकी अतः एक दो सदस्यीय (आयुक्तों) के बोर्ड को गठित किया गया जिससे भूमि सर्वेक्षण कार्य का स्थानीय तौर पर बेहतर अनुश्रवण हो सके, यह प्रयोग भी बहुत सफल नही रहा।
4-	**1809,** अवध के नवाब द्वारा समय–समय पर कम्पनी को अर्पित जो इतने बड़े भू–भाग को अर्पित व विजित (Ceded and Conquered Districts) के नाम से सदर बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के स्तर पर जाना जाता था,

	अब इसका नामकरण अपर प्रोविंसेज कर दिया गया. ऊपरी प्रांत (अपर प्राविंसेज) नामकरण का कारण यह था कि बंगाल प्रेसडेन्सी के तीनों प्रांतों को लोवर प्राविंसेज (अक्षांस में अपेक्षाकृत नीचे/दक्षिण होने के कारण) के नाम से भी जाना जाता था. अपर प्रोविसेंज नाम भी बहुत अधिक प्रयोग में न आ सका।
5-	**1829,** बंगाल प्रेसिडेन्सी के जनपदों के अतिरिक्त 1829 के आते–आते नये जुड़े भू–भाग का आकार बहुत ही बड़ा हो गया; भू–सर्वेक्षण की प्रक्रिया हर प्रकार का प्रयास करने के बाद भी गतिमान नहीं हो सकी; यह सुनिश्चित करने के लिए कि राजस्व–वृद्धि हो व राजस्व प्रशासन का आकार अधिक व्यवस्थित हो सके। अब तक की सबसे व्यापक विकेन्द्रीकरण की कार्यवाही की गयी. पूरे ऊपरी प्रांत को 9 कमिश्नरियों में बांट दिया गया; ये कमिश्नर ऑफ रेवेन्यू एण्ड सर्किट सिविल सेवा के वरिष्ठतम अधिकारियों में से होते थे और वे अपनी कमिश्नरी के सुपरिटेण्ड ऑफ पुलिस भी थे।
6-	**1831,** में सदर दीवानी व निजामत अदालत, जो दीवानी व फौजदारी की सर्वोच्च अदालत थी, इलाहाबाद में स्थापित की गयी.। इस प्रकार यद्यपि 1831 तक राजस्व, दीवानी व फौजदारी के सर्वोच्च कार्यालय/न्यायालय इलाहाबाद में स्थापित हो चुके थे, फिर भी सर्वोच्च शासन अभी भी कलकत्ता से ही संचालित होता था। 1833 में गवर्नर जनरल इन काउंसिल का पद भी सृजित हुआ और भारत सरकार अस्तित्व में आयी।
7-	**1833,** के पुनर्गठन के पश्चात् ऊपरी प्रांत के स्थान पर एक चौथी प्रेसीडेंसी, जिसे आगरा प्रेजीडेंसी कहा गया, 1834 में गवर्नर की अध्यक्षता में स्थापित करने का विचार हुआ, गवर्नर की तैनाती भी हुयी व मुख्यालय आगरा के किले में रखा गया।
8-	**1836,** में इस आगरा प्रेसीडेंसी के स्थान पर नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज के नाम से पहले प्रांत को लेफ्टिनेंट गवर्नर की अध्यक्षता में स्थापित किया गया; इसका मुख्यालय आगरा में रखा गया।
9-	**1858,** में सैन्य विद्रोह के समाप्त होने पर लार्ड कैनिंग ने नार्थ–वेस्टर्न प्रोविंसेज का मुख्यालय आगरा से हटा कर इलाहाबाद कर दिया और इससे दिल्ली डिवीजन को हटाकर उसे भी लेफ्टिनेंट गवर्नर के आधीन रखा गया।
10-	**1868,** में उच्च न्यायालय को भी इलाहाबाद स्थानान्तरित कर दिया गया

http://ignou.ac.in

11.	**1877,** में चीफ कमिश्नर अवध के पद को लेफ्टिनेंट गवर्नर के पद के साथ विलीन करते हुए नये प्रांत का नाम नार्थ–वेस्टर्न प्रोविन्सेज एण्ड अवध कहा गया।
12.	**1902,** में नाम परिवर्तन कर इसे यूनाइटेड प्रोविंसेज ऑफ आगरा एण्ड अवध कर दिया गया।
13.	**1921,** में गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1919 के अंतर्गत गवर्नर के पद को उच्चीकृत किया गया और 1921 में ही विधान परिषद् का गठन 1920 के चुनावों के बाद किया गया।
14.	**1935,** तक सचिवालय व अधिकांश विभागाध्यक्ष पूर्णतः इलाहाबाद से लखनऊ स्थानान्तरित हो गये।
15.	**1937,** में गर्वमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1935 में इस प्रांत का नाम यूनाइटेड प्रोविंसेज हुआ, और
16.	**1950,** के भारतीय संविधान में इसे एक नया नाम उत्तर प्रदेश मिला।

http://uou.ac.in

उत्तराखण्डः

1815 से प्रारम्भ करते हुए 1949 तक के 134 वर्षों के प्रशासनिक इतिहास को प्रशासनिक विशिष्टताओं के परिवर्तनों व सुधारों के दृष्टिकोण से हम निम्न अवधियों में बॉट सकते हैंः

(1) आधुनिक प्रशासन की स्थापना व नवाचार (1815–1835): एडवर्ड गार्डनर व जार्ज विलियम ट्रेल,

(2) प्रशासनिक मूल धारा में प्रवेश व परिवर्तन (1836–1856): जार्ज थामस लुशिंगठन व जान हेलेट बैटन,

(3) नवाचार व परिवर्तन के साथ नये युग में प्रवेश (1856–1884): हेनरी रामजे, तथा

(4) देसी रियासत का संरक्षित राज्य के रूप में प्रशासन (टिहरी–गढ़वालः 1815–1949)

नेपाल युद्ध की समाप्ति पर पिछले 25 वर्षों से अधिक अधीनस्थ पूर्व पर्वतीय राज्यों कुमाऊँ और गढ़वाल पर भौतिक अधिकार स्थापित करते ही ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा पहली बार प्रशासनिक–नवाचार के रूप में कई प्रयोग किये गये और ब्रिटिश कुमाऊँ गढ़वाल इस प्रशासनिक नवाचार की प्रयोग स्थली रही. प्रशासनिक–नवाचार के प्रमुख बिंदु निम्न थे।

1. गोरखों से विजित प्रदेश को दो भौगोलिक भागों में बांटा, अलकनंदा से काली नदी के बीच के कुमाऊँ भू–भाग को सीधे ब्रिटिश नियंत्रण में रखा तथा अलकनंदा के पश्चिम तट से पश्चिम में पड़ने वाले गढ़वाली राजा के क्षेत्र को देसी रियासत के रूप में गढ़वाली राजा को लौटाते हुए, पुनः स्थापित किया।

2. ब्रिटिश–कुमाऊँ को एक गैर–विनियित क्षेत्र (Non- Regulation Territory) के रूप में प्रशासित किया, अर्थात् इस क्षेत्र में बंगाल प्रेसीडेन्सी के रेगुलेशन्स प्रभावी नही किये गये; कुछ को आंशिक रूप में प्रभावी किया गया तथा स्थानीय अधिकारियों को अपने नियम बनाकर प्रभावी करने की अनुमति दी गयी; अधिकारियों व कार्मिकों की संख्या कम रखी गयी तथा अधिकारियों का चयन सिविल सेवा या सेना, किसी भी अंग से हो सकता था।

3. देसी रियासत को एक संरक्षित राज्य के रूप में आंतरिक स्वायत्तता दी किन्तु राजनैतिक एजेण्ट के माध्यम से यह सुनिश्चित किया गया कि प्रशासन के मुख्य बिन्दु ब्रिटिश शासन के ही अनुरूप रहें।

4. उत्तराखण्ड की वर्तमान प्रशासनिक विशिष्टताएँ उपरोक्त प्रशासनिक नवाचारों का ही परिणाम हैं।

http://uou.ac.in

गार्डनर और ट्रेल (1815–1835)

उत्तराखण्ड में ब्रिटिश शासन काल के बारे में कहा गया है कि मई 1815 में एडवर्ड गार्डनर की कुमाऊँ मामलों के कमिश्नर के रूप में तैनाती से एक बिल्कुल नये प्रकार के प्रशासन का यहॉ प्रवेश हुआ। जिसकी स्थापना पहले और दूसरे कमिश्नरों क्रमशः एडवर्ड गार्डनर (अप्रैल 1816–दिसम्बर 1835) और ट्रेल के द्वारा की गयी। एडवर्ड गार्डनर का अधिकांश समय राजनैतिक गतिविधियों में ही लगा रहा और नेपाल दरबार के द्वारा सिगोली की संधि की पुष्टि करते ही गार्डनर को काठमांडू कोर्ट में कम्पनी के राजनैतिक एजेन्ट के रूप में कार्य भार करने के आदेश मिल गये। अपने नौ महीनों के कार्यकाल में राजनैतिक कार्य के अतिरिक्त नई

तहसीलों, थानों, सदर कार्यालय की स्थापना, भू–राजस्व का बन्दोबस्त, लाखी राजी और नानकर भूमियों की जांच का कार्य प्रारम्भ किया। राजस्व–प्रशासन सैन्य–व्यवस्थाओं में सहायता, पर्वतीय–मजदूरों की अवस्था में सुधार के अतिरिक्त खाद्यान्न प्रबन्ध में ही प्रथम वर्ष प्रशासन का ध्यान लगा रहा। नई सात तहसीलों और पांच थानों की स्थापना की गयी। पहले वर्ष में पुरानी राजस्व व्यवस्था तथा संग्रह को ही यथावत चालू रखने की सहमति शासन से प्राप्त की गयी. सहायक ट्रेल द्वारा गढ़वाल का पहले वर्ष का बन्दोबस्त पूर्ण किया गया। युद्ध के कारण अधिकृत गोरखा–काल के अभिलेखों के सुगमता से प्राप्त न होने से बड़ी कठिनाई अनुभव की गयी।

ब्रिटिश शासन की वास्तविक आधारशिला इसके दूसरे आयुक्त जार्ज विलियम ट्रेल के कार्यकाल (जुलाई 1817–अक्टूबर 1835) में रखी गयी। गार्डनर के कुमाऊँ मामलों के कमिश्नर बनने के दो महीनों में ही ट्रेल को उसके सहायक के रूप में कुमाऊँ भेज दिया गया। अपने 20 वर्ष के कुमाऊँ प्रवास काल में, जिसमें से 19 वर्ष कुमाऊँ कमिश्नर के रूप में ट्रेल ने कार्य किया। तत्कालीन प्रशासन के लगभग सभी विभागों के सम्बन्ध में ट्रेल का महत्वपूर्ण योगदान रहा. राजस्व व सामान्य प्रशासन, पर्वतीय श्रमिकों की समस्या, ब्रिटिश–कुमाऊँ की राजनैतिक व प्रशासनिक सीमा का भौतिक निर्धारण, सड़क व पुलों का निर्माण, वन–प्रबन्धन, पोस्टल डाक, मुद्रा–विनिमय तथा कोषागार प्रबन्धन, जेल प्रशासन चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सेवाओं की स्थापना, प्रबन्धन से लेकर उनमें सुधार के सम्बन्ध में ट्रेल द्वारा व्यक्तिगत रूचि लेकर कार्य किया।

राजस्व–प्रबन्धन व प्रशासन उन्नीसवीं शताब्दि के कम्पनी कालीन प्रशासन व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। ट्रेल को कुमाऊँ में जहॉ एक ओर पच्चीस वर्षो से चल रही गोरखा राजस्व व्यवस्था को परिवर्तित कर एक नई व्यवस्था को स्थापित करना था वहीं उसे बंगाल प्रेजीडेन्सी में गत 15 वर्षों की अवधि में अर्पित व विजित जनपदों में गतिमान सभी भू–राजस्व प्रबंधन व्यवस्था का भी कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं था। बंगाल प्रेसीडेंसी के बंगाल, बिहार व उड़ीसा के निचले प्रान्तों में लार्ड कार्नवालिस (1786–93) के द्वारा लागू बन्दोबस्त को, जिसे सितम्बर 1792 के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के अनुमोदन के उपरान्त स्थायी घोषित कर दिया गया था, को इन नये विजित जिलों में लागू न करने का निर्णय विचाराधीन चल रहा था। अतः ट्रेल के द्वारा स्थानीय स्तर पर ही भू–राजस्व बन्दोबस्त की कार्यवाही को पूर्णतया अपने पूर्व अनुभव के आधार पर ही सम्पन्न किया गया, क्योंकि बंगाल में पहले अस्थायी कुछ वर्षों की अवधि वाले, बन्दोबस्त किये जा रहे थे। अतः ट्रेल द्वारा भी स्थानीय परिस्थितियों और पूर्व परम्पराओं का प्रयोग करते हुए कुमाऊँको 26 परगनों में विभक्त किया और सन् सम्वत् 1880 (ई. 1823) में राजस्व–ग्रामवार

सरहदों का राजकीय अभिलेखों में ऐतिहासिक अभिलेखन किया। यह राजस्व बंदोबस्त इतना व्यापक तथा विस्तृत था कि यह सन् 80 (सम्वत् 1880) के बन्दोबस्त के रूप में विख्यात हो गया। ग्रामीणों को इतिहास में पहली बार अपने–अपने गांव की सीमाओं और इन सीमाओं में सम्मिलित भूमि, वन अचल नैसर्गिक सम्पत्तियों की जानकारी हुई।

चन्द राजाओं के काल से केवल कानूनगो के पद ही सृजित थे जो कुछ परिवारों के सदस्यों में वंशानुगत रूप से नियुक्ति के लिए आरक्षित थे। गढ़वाल में 4 और कुमाऊँ में 5 परिवारों में से ही कुमाऊँ के दो कानूनगो और गढ़वाल के दो कानूनगो चुने जाते थे. अक्टूबर 1816 से कुमाऊँ को बोर्ड ऑफ कमिश्नर के नियंत्रण में रखा गया।

मैदानी जनपदों की तरह कुमाऊँमें गांव के पटवारी का कोई पद विद्यमान नहीं था. नॉनकर भूमियों के अधिग्रहण से जो बचत प्राप्त हुई ट्रेल ने 1819 में उससे नौ पटवारियों के नये पद सृजित किये। यह संख्या 1825 में 17 व 1830 में 63 हो गयी। पर्वतीय क्षेत्रों के लिए पटवारियों का पद बहुत उपयोगी पाया गया. पटवारियों का कार्य लगान की वसूली, न्यायालय के आदेश पर गांव की पैमाईष जमींदारों को प्रवर्जन से हतोत्साहित करना, उनके आपसी लड़ाई–झगड़ों का स्थानीय निपटारा और जहॉ विवाद उग्र हो जाये, सदर कचहरी को सूचना देना, दुर्घटनाओं आत्महत्या तथा अधीनस्थ भू–क्षेत्रों के सम्बन्ध में तहसीलदारों को सूचना देना होता था। पर्वतीय–क्षेत्र में एक बहुःधंधी राजकीय कार्यवाही के रूप में, जिसमें पुलिस कार्य भी सम्मिलित था कदाचित् ट्रेल का अपने समय से काफी पहले अन्वेषित एक ऐसी महत्वपूर्ण पहल थी, जिसे आज पूरे भारतवर्ष में एक उत्तराखण्ड की विशेषता के रूप में पहचाना जाता है।। उत्तराखण्ड एक मात्र राज्य है जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों का अधिकांश भाग राजस्व पुलिस (पटवारी) व्यवस्था से संचालित होता है। 1815 से 1833 की अवधि में ट्रेल ने कुमाऊँ के कुल सात भू–बन्दोबस्ती चक्र पूर्ण किये जबकि शेष उत्तर–प्रदेश (ऊपरी प्रान्त) में भू–बन्दोबस्ती प्रणाली 1833 (रेगूलेशन IX) में प्रारम्भ हो सभी, ट्रेल के द्वारा सम्पन्न सात बन्दोबस्तों के परिणाम तालिकाः III में दिये गये हैं।

वित्तीय–परिणाम तालिका III

क्रमांक	वर्ष	अवधि	गढ़वाल (रु.)	कुमाऊँ (रु.)
पहला	1815–16	वार्षिक	37,792	86,071
दूसरा	1816–17	वार्षिक	44,587	93,722

तीसरा	1818–20	त्रि–वर्षीय	45,548	99,199
चौथा	1820–22	त्रि–वर्षीय	54,995	1,08,858
पॉचवा	1823–27	पंचवर्षीय	64,900	1,19,989
छठा	1827–32	पंचवर्षीय	67,725	1,23,164
सातवां	1832–37	पंचवर्षीय	69,244	1,25,589

तत्कालीन भौगोलिक परिस्थितियों, संचार व आवागमन के साधनों, सड़कों, पिछले 25 वर्षों के गोरखाली–कु–प्रशासन के चलते कुमाऊँ की अत्यन्त दयनीय आर्थिक स्थिति की समीक्षा के उपरान्त ट्रेल ने हिमालय–पार तिब्बत से होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्व को समझते हुए उस व्यापार को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए अति–विशिष्ट प्रयास किये। निजी यात्रा मार्ग को 'यात्री मार्ग के रूप में, बद्रीनाथ–केदारनाथ धाम को जाने वाले मार्ग का चरणों में निर्माण, बागेश्वर–मिलम–ऊंटाधुरा मार्ग में तिमली–धार से मार्ग निर्माण, व्यापारिक भोटियों पर सीमावर्ती क्षेत्रों में लगान की माफी, परम्परागत मेलों में सीमावर्ती व्यापारियों के मुकदमों की सुनवायी जैसे महत्वपूर्ण प्रयासों से उसने मध्य कुमाऊॅ–गढ़वाल की कृषि उत्पादों के निकटस्थ तिब्बती मण्डियों में बेहतर निष्पादन, यात्रा मार्गों में सुधार इत्यादि प्रयासों से यहां के कृषकों और व्यापारियों को प्रोत्साहित करने में सफलता पायी। सात बन्दोबस्तों के वित्तीय परिणाम ही ट्रेल के प्रयासों की सफलता के सबसे अच्छे प्रमाण हैं।

दीवानी और राजस्व मामलों की सुनवायी की व्यवस्था में सुधार लाये गये, वस्तुतः दिसम्बर 1829 तक केवल कमिश्नर कुमाऊँ का ही एक मात्र सिविल न्यायालय पूरे कुमाऊँ में था. अधीनस्थ न्यायालयों के लिए ट्रेल द्वारा अपने स्थानीय नियम लागू किये गये। नियमों के बनाने में जहॉ स्थानीय परिस्थितियों का ध्यान रखा गया वही मैदानी क्षेत्रों में लागू रेगूलेशनों की मूल भावना को भी ध्यान में रखा गया। फौजदारी के मामलों की सुनवायी के लिए मैदानी क्षेत्रों में तैनात विशेष जजों की तैनाती होती थी। इस सम्बन्ध में सुधार के लिए भी ट्रेल ने कई सुझाव दिये. जज ग्लिन, जो ऐसे ही एक विशेष जज थे, के समक्ष ट्रेल ने पर्वतीय क्षेत्रों मे पर्वतीय–मजदूरों को मिलने वाले मेहनताना व उनकी अत्यन्त ही कठिन परिस्थितियों की जानकारी दी। जज ग्लिन ने ट्रेल के प्रयासों की प्रशंसा करते हुए जेल में बंद कैदियों और बलवत–मजदूरी से सम्बद्ध मजदूरों के मेहनताना में संशोधन करने की सिफारिश की। कुमाऊँ कमिश्नर को जघन्य अपराधों को छोड़कर अन्य अपराधों के लिए दण्ड देने के अधिकार प्राप्त थे। जघन्य अपराधों को उनके द्वारा विशेष जज

http://uou.ac.in

को निर्णय के लिये प्रेषित करना पड़ता था। प्राप्त आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि 1820 से 1837 तक अपराधों की संख्या काफी कम थी। महिलाओं को बेचने, चोरियॉ, हत्या व डकैती के प्रकरण थे किन्तु कमोवेश कुमाऊँ को एक कम अपराध वाला क्षेत्र माना जाता था।

कुमाऊँ की प्रशासनिक सीमा को दक्षिण में मुरादाबाद व तराई के क्षेत्रों के सापेक्ष तय कराने में कमिश्नर ट्रेल ने बहुत अधिक रूचि ली. कमिश्नर ट्रेल और मुरादाबाद के कलेक्टर हाल हेड के मध्य जो विवाद चला उसका निस्तारण अन्ततः कमिश्नर बोल्डरसन की अध्यक्षता में दिसम्बर 1825 में हुई बैठक में हो सका। कमिश्नर ट्रेल को सरकार द्वारा जनवरी 1827 में 4000 रुपये स्थायी मुनारों की स्थापना के लिये स्वीकृत किये गये। कहा जाता है कि ट्रेल ने स्वयं 100 मील भी इसी सीमा पर भौतिक सीमांकन करने का कार्य अगले चार वर्षों में पूरा किया.

1829–30 से नदियों पर सस्पेंशन लोहे के पुलों को बनाने का कार्य किया गया तथा ट्रेल ने केदारनाथ व बद्रीनाथ को पौड़ी–श्रीनगर से होकर जाने वाले मार्ग में इतनी अधिक व्यक्तिगत रुचि ली कि तत्कालीन पर्यटकों व अधिकारियों में उनके एक ईसाई होकर हिन्दू धर्म के प्रसार व प्रचार से सहायक होने का आरोप तक लगा दिया। अब प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि बद्रीनाथ–केदारनाथ मार्ग निर्माण, बागेश्वर–मीलम मार्ग निर्माण कार्य कमिश्नर ट्रेल की एक स्पष्ट रणनीति का भाग था जिसमें पुराने तिब्बत–व्यापार व धार्मिक पर्यटन को प्रोत्साहित कर कृषकों की उपज को अधिक से अधिक मूल्य दिलवाने की सोच थी, जिसमें गोरखा काल में जो गॉव वीरान हो चुके थे, उनके ग्रामीण वापस लौट सकें और कृषि उत्पादन से स्थानीय विकास हो सकें।

कमिश्नर ट्रेल ने अपने 20 वर्षों के कार्यकाल में एक पूर्णतः नये प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था का आधार, एक लगभग उजाड़ हो गये प्रान्त में रखा, नये कार्यालयों की स्थापना की। संचार, पोस्टल सेवा के अतिरिक्त कृषकों, पर्वतीय मजदूरों को प्रोत्साहित करने के दृष्टिकोण से एक संवेदनशील प्रशासन प्रदान किया।

बिशप हीबर जो 1824 के ग्रीष्मकालीन भ्रमण में पहली बार उत्तरी भारत के भ्रमण पर आये थे उन्होंने लिखा है कि कमिश्नर ट्रेल निरन्तर भ्रमण पर रहते थे, केवल वर्षा ऋतु में ही अपने मुख्यालय में रहते थे। उन्होंने कभी अवकाश नहीं लिया और यह देखते हुए प्रसन्नता होती है कि उनके साथ वार्ता करते हुए व्यक्ति सीधा खड़ा होकर उनसे बात करता है जैसे कोई अपने से वरिष्ठ व बुजुर्ग व्यक्ति से बात करता है। पर्यटकों की राय में जो भी लाभ ट्रेल ने अपने सड़क निर्माण कार्य से हिन्दू यात्रियों को उनके धर्मस्थलों में सुविधापूर्वक पहुंचाने के लिए किया

उससे कमिश्नर ट्रेल हिन्दुओं के मन–मस्तिष्क में केवल भगवान विष्णु से ही कम महत्वपूर्ण थे।। केनेय मेसन ने 1930 में लिखा था कि कमिश्नर ट्रेल को 100 फीसदी पूर्ण अनुमान नहीं रहा होगा कि कालांतर में यहॉ के पर्वतीय जन जब किसी भी विवाद को अन्तिम करना चाहेंगें तो उसे यह कहकर अन्तिम करेंगें कि, कमिश्नर ट्रेल के जमाने में यह चीज ऐसे होती थी।

लुशिंगटन और बैटन (1838–1856):

कमिश्नर जार्ज विलियम ट्रेल के बाद लेफ्टिनेंट कर्नल जार्ज गोबान (अप्रैल 1836–सितम्बर 1838 में) तीसरे कमिश्नर के रूप में कार्यरत रहे। गैर–विनियमित क्षेत्र होने के कारण तत्कालीन गवर्नर ए.रॉस के समक्ष एक अनुभव विहीन सेना अधिकारी को कुमाऊँ जैसे गैर विनियमित क्षेत्र में नियुक्त करने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही उपलब्ध नहीं था क्योंकि रेगुलेशन जनपदों के लिए सिविल सेवा के अधिकारियों की संख्या आवश्यकता के अनुसार उपलब्ध नहीं थी। ऊपरी प्रान्त के अर्पित और विजित जनपदों में रेगुलेशन जिलों में, संख्या काफी बढ़ने तथा नई भू–राजस्व बन्दोबस्त व्यवस्था के प्रभावी ढंग से लागू करने में अनुभवी सिविल सेवकों की संख्या बन्दोबस्त अधिकारियों के रूप में भी प्रयुक्त हो रही थी।

अनुभव–विहीन तथा अव्यवहारिक कर्नल गोबान की अनेकों शिकायतें बोर्ड ऑफ रेवन्यू भी पहुंची तथा शीतकालीन भ्रमण पर अल्मोड़ा आये वरिष्ठ बोर्ड सदस्य राबर्ट मार्टिन्स बर्ड ने भी अपनी रिपोर्ट में न केवल कर्नल गोबान के प्रशासनिक अनुभव की कटु आलोचना की बल्कि कुमाऊँ को तत्काल एक रेगुलर कमिश्नरी के रूप में स्थापित करने, नये भू–बन्दोबस्त के 1833 के रेगुलेशन के आधार पर नियोजित करने व मौजूदा अधिकारियों के कार्य–आवंटन के बारे में कई सुझाव दिये।

वरिष्ठ बोर्ड सदस्य राबर्ट मर्टिन्सबर्ड के अल्मोड़ा भ्रमण के उपरान्त सरकार को 1837 में प्रेषित रिपोर्ट में जहॉ एक ओर कर्नल गोबान की कुमाऊँ कमिश्नर व किसी भी सिविल पद को धारण करने के अयोग्यता की पुष्टि की गयी है, वहीं अब तक एक गैर–विनियमित क्षेत्र, कुमाऊँ, को उत्तरी–पश्चिमी प्रान्त की मुख्य–धारा में लाने के लिए रेगुलेशन 1833 के प्राविधानानुसार भू–बन्दोबस्त कार्य को तुरंत सक्रिय करने, अभिलेखों के सही–अनुरक्षण, यूरोपीय अधिकारियों के मध्य कार्य–आवंटन, कुमाऊँ कमिश्नर के पद को 1829 के बाद मैदानी क्षेत्रों में तैनात कमिश्नरों के अनुरूप अधिकार व उत्तरदायित्व देने, सिविल व राजस्व वादों के समुचित निर्णय, अधीनस्थ कर्मचारियों की संख्या का पुनर्निधारण, तराई–पुलिस व्यवस्था में सुधार,

असम की भांति कुमाऊँ कोड के निर्माण आदि, समेत कुल 16 सुझाव भी दिये गये। इसी भ्रमण नोट के आधार पर कुमाऊँ को रेगुलेशन क्षेत्रों की ही भांति एक कमिश्नरी के रूप में स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू हुई। 1839 के आदेश के क्रम में (एक्ट ग, 1838) कुमाऊँ व गढ़वाल को जनपदों में विभक्त किया गया।

इस नयी व्यवस्था में पहले किन्तु क्रम में चौथे कमिश्नर, जार्ज थामस लुशिंगटन के 10 वर्ष लम्बे कार्यकाल के सम्बन्ध में अति न्यून सूचना इतिहास में उपलब्ध थी।

राजस्व–प्रशासन, वन–प्रबन्धन, भाबर–तराई प्रबन्धन, दीवानी, फौजदारी व पुलिस प्रशासन के अतिरिक्त शिक्षा, धार्मिक स्थलों के प्रबन्धन में सुधार चिकित्सा व स्वास्थ्य, सड़क निर्माण और नैनीताल शहर की स्थापना, जैसे विषयों पर इस अवधि में मूल–भूत कार्य हुये।

नवम्बर 1834 से नये क्षेत्र को एक चौथी प्रेसीडेन्सी के रूप में स्थापित करने के प्रयास के बाद जून 1836 से उत्तर–पश्चिमी प्रांत के बनने से कुमाऊँ प्रशासन का पर्यवेक्षण अब पूर्व में कलकत्ता के स्थान पर आगरा से प्रारम्भ हो चुका था। सदरबोर्ड, सदर दीवानी नजामत अदालत तथा प्रांतीय सरकारों के द्वारा अपने–अपने विषयों पर बृहद पत्राचार प्रारम्भ हो चुका था।

कुमाऊँ को रेगुलेशन प्रान्तों की भांति एक नियमित कमिश्नरी बनाने सम्बन्धी अधिनियम (एक्ट X, 1838) अप्रैल 1838 में ही प्रख्यापित हो चुका था किन्तु कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के द्वारा कर्नल गोवान की तैनाती को निरस्त करने सम्बन्धी आदेश पर गर्वनर जनरल के आदेश जारी होने के कारण इसके क्रियान्वयन में देर हो गयी. बंगाल कोड के एक्ट X, 1838, से पूर्व रेगुलेशन X, 1817 निरस्त कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप अब सभी कर्मचारियों को सदर दीवानी अदालतों के आधीन दीवानी मामलों में, फौजदारी मामलों में सदर निजामत अदालत और राजस्व मामलों में सदर राजस्व बोर्ड के आधीन कर दिया गया।

इस अवधि में राजस्व प्रशासन की सबसे प्रमुख गतिविधि उत्तर–पश्चिमी प्रान्त में 1833 व बंगाल रेगुलेशन के अन्तर्गत बन्दोबस्त अधिकारी बैटन द्वारा गढ़वाल और उसके बाद कुमाऊँ में किया जा रहा बन्दोबस्त था। ज्ञातव्य है कि 1793 में जो कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के द्वारा बंगाल प्रेसीडेंसी के क्षेत्रों में बन्दोबस्त को दस साल के स्थान पर स्थायी घोषित कर दिया था। उसे इस नये विजित क्षेत्रों में लागू न कर स्थायी बन्दोबस्त के गुण–दोष पर साथ–साथ विचार विमर्श भी चल रहा था। वर्तमान रेगुलेशन 1833 के अन्तर्गत किये जाने वाले बन्दोबस्त को "बैक–प्रोसेस" बन्दोबस्त कहा गया है अर्थात् पहले एक 'राजस्व महाल' की देय क्षमता का आंकलन, भूमि की उर्वरता, क्षेत्रीय वित्तीय स्थिति तथा कृषकों की क्षमता

http://uou.ac.in

के आधार पर सुनिश्चित कर ली जाती थी, तथा उसके उपरान्त महाल में स्थित कृषकों की अलग–अलग राजस्व फांट तैयार की जाती थी।. प्रत्येक राजस्व ग्राम की सीमाएं भी इसी बन्दोबस्त में निर्धारित कर उन्हें लिखित रूप में बन्दोबस्त अभिलेख का भाग बनाया गया। क्रम के अनुसार यह कुमाऊँ का आठवाँ बन्दोबस्त था. बन्दोबस्त अधिकारी उप कलेक्टर श्रेणी का अधिकारी था. पर्वतीय क्षेत्र के कृषकों व ग्रामीणों के लिये यह पूरी प्रक्रिया नई थी, अधिकारियों के पद नाम भी नये थे तथा जिस गहराई से बन्दोबस्त की प्रक्रिया की जा रही थी, वह सभी एक बिल्कुल नया ही अनुभव था. स्वयं गवर्नर जनरल विलियम बैन्टिंक ने इस नयी बन्दोबस्त व्यवस्था में तेजी लाने के लिए वरिष्ठ राजस्व अधिकारियों का इलाहाबाद में दो दिनों का बड़ा सम्मेलन किया था। सदर राजस्व बोर्ड में वरिष्ठ सदस्य वही रॉबर्ट मर्टिन्स बर्ड थे जिनके 1837 के अल्मोड़ा भ्रमण के फलस्वरूप कुमाऊँ की प्रशासनिक व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन हुआ था। कर्नल गोवान का स्थानान्तरण, कुमाऊँ कमिश्नरी का रेगुलेशन कमिश्नरियों की भांति पुनर्गठन, कमिश्नरी के एक मात्र जिले कुमाऊँ का क्रमशः कुमाऊँ व 'गढ़वाल' दो जिलों में विभाजन कर वहां वरिष्ठ सहायक आयुक्तों की तैनाती की गयी थी।

इन मौलिक परिवर्तनों के चलते कुमाऊँ व गढ़वाल जनपदों में वरिष्ठ सहायक आयुक्तों (जो बाद में उपायुक्त कहलाये) के कार्यालयों की स्थापना, अधीनस्थ मुख्य सदर मुंसिफों व मुंसिफों की तैनाती जैसे बुनियादी स्थापना संबंधी कार्य भी इसी अवधि में हुए, चूंकि इससे पूर्व राजस्व, दीवानी व फौजदारी से सम्बन्धित प्रकरणों को स्थानीय व्यवस्था में तथा गैर–विनियमित क्षेत्र व्यवस्था के अंतर्गत सम्पादित किया जा रहा था। अतः बंगाल कोड या विभिन्न रेगुलेशन के अंतर्गत प्राप्त हो रहे निर्देशों को अपेक्षित गंभीरता से नहीं लिया जाता था। अधिकारियों की संख्या भी बहुत कम थी। दूसरे कुमाऊँ कमिश्नर, ट्रेल का कोर्ट 1815 से 1829 तक एक मात्र सिविल व फौजदारी कोर्ट था, केवल एक अन्य सहायक के द्वारा कुछ राजस्व के मामलों को समय–समय पर देखा जाता था।

इस दौरान दो जिलों के बनने, आयुक्त कार्यालय के भी कार्य के बढ़ने, कई नये अधीनस्थ मुंसिफी न्यायालयों की स्थापना तथा रेगुलर बन्दोबस्ती कार्यों से कागजी पत्र–व्यवहार, निदेशों व नये–नये रेगुलेशन की प्राप्ति व उन पर स्पष्टीकरण आदि का कार्य पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ गया। फलतः जहॉ तक कुमाऊँ कमिश्नर के द्वारा पूर्व की भांति स्वयं कृषकों या अन्य व्यक्तियों का विभागीय कर्मियों से सम्पर्क का प्रश्न है वह बहुत कम हो गया। कोई आश्चर्य नहीं कि इस अवधि में बाहरी दुनिया के अब कुमाऊँ कमिश्नर कार्यालय से सीधे सम्पर्क के अवसर बहुत कम हो गये। हिमालयन गजेटियर के द्वारा भी इसी कारण कमिश्नर लुशिगंठन के कार्य काल के एक अपेक्षाकृत शांत कार्य–काल की संज्ञा दी

गयी, साथ ही कमिश्नर लुशिंगठन, जिनका प्रमुख जीवन सचिवालय के परशियन (फारसी) विभाग में बीता, का व्यक्तिगत स्वभाव भी इस प्रकार के मूल्यांकन के लिये काफी सीमा तक उत्तरदायी था. वह हर कार्य को विस्तार से देखने के आदी और नियम–कानूनों के पाबंद अधिकारी थे।

बाहर से शांत किन्तु प्रशासनिक दृष्टि से यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण संक्रमण–काल था. 1815–1838 तक जो कुमाऊँ एक अत्यंत व्यक्तिवादी किन्तु योग्य एवं संवेदनशील प्रशासक के आधीन था उसे अब मुख्य–धारा के कानून–कायदों के अन्तर्गत लाया जा रहा था। सामान्य जनता भी नये–नये कार्यालयों और एक बिल्कुल नये प्रकार की राजस्व व्यवस्था से परिचय प्राप्त कर रही थी।

किन्तु जहां तक नये कुमाऊँ मण्डल में धरातलीय कार्य विशेषतः नये बन्दोबस्त का प्रश्न था, उसका बहुत ही विस्तृत पर्यवेक्षण स्वयं कमिश्नर लुशिंगटन द्वारा किया जा रहा था व बन्दोबस्त अधिकारी बैटन के आदेशों के विरुद्ध कमिश्नर को अपील की जाती थी और इन अपीलों के माध्यम से कुमाऊँ कमिश्नर बन्दोबस्त कार्य का निस्तारण करने के साथ–साथ बन्दोबस्त अधिकारी को मार्ग–निर्देशन के कार्य में सुधार लाने के लिये देते थे। बंदोबस्त अधिकारी बैटन ने तो यहां तक स्वीकार किया कि बन्दोबस्त कार्यवाही जैसे–जैसे पूर्ण होती गयी है उसे कमिश्नर लुशिंगटन ने इस सीमा तक संशोधित और परिमार्जित किया कि अपीलों की सुनवायी के माध्यम से बन्दोबस्ती कार्य के गुणात्मक मूल्यांकन करने का जितना अवसर लुशिंगटन को प्राप्त हुआ वह स्वयं बन्दोबस्त अधिकारी से कहीं अधिक था. वर्ष 1840 और 1841 में ही लुशिंगटन ने 111 अपीलों का निस्तारण किया था जो लगान के अधिक होने या पधानचारी से संबंधित विवादों पर था। लुशिंगटन की कुमाऊँ कमिश्नरी का कार्य काल (1838–48) नार्थ–वेस्टर्न प्राविंसेज प्रान्त का भी सबसे अधिक उत्पादक तथा सक्रिय काल था। इसी दौरान सदर राजस्व बोर्ड के द्वारा राबर्ट मार्टिन्स बर्ड (1833–42) और लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स थामसन (1843–53) के पर्यवेक्षण में राजस्व–प्रबंधन के सम्बन्ध में राजस्व प्रशासन की आधार शिला ही रख दी, जो कि आज तक बिना अधिक परिवर्तन के प्रभावी है. डायरेक्शन फॉर कलेक्टर्स ऑफ रेवन्यू (1848) और डायरेक्शन फॉर सेटिलमेन्ट आफिसर्स (1849) जैसे सर्वकालीन महत्व के निर्देश इसी अवधि में निकले। रेवेन्यू रिकार्डस् के सलेक्शंस (1822–33) भी इसी अवधि में कुमाऊँ कमिश्नरी में प्राप्त हो सके व उनका पहली बार अधिकारियों ने संज्ञान लिया।

कलेक्ट्रेट कार्यालय, कलेक्शन रिकार्ड आफिस, पटवारी रिकार्ड, माफी भूमियाँ, माल गुजारी रजिस्टर, रजिस्ट्रेशन आफ डीड्स, वेस्ट लैण्ड, एलूविमन, क्षतिपूर्ति, परगना रजिस्टर, भूमि की बिक्री, समरी सूट, नजूल लैण्ड, तहसील दारी एकाउंट, तकावी, खाम जैसे सभी महत्वपूर्ण अभिलेखीय व प्रक्रियात्मक व्यवस्थायें इसी

महत्वपूर्ण काल की ही देन हैं। राजस्व व दीवानी मामलों की संख्या भी अप्रत्याशित रूप से बढ़ गयी क्योंकि अब सामान्य जनता को अपनी सम्पति व अधिकारों की जानकारी पहले से कहीं अधिक बड़े स्तर पर हो चुकी थी। भू–राजस्व व अन्य माँगों की वसूलयाबी उनसे सम्बन्धित बढ़े वादों की संख्या में भी अधिकारियों व कर्मचारियों के साथ–2 न्यायालयों के कार्यों में भी अप्रत्याशित वृद्धि आ चुकी थी।

राबर्ट बर्ड की अनुशंसा से तराई–भाबर में दोहरा प्रशासन लग गया था, फौजदारी प्रबंधन तो पड़ौसी मैदानी जिलों के पास था किंतु राजस्व प्रबंधन पर्वतीय अधिकारियों के पास ही था, जिसे कानून व्यवस्था के दृष्टिकोण से ही बर्ड अपने अल्प अवधि भ्रमण के दौरान में अनुभव कर पाया था। गर्वनर जेम्स थामसन ने तराई–भाबर के विकास में इस दौरान गहरी रुचि दिखलायी और 1844 के अपने कुमाऊँ भ्रमण में अधिकारियों के साथ विस्तृत समीक्षा की। थॉमसन तराई भाबर जंगल प्रबंध को सीधे खास–प्रबंधन में देने को इच्छुक था किंतु पर्वतीय अधिकारी इसके लिये तैयार न थे। हेनरी रेमजे जो बाद में स्वयं आयुक्त बने, 1847 तक इसके लिये तैयार न थे. मई 1848 में ग्रेट ट्रिगोनो मेट्रिक सर्वे के द्वारा रूहेलखण्ड के सर्वेक्षण के दौरान कुमाऊँ तराई का भी सर्वेक्षण प्रारम्भ किया गया। कुमाऊँ तराई प्रबंधन 1838–1848 की अवधि तक एक छिन्न–भिन्न स्थिति में ही रहा. किलपुरी, नानकमत्ता और विलहरी पीलीभीत के भाग थे, विलहरी बाद में बरेली में मिला दिया गया, तब रूद्रपुर और गदरपुर विलहरी के भाग थे. मुरादाबाद जिले के द्वारा बाजपुर और काशीपुर का प्रशासन देखा जाता था. चूंकि इन सब जनपदों में बंगाल रेगुलेशंस लागू थे अतः कुमाऊँ तराई की स्थिति बहुत ही विचित्र बन गयी थी। वस्तुतः 1815 से 1858 के दौरान कुमाऊँ तराई का कु–प्रबंधन तत्कालीन नार्थ–वेस्टर्न प्रांत के प्रशासन पर एक काले धब्बे के समान था। मार्च 1842 में इसे कुमाऊँ कमिश्नरी के आधीन कर देने से भी इसकी प्रशासन व्यवस्था में कोई मूलभूत अंतर नहीं आ सका।

जिस प्रकार की अभूतपूर्व सक्रियता राजस्व प्रशासन के क्षेत्र में आयी थी, दीवानी फौजदारी व पुलिस प्रशासन तंत्र में भी पहले से कहीं अधिक सक्रियता व व्यस्तता इस अवधि में कुमाऊँ कमिश्नरी के जिलों व अधीनस्थ स्तर पर स्वतः ही आ गयी। यह एक अत्यन्त ही रोचक तथ्य है कि एटकिंसन गजेटियर (1881–86) में लुशिंगटन के सम्बन्ध में मात्र यह लिखा है कि वह "1839 से 1848 के मध्य कमिश्नर रहे प्रतीत होते है।" प्रशासनिक दृष्टि से कमिश्नर लुशिंगटन ने राजस्व, सिविल, फौजदारी व पुलिस प्रशासन की नयी व्यवस्था को जो इन वर्षों में कुमाऊँ के लिए निरन्तर ही प्रयोगधर्मी व परिवर्तनशील रही– लागू किया, किन्तु खेद है कि वह किसी भी अंश में ट्रेल के बद्रीनाथ–केदारनाथ धाम मार्ग–निर्माण के सम्बन्ध में किये गये प्रयासों या हेनरी रामजे के तराई भाबर में 1858 के बाद लाये

काया–कल्प या नैनीताल झील को एक पर्यटन नगरी बनाने के समान सामान्य कृतज्ञता या चर्चा का विषय न बन सके। कुमाऊँ में असम रूल्स के लागू होते ही स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के सम्बन्ध में जो पहल लुशिंगटन ने सुझावों के माध्यम से की उसके क्रम में सदर की दीवानी व निजामत अदालत ने संशोधित नियमों की श्रृंखला ही जारी की जिन्हें बाद में कुमाऊँ प्रिटेंड रूल्स कहा गया। असम रूल्स के अनुक्रम में जारी दीवानी और फौजदारी न्यायालयों के संचालन व न्यायिक कार्य–प्रणाली को पर्वतीय क्षेत्र की परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए लुशिंगटन द्वारा स्वयं या अधीनस्थ न्यायालयों के सुझाव पर सदर दीवानी व निजामत अदालतों को अनेकों सुझाव भेजे, कई सुझावों में सदर अदालतें सहमत नहीं थी किन्तु उन्हें शासन द्वारा सहमति दी गई। इन सभी परिवर्तनों को लाने में भारी संख्या में स्थानीय कार्यालयों, कमिश्नर कार्यालय, सदर दीवानी व निजामत अदालतों और सरकार के नीचे पत्राचारों का आदान प्रदान होना स्वाभाविक ही था। अंततोगत्वा इन प्रारम्भिक कठिनाईयों के बाद भी कमिश्नर लुशिंगटन के द्वारा कुमाऊँ प्रिटिंग रूल्स के प्राविधानों ने पूरे कुमाऊँ कमिश्नरी में सफलतापूर्वक लागू करने में सफलता पाई. प्रशासनिक दृष्टि से यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

कमिश्नर ट्रेल की ही भांति सीमावर्ती भोटिया व्यापारियों के मुकदमों को बागेश्वर में सुनवाई करने के उदाहरण देते हुए लुशिंगटन ने भी वैसे ही अधिकार अपने लिए प्राप्त किये साथ ही वह अपने क्षेत्रीय भ्रमण के दौरान ही मामलों/वादों की सुनवाई स्वयं ही करता था या अपने अधीनस्थ अधिकारियों को प्रेषित कर सकता था। स्टैम्प–पेपर के प्रयोग के हटा लेने से वादों की संख्या में भारी वृद्धि को देखते हुए स्टैम्प पेपर का पुनः प्रयोग जनवरी 1845 से लागू कर दिया गया।

1839 से कुमाऊँ कमिश्नरी में कमिश्नर कुमाऊँ का न्यायालय, सीनियर कमिश्नरों के दो न्यायालय, जूनियर एसिस्टेंट का एक न्यायालय, सदर अधीन के दो न्यायालय और मुंसिफों के तीन न्यायालय, दीवानी और फौजदारी मामलों का निस्तारण कर रहे थे। सदर दीवानी और निजामत अदालत को हर वर्ष दीवानी, फौजदारी मामलों के दायरे, निस्तारण व अपीलों के निस्तारण पर वार्षिक प्रतिवेदन भेजा जाता था जिस पर न्यायालय और सरकार की ओर से न्यायालय के कार्य निस्तारण की प्रगति पर टिप्पणियां और सुझाव प्राप्त होते थे। इसी प्रकार पुलिस प्रशासन पर भी वार्षिक प्रतिवेदन भेजा जाता था तथा उस पर सरकार से टिप्पणियां व सुझाव प्राप्त होते थे। कहा जा सकता है कि जो व्यवस्था वर्तमान में विभागों द्वारा अधिकारी/न्यायालय–वार कारगुजारी पर जो वार्षिक रिर्पोट भेजने की प्रक्रिया गतिमान है उसका प्रारम्भ 1839 से कुमाऊँ में हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में सीनियर असिस्टेंट हडलस्टन के द्वारा लावारिस फंड के प्रयोग से श्रीनगर में 1839 में एक

स्कूल की स्थापना, जिसका भ्रमण कलकत्ता से लार्ड विशप विलसन और स्वयं लुशिंगटन ने किया। बद्रीनाथ–केदारनाथ से सम्बन्धित वादों के निस्तारण के सम्बन्ध में सरकार द्वारा लुशिंगटन को स्वयं हस्तक्षेप न करने की सलाह दी गयी तथा मन्दिर के पुजारियों के चुनाव में किसी गैर यूरोपियन कार्यकर्त्ता के माध्यम से चुनाव सुनिश्चित करने को कहा गया, बोर्ड द्वारा भी सीधे हस्तक्षेप के स्थान पर समझौता या पंचायत व्यवस्था के विकल्प का सुझाव दिया गया। जहॉ शान्ति व्यवस्था बांधित हो वहॉ शासन की पूर्व अनुमति से हस्तक्षेप करने की राय दी गयी। 1847 में लुशिंगटन ने शासन को बद्रीनाथ और केदारनाथ रावलों के द्वारा धारण की जाने वाली अर्हताओं पर रिर्पोट प्रेषित की।

बद्रीनाथ केदारनाथ यात्रा मार्ग में यात्रियों की चिकित्सा व स्वास्थ्य सुविधाओं पर सुपरिन्टैंडेन्ट सर्जन की रपट और कर्नल गोबान द्वारा भेजी गयी महामारी की रिपोट के फलस्वरूप एक नेटिव डॉक्टर की यात्रा मार्ग तैनाती अप्रैल 1840 में हुई। अक्टूबर 1847 में नैनीताल में एक असिस्टेंट सर्जन की तैनाती और कमिश्नर की अध्यक्षता में अल्मोड़ा में डिसपेंन्सरी कमेटी मार्च 1848 में गठित हुई।

गढ़वाल जनपद स्वतंत्र रूप से 1839 से पूर्व सड़क–पुल निर्माण कार्यो में बहुत पिछड़ा हुआ था। 1841 से पूर्व निर्माण कार्य शून्य ही रहे, इस दिशा में कुछ परिवर्तन आया 1845 में जब खैरना–नैनीताल मार्ग पर काम शुरू हुआ। अपने भ्रमण के दौरान ले. गवर्नर ने बागेश्वर में गोमती के ऊपर पुल निर्माण स्वीकार किया जो सितम्बर 1848 में तैयार हो गया। अप्रैल 1843 से नैनीताल नगर में भूमि के लिए प्रार्थना–पत्र प्राप्त होने प्रारंभ हो गये और 1842 में मेजर जनरल सर डब्लू रिचर्ड की अध्यक्षता में पहली म्यूनिसिपैलिटी कमेटी का चुनाव एक्ट ग 1842 के प्राविधानान्तर्गत हुआ। सरकार ने 7 जून 1845 के इस कमेटी के गठन का अनुमोदन कर दिया।

अक्टूबर 1848 में लुशिंगटन के आकस्मिक निधन के फलस्वरूप नवम्बर 1848 में पूर्णकालिक कमिश्नर के रूप में बैटन ने कार्यभार संभाला। 1836 से प्रारंभ करते हुए उन्हें अब तक 12 वर्ष का अनुभव हो चुका था। कुमाऊँ में जान हैलेट बैटन के कमिश्नरी काल (1848–1856) को आसानी से ब्रिटिश शासन का कुमाऊँ में स्वर्णिम युग की संज्ञा दी जा सकती है।

कुमाऊँ के प्रशासन से सबंधित कदाचित ही कोई ऐसा पक्ष रहा हो जिससे कमिश्नर बैटन सम्बद्ध न रहा हो या जिसमें सुधार के लिए उसने स्वयं या अपने योग्य अधीनस्थ सीनियर एसिसटेंट कमिश्नरों से हस्तक्षेप न कराया हो। एक अत्यन्त जानकार परिश्रमी व उत्साही कमिश्नर, जिसे क्षेत्र में निरन्तर 12 वर्ष काम का दीर्घकालीन अनुभव था, उसे जान स्ट्रेची और हेनरी रेमजे जैसे सीनियर असिस्टेंट

कमिश्नरों का सहयोग प्राप्त हुआ था। यही जान स्ट्रेची कालान्तर में नार्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज का लेफ्टिनेंट गवर्नर और बाद में गवर्नर जनरल की कांउसिल का सदस्य बना। हेनरी रेमजे कालांतर में कई पदोन्नति को अस्वीकार करते हुए पूरे 28 वर्ष, 1858 से 1884 तक, कुमाऊँ कमिश्नर के पद पर ही बने रहे। यही नहीं हेनरी रेमजे ने सैन्य विद्रोह की अवधि में (मई 1857 से जुलाई 1858) न केवल बरेली मण्डल से भागकर आये हुए सिविल व मिलिटरी अधिकारियों को ही नहीं बल्कि पर्यटकों व मिशनरियों को भी नैनीताल में सुरक्षा प्रदान की व आर्थिक सहायता दी।

जिन कार्यो की नींव चौथे कमिश्नर लुशिंगटन के कार्यकाल में पड़ी उन सभी प्रयासों का परिणाम पांचवे कमिश्नर जान हेलेट बैटन के कार्यकाल (1848–1856) में कुमाऊँ मण्डल में दृष्टिगोचर होते हैं। गैर–विनियमित क्षेत्र से प्रशासन की मूल धारा में लाने का श्रेय जितना बैटन को दिया गया उसके उतने ही हकदार कमिश्नर लुशिंगटन भी हैं. संयुक्त रूप से इन दोनों अधिकारियों ने अपने योग्य अधीनस्थ अधिकारियों के सहयोग से कुमाऊँ को न केवल शेष बंगाल प्रेसिडेंसी के जनपदों के साथ मात्र मूलधारा में ही सम्मिलित नहीं किया गया बल्कि काफी सीमा तक विशेषतः एक क्रूरगोरखा राज्य की 25 वर्षों की पृष्ठभूमि में, कुमाऊँ को एक ब्रिटिश राज्य की सफल कहानी के रूप में प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की जबकि निकटवर्ती रूहेलखण्ड कमिश्नरी और मेरठ कमिश्नरी में सैन्य विद्रोह से पूरा शासन–प्रशासन अस्त–व्यस्त हो गया था, केवल कुमाऊँ मण्डल ही एक शांत व सुरक्षित टापू के रूप में इस अवधि में दिखाई दिया। साथ ही सुरक्षित देसी रियासतों, टिहरी और रामपुर, ने भी न केवल कुमाऊँ कमिश्नरी के शांति–स्थापना के प्रयासों में पूरी सहायता की बल्कि दिल्ली को विद्रोहियों से मुक्त कराने में भी पूरा सहयोग प्रदान किया। पांचवे कमिश्नर बैटन के स्वर्णिम काल में राजस्व व सामान्य प्रशासन, कमिश्नरी कार्यालय को सीनियर एसिस्टेंट कमिश्नर कुमाऊँ के कार्यालय से स्थानांतरित कर नैनीताल में स्थापना की गई। इसी क्रम में अनेक अच्छे सुधारात्मक कार्य भी सम्पन्न किए गए जैसे– नया राजस्व बंदोबस्त जिसकी खसरा–सर्वेक्षण प्रमुख उपलब्धि थी, अप्रशिक्षित पटवारियों के स्थान पर योग्य व प्रशिक्षित पटवारियों की तैनाती, चिकित्सा व स्वास्थ्य, शिक्षा का प्रसार, तहसीली स्कूलों की स्थापना, सड़क पुल और डाक बंगलों के निर्माण को सेना से सिविल अधिकारियों के हस्तान्तरण, बड़े स्तर पर गढ़वाल व कुमाऊँमें चाय उत्पादन, बद्रीनाथ–केदारनाथ धाम के धार्मिक कर्मचारियों की चयन व्यवस्था में सुधार, दीवानी फौजदारी व पुलिस प्रशासन में गुणात्मक परिवर्तन व सुधार और नैनीताल नगर की कमिश्नरी मुख्यालय के अतिरिक्त एक लोकप्रिय पर्यटक नगरी के रूप में स्थापित करने के लिए मौलिक व गुणात्मक प्रयास किये गये।

उपरोक्त सभी क्षेत्रों में जो प्रयास गुणात्मक परिवर्तन या प्रयोगात्मक रूप से प्रारंभ किये गये, उनके चिन्ह आज डेढ़ सौ वर्षों बाद भी देखे और अनुभव किये जा सकते हैं।

हेनरी रैमजे (फरवरी, 1856–मई 1884):

जार्ज विलियम ट्रेल और जॉन हैलेट बैटन की भांति हेनरी रैमजे भी एक ऐसे अधिकारी थे जिनकी सेवा का अधिकांश भाग कुमाऊँ में ही व्यतीत हुआ। ट्रेल के 20 वर्ष और बैटन के भी 20 वर्षों के सापेक्ष हेनरी रैमजे ने कुल 44 वर्ष कुमाऊँ में विभिन्न पदों पर, और छठे कमिश्नर के रूप में पूरे 28 वर्ष कुमाऊँ में व्यतीत किया।

मई 1857 के सैन्य विद्रोह से पूर्व हेनरी रैमजे कनिष्ठ सहायक कमिश्नर, वरिष्ठ सहायक कमिश्नर गढ़वाल व वरिष्ठ सहायक कमिश्नर कुमाऊँ के पदों पर यहीं तैनात रह चुके थे। सैन्य–विद्रोह के समय तक उनका कुल 16 वर्षों का स्थानीय अनुभव हो चुका था, जिसमें 15 महीने कुमाऊँ कमिश्नर के रूप में भी सम्मिलित थे।

1857 के सैन्य–द्रोह से उत्पन्न प्रशासनिक परिस्थितियों में कुमाऊँ प्रशासन के द्वारा जो विशिष्ठ भूमिका का निर्वाह किया गया उसका सार–संक्षेप में निम्न रूप में दिया जा सकता है.

1- 10 मई 1857 से 1 नवम्बर 1858 के इलाहाबाद दरबार में शाही घोषणा तक कुमाऊँ उत्तरी भारत व नार्थ–वेस्टर्न प्रोविंसेज में एक शांत क्षेत्र बना रहा जबकि उसके दक्षिण पूर्व में रूहेलखण्ड और दक्षिण में मेरठ कमिश्नरी सबसे अधिक प्रभावित व सैन्य विद्रोह की गतिविधियों का केन्द्र रहीं,

2- 30 मई 1857 से रूहेलखण्ड कमिश्नर एलेक्जेण्डर व बरेली डिवीजन के कई अधिकारी व यूरोपीय व्यक्तियों ने नैनीताल में ही मई 1858 तक प्रवास किया और इस अवधि में उनके प्रवास तथा आंशिक वेतनादि की व्यवस्था भी कुमाऊँ कमिश्नरी के द्वारा की गयी,

3- कुमाऊँ–गढ़वाल, टिहरी रियासत क्षेत्र में आन्तरिक शांति बनाये रखी गयी तथा सेना के सहयोग से विद्रोहियों की टुकड़ियों को कोटा (जून 1857), हल्द्वानी (सितम्बर 1857) तथा पुनः हल्द्वानी (अप्रैल 1858) में कुमाऊँ प्रवेश करने से रोका गया,

http://ignou.ac.in

4- सेना के द्वारा सभी सैनिकों की छुट्टी निरस्त करने के क्रम में मार्शल ला भी लागू कराया गया। मार्शल ला न्यायालय स्थापित किये गये, कुछ डकैतों व बलवाईयों को निरूद्ध कर कुछ को फांसी की सजा भी दी गयी,

5- नवें बन्दोबस्त के चालू काम को रोककर डिप्टीकलेक्टर को पर्वतीय घाटों/प्रवेश–द्वारों की सुरक्षा व चौकसी बरतने की जिम्मेदारी दी गयी। उपायुक्त अल्मोड़ा को अल्मोड़ा पर नियंत्रण रखने और एक अधिकारी को पूर्ण–कालिक रूप से नैनीताल में तैनात किया गया, जबकि कमिश्नर ने स्वयं अपना ध्यान तराई और कमिश्नरी की सीमा पर केन्द्रित किया।

6- मोतीराम साह, कुन्दन लाल साह, टिहरी राजा सुदर्शन शाह इत्यादि से पूर्ण स्थानीय सहयोग वित्तीय समस्या का समाधान व राशन आवश्यकता की पूर्ति सुनिश्चित की गयी।

7- पिथौरागढ़ मार्ग से सैनिक भर्ती दलों को नेपाल भेजकर पूर्व गोरखा सैनिक और नये सैनिकों की भर्ती की कार्यवाही प्रारम्भ की गयी।

8- मेरठ कमिश्नर के द्वारा जो कोषागार के धनादेश जारी किये जा रहे थे उनका विभिन्न पर्वतीय व मैदानी कोषागारों से भुगतान सुनिश्चित कराया गया।

9- शांति स्थापित होने पर विभिन्न स्थानों से कुमाऊँ व नैनीताल भ्रमण पर आये सेना व सिविल अधिकारियों, पर्यटकों को जो गत एक वर्ष से नैनीताल, प्रवास कर रहे थे, उनसे सम्पर्क स्थापित कर वापिस भेजने की व्यवस्था की गयी तथा,

10- सैन्य द्रोह के दौरान जिन्हें वित्तीय व भौतिक कठिनाई हुयी उन्हें राज्य सरकार की ओर से आर्थिक सहायता दिलाई गयी; राजभक्त नागरिकों व अधिकारियों को पुरस्कारों की संस्तुति की गयी।

सैन्य द्रोह की अवधि में सैन्य–द्रोह के मुख्य केन्द्र के इतने समीप स्थित होते हुए भी जिस प्रकार से पूरे कुमाऊँ–टिहरी क्षेत्र में कठोरता से स्थिति नियंत्रण में रखी गयी और इसके साथ ही समय–2 पर विद्रोहियों के हमलों के विरूद्ध प्रतिरोधात्मक कार्यवाही की गयी उससे सैन्य विद्रोह अधिक न फैल सका। नेपाल में सेना की भर्ती व नेपाल से सैनिक सहायता के रूप में 'रनवीर' सेना प्राप्त कर विद्रोह को असफल करने के लिए बहु–आयामी सहयोग दिया गया। उससे कुमाऊँ कमिश्नरी पूरे नार्थ–वेस्ट प्रोविंसेज में ऐसी एक मात्र प्रशासनिक इकाई के रूप में प्रकट हुई जहाँ कम्पनी प्रशासन को न केवल स्थानीय सहयोग मिला बल्कि

स्थानीय प्रशासन के द्वारा विभिन्न स्थानों से आये हुए पर्यटकों, अधिकारियों, मिशनरियों व सैनिकों को भी सुरक्षा व सहायता प्राप्त हो सकी। निश्चय ही एक वर्ष के कार्यकाल के पूरा होते ही सैन्य–विद्रोह के घटनाकाल में अभूतपूर्व प्रशासनिक स्थिति का सफलता पूर्वक सामना करना रैमजे की एक बड़ी उपलब्धि थी। सैन्य–द्रोह जैसी अभूतपूर्व स्थिति से सफलता पूर्वक निपटने के ही कारण रैमजे अगले 26 वर्षों तक इसी पद पर बने रहे और उन्हें उनके जीवन काल में भी 'कुमाऊँ का बेताज बादशाह' जैसे विशेषण तथा अनेकों राजकीय अलंकरण भी मिले।

नवम्बर 1858 में शाही घोषणा के बाद, कम्पनी शासन के समाप्त होने के फलस्वरूप प्रशासन में जो अनेकों प्रकार के संवैधानिक, कानूनी व प्रशासनिक परिवर्तन लाये गये उससे कुमाऊँ को राष्ट्रीय मुख्य–धारा में लाने का कार्य भी अगली बड़ी चुनौती के रूप में सामने आया।

सैन्य–द्रोह के कारणों में लार्ड डलहौजी का डाक्ट्रिन ऑफ लैप्स परोक्ष रूप से राज्यों को हस्तगत करने की निकृष्ट युक्ति से सर्वत्र शासक वर्ग में असन्तोष फैल रहा था। लागू किये जा रहे अनेकों सुधारों के प्रति उत्तर–भारत के रूढ़िवादी वर्ग में अपनी संस्कृति की सुरक्षा की भावना व व्याप्त असंतोष, कम्पनी द्वारा अपनी सार्वजनिक सेवाओं में योग्य भारतीयों को स्थान न देना, सेवाओं में योग्य भारतीयों को भी समुचित पदोन्नतियों से वंचित रखने के अतिरिक्त भूमि–बन्दोबस्त प्रक्रिया से सामंती शक्तियों में उत्पन्न असंतोष प्रमुख कारण माने गये थे। शांति व्यवस्था को स्थापित करते समय इन सभी कारणों के निराकरण पर भी ध्यान देना एक वरीयता बन गयी थी। हेनरी रैमजे के प्रशासन में अवश्य ही इनमें से कई बिन्दुओं पर ध्यान रखते हुए भी कार्यवाही की गयी। उदाहरण के लिये 1857 से पूर्व बन्दोबस्ती प्रक्रिया के दौरान रैमजे ने कमिश्नर ट्रेल का अनुसरण करते हुए कई थोकदारों के पद व अधिकारों को समाप्त करने का निर्णय ले लिया था किन्तु सैन्यद्रोह के दौरान लागू की गयी शासन व्यवस्था प्रक्रिया में इन "थोकदारों" की भूमिका पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड़ गयी, ठीक जैसे अवध में "तालुकादारों" के सम्बन्ध में पुनर्विचार किया गया।

लार्ड डलहौजी के द्वारा जिस प्रकार से ब्रिटिश साम्राज्य को फैलाने की कार्यवाही प्रारम्भ की गयी थी उससे इन सब नये–विजित क्षेत्रों में प्रशासन के लिये योग्य सेवकों की भारी कमी को देखते हुए सेना के कुशलतम अधिकारियों की सेवा सिविल प्रशासन में लेनी पड़ी। बेहतर सैनिक अधिकारियों की इस विशाल रूप से बढ़ी आवश्यकता का एक परिणाम यह भी हुआ कि ब्रिटिश सेना में भी योग्य अधिकारियों का भारी अभाव हो गया। पंजाब, केन्द्रीय प्रोविंसेज, लोअर बर्मा और

अवध में बड़ी संख्या में अंग्रेजी रेजिमेंटों के अधिकारी सिविल अधिकारी तैनात किये गये।

10 मई 1857 में मेरठ से प्रारम्भ हुआ सैन्य–विद्रोह पहले दिल्ली पहुंचा और जहां से वह आग की तरह पूरे उत्तर–पश्चिम प्रांत और अवध में फैलता हुआ निचले बंगाल तक पहुंच गया।. पंजाब में सिख समुदाय अंग्रेजों के साथ रहा, निचले बंगाल में कई स्थानों पर सैन्य–द्रोह हुआ और विद्रोही सैनिक कई दिशाओं में फैल गये, कानपुर, लखनऊ और दिल्ली तीन शहर इससे प्रमुख रूप से प्रभावित रहे। सितम्बर 1857 तक दिल्ली में अंग्रेजी शासन पुनः स्थापित हो गया, उसके उपरांत नेपाल की सैनिक टुकड़ियों की सहायता से अवध अभियान के दौरान जनवरी 1859 में जाकर सैनिक कार्यवाही बंद हो सकी। केवल केन्द्रीय भारत में, झांसी की रानी को जून 1858 में और तात्याटोपे को अप्रैल 1859 में ही परास्त किया जा सका। इस सैन्य–द्रोह का प्रमुख परिणाम कम्पनी शासन के अंत के रूप में हुआ। उत्तर प्रदेश के एक अभिन्न भाग के रूप में जहॉ कुमाऊँ की एक प्रमुख भूमिका रही वहीं हेनरी रैमजे के द्वारा कुमाऊँ कमिश्नरी के स्थानीय प्रमुख–व्यक्तियों, स्थानीय अधिकारियों, भ्रमण में कुमाऊँ क्षेत्र में विद्यमान सैनिक, चिकित्सीय सेवा व सिविल सेवा के अधिकारियों का प्रभावकारी ढंग से उपयोग किया गया वह भी प्रशासकीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

सैन्य विद्रोह के उपरान्त शांति–स्थापित करने की प्रक्रिया के महत्वपूर्ण भाग के रूप में कुमाऊँ में सर्वप्रथम कई नये कार्यालयों की स्थापना करना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि रही। 1838 से मई 1855 तक, 13 वर्षों तक वरिष्ठ सहायक कमिश्नर अल्मोड़ा के कार्यालय में ही कमिश्नर कुमाऊँ का भी कार्यालय स्थित था। कमिश्नर वैटन ने 1850 में कुमाऊँ कमिश्नर कार्यालय को स्वतंत्र रूप से स्थापित करने का प्रस्ताव प्रेषित किया था। अक्टूबर 1855 में ओसले ग्रोब में कुमाऊँ कमिश्नर का कार्यालय और उनकी कचहरी स्थापित हुयी। कमिश्नर बैटन नये नैनीताल में कुमाऊँ कमिश्नर कार्यालय के स्थानान्तरण के चार महीने के अंदर ही इंग्लैण्ड अवकाश पर चले गये। कुमाऊँ कमिश्नर ऑफिस के विस्तार की कहानी हैनरी रैमजे के कुमाऊँ कमिश्नर काल के दौरान हुए प्रमुख प्रशासनिक परिवर्तनों के समानान्तर चलने वाली कहानी है जो भी नये सरकारी आस्थान या कार्यालय कुमाऊँ में स्थापित हुए उन सब में कमिश्नर कुमाऊँ के रूप में रैमजे के द्वारा किये गये नवाचार या प्रयास ही प्रतिबिम्बित होते हैं।

कमिश्नरी कार्यालय, सदर अमीनों के न्यायालय, नजारत, दोनों जिलों के कार्यालय, तहसील कार्यालय, कैण्टोनमेंट की स्थापना इत्यादि इस अवधि में ही मूर्त हुईं। इनमें से भाबर कार्यालय की स्थापना, भाबर पुलिस और तराई के विस्तार व विकास को हैनरी रैमजे शासन काल की प्रमुख उपलब्धि में गिना जाता है।

तीसरी प्रमुख उल्लेखनीय घटना, बैटन के ऐतिहासिक आठवें बन्दोबस्त के उपरांत कुमाऊँ मण्डल के नवें भू–बन्दोबस्त का गढ़वाल व कुमाऊँ में पूर्ण किया जाना कहा जायेगा। बैटन का आठवां बन्दोबस्त 20 वर्षों के लिये किया गया था तथा यह 1860 तक प्रभावी था. बैकेट जो वरिष्ठ सहायक आयुक्त के रूप में कार्यरत थे, को ही बन्दोबस्त कार्य दिया गया। इस बन्दोबस्त की विशिष्टता यह थी कि इसमें खसरा (खेतों) की पैमाइश भी की गयी थी. इस प्रकार की खसरा पैमाइश इससे पूर्व केवल राजस्व या दीवानी मुकदमों में विवाद होने की स्थिति में ही प्रमाण स्वरूप की जाती थी। इस खसरा पैमाइश का प्रयोग रैमजे द्वारा 1852 में कुमाऊँ में कतौली के सदाव्रत भूमि के विवाद के सम्बन्ध में सम्पन्न की गई थी। इस बन्दोबस्त में रिकार्ड ऑफ राइट्स, खसरा मुंतखिब (समस्त खेतों को सबन्धित कृषक के नाम के साथ सूचीबद्ध करना), तेहरीज (प्रत्येक काश्तकार के मुंतखियों का महायोग) तथा फॉट (प्रत्येक भूस्वामी व खासकर खेतों, तथा लगान व करों का विवरण) को भी बन्दोबस्त के दौरान तैयार किया जाना था. इस बन्दोबस्त में कुछ उपशुल्क भी लगाये जाने प्रस्तावित थे, जिसके लिये इस प्रकार की पैमाइश अनिवार्य हो गयी, भूमि का वर्गीकरण भी किया गया। सामान्य औसत मानक स्थापित किये गये, सिंचित व असिंचित खेतों की स्थिति इत्यादि ज्ञात करते हुए खेतों का वर्गीकरण भी किया गया। वैंकट ने प्रत्येक पट्टी का व्यक्तिगत निरीक्षण किया. 1864 में गढ़वाल का बन्दोबस्त पूरा हुआ तथा मांग 69,274 रुपया से बढ़कर 96,311 रुपया हो गयी, 39 प्रतिशत की वृद्धि हुयी। इसी बीच जनसंख्या भी 1,31,916 से बढ़कर 2,33,326 हो गयी. इसी आधार पर यह निर्धारण संतोषजनक माना गया. गूंठ, सदाव्रत माफी भूमियों का भी बन्दोबस्त किया गया। कुमाऊँ कंजरवेटर का बैटन–बन्दोबस्त के दौरान भू–राजस्व 1,27,112 रुपया था जो इस बन्दोबस्त में बढ़कर 2,30,628 रुपया हो गया, इसमें 81.43 प्रतिशत की वृद्धि हुयी। 1863 में प्रारम्भ बन्दोबस्ती कार्य 1873 में पूरा हो सका, चूंकि इसमें लम्बित अपीलों के निस्तारण से होने वाले परिवर्तन भी सम्मिलित किये जाने थे। अतः बन्दोबस्ती अभिलेख जनवरी 1874 में ही जाकर पूर्ण किये जा सके. इस बन्दोबस्त में गढ़वाल के 4,392 व कुमाऊँ के 6,333 गांवों की कुल पैमाइश हुयी. बैकेट का बन्दोबस्त गढ़वाल–कुमाऊँ का एक ही बन्दोबस्त अधिकारी द्वारा किया जाने वाला अन्तिम बन्दोबस्त भी था। वनों के संरक्षण के सम्बन्ध में संवेदनशीलता लाने का प्रमुख श्रेय हेनरी रैमजे को ही दिया जाता है, खाम स्टेट के प्रबन्धन के माध्यम से उन्होंने सफल वन प्रबन्धन का उदाहरण प्रस्तुत किया। वन विभाग गठन से पूर्व हेनरी रैमजे को ही कंजरवेटर ऑफ फारेस्ट कुमाऊँ के रूप में तैनात किया गया था। रैमजे ने हिमालयी तराई के जंगलों के विषय में 1861 में एक विस्तृत रिपोर्ट भी तैयार की जिसका तत्कालीन गजेटियरों व एटकिंसन ने भी उपयोग किया है। पहले कंजरवेटर के रूप में रैमजे ने ठेकेदारी प्रथा को बंद किया तथा वृक्ष पातन से पहले

http://uou.ac.in

उसकी मार्किंग की व्यवस्था को भी प्रारम्भ किया। 1868 तक रैमजे ही कुमाऊँ मण्डल के कंजरवेटर भी रहे।

केन्द्रीयकरण एवं एकीकरणः

गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1858 के प्रख्यापन से ब्रिटिश भारत के न्यायिक प्रशासन में मूलभूत परिवर्तन हुए। अगले तीन वर्षों में कोड ऑफ सिविल प्रोसिजर (1859)। पीनल कोड (1860) तथा कोड ऑफ क्रिमिनल प्रोसिजर (1861) लागू हुए। इसी श्रृंखला में अनेकों अखिल भारतीय कानून भी एक के बाद एक लागू किये गये, जैसे लिमिटेशन एक्ट (1867)। स्टाम्प एक्ट (1862), इण्डियन रजिस्ट्रेशन एक्ट (1867), जनरल क्लोजेज एक्ट (1868), कोर्ट फी एक्ट (1870), इण्डियन एविडेंस एक्ट (1872)। इण्डियन कांन्ट्रेक्ट एक्ट (1872), नेगोसिएबल इंस्टूमेन्टस एक्ट (1881)। इण्डियन ट्रस्ट एक्ट (1882) तथा ट्रान्सफर ऑफ प्रोपर्टी एक्ट (1882), ऐसे कुछ कानूनों में थे कहा जा सकता है कि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट 1858 के उपरान्त अखिल भारतीय कानूनों की श्रृंखला ने प्रशासन के केन्द्रीयकरण के साथ भारतीय एकीकरण को भी एक स्वरूप प्रदान किया।

1861 में ब्रिटिश संसद द्वारा इण्डियन हाईकोर्टस एक्ट (1861) पारित किया गया जिसके द्वारा पूर्व में स्थापित सर्वोच्च न्यायालय और सभी सदर अदालतें समाप्त कर दी गयी और उनके स्थान पर प्रत्येक प्रेसीडेन्सी के लिए एक उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। इन उच्च न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में पूरी प्रेसीडेन्सी तथा उसके अधीनस्थ क्षेत्र रखे गये. बंगाल, मद्रास और बम्बई उच्च न्यायालयों (1862) के उपरान्त उत्तर पश्चिमी प्रान्त के लिए 1866 में इलाहाबाद में उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय की स्थापना के साथ ही सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत जो आगरा प्रान्त में पिछले 35 वर्षों से कार्यरत थी, उन्हें समाप्त कर दिया गया। अवध, जो एक गैर–विनियमित क्षेत्र के रूप में चीफ कमिश्नर के अधीन था, उसके लिए भी एक जुडिशियल कमिश्नर नियुक्त किया गया। 1858 से 1871 के बीच जुडिशियल कमिश्नर, अवध को यह भी सुविधा दी गयी कि वह किसी आदेश या निर्णय के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होने पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय को सम्पर्क कर सकता था। 1877 में आगरा और अवध का संविलियन कर इसे एक संयुक्त प्रान्त बनाये जाने पर अवध जुडिशियल कमिश्नर के पद को समाप्त कर दिया गया और अवध को भी इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायिक नियंत्रण में रख दिया गया।

काश्तकारी और राजस्व कानूनों (Tenancy and Revenue laws) को दीवानी अदालतों के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा गया। ब्रिटिश शासन के सीधे अधिकार में आने के बाद बंगाल रेन्ट एक्ट X (1859) जो बंगाल, उत्तर पश्चिमी प्रान्त और केन्द्रीय प्रान्तों में लागू था। उसे दीवानी अदालतों की अधिकार सीमा से बाहर रखा गया और इसके सम्बन्ध मे निर्णय लेने के लिए केवल कलेक्टर को अधिकृत किया गया। एन. डब्लू. पी. रेन्ट एक्ट, 1863 ने रेन्ट एक्ट X (1859) का स्थान ले लिया और उसके उपरान्त रेन्ट एक्ट XVIII (1873) के द्वारा उत्तर पश्चिमी प्रान्तों में राजस्व सम्बन्धी कार्यों के निष्पादन व्यवस्था में भी मूलभूत परिवर्तन लाया गया।

राजस्व वादों को दो भागों में विभक्त किया गया, वाद (Suit) तथा प्रार्थनापत्र (Applications). वादों के निर्णय को दीवानी अदालतों के अधिकार क्षेत्र में रखा गया जबकि प्रार्थनापत्रों का निस्तारण राजस्व न्यायालयों द्वारा किया जाने लगा, जो राजस्व परिषद् (Board of Revenue) नियंत्रणाधीन थे. राजस्व बन्दोबस्त और राजस्व निर्धारण मामलों और अधिकार सम्बन्धी अभिलेखों का कार्य राजस्व न्यायालयों के अधीन रखा गया. एन.डब्लू.पी. (आगरा) टेनेन्सी एक्ट (1901) ने रेन्ट एक्ट XII (1859) का स्थान लिया, और इस एक्ट के माध्यम से राजस्व न्यायालयों को व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। अवध टेनेन्सी एक्ट (1911) का स्थान आगरा टेनेन्सी एक्ट, 1926 ने लिया और उत्तर प्रदेश लैण्ड रेवेन्यू एक्ट, 1901 तथा उत्तर प्रदेश टेनेन्सी एक्ट 1939 के द्वारा इसे पूरे आगरा व अवध क्षेत्र के लिए अधिकृत किया गया। इसमें से पहला अधिनियम अभी भी प्रभाव में है यद्यपि उसमें समय समय पर संशोधन किये गये हैं, जैसे उत्तरप्रदेश जमींदारी विनाश व भूमि सुधार अधिनियम (1950) तथा उत्तरप्रदेश एक्ट 1958 व उत्तरप्रदेश एक्ट 1961 द्वारा।

गैर विनियमित (Non Regulation) क्षेत्रों के कानूनों की समीक्षाः

उत्तराखण्ड के प्रशासनिक इतिहास की प्रमुख विशिष्टता, आज भी, 1815 से ही इस क्षेत्र के मुख्य भाग को तत्कालीन ब्रिटिश भारत में एक गैर–विनियमित क्षेत्र के रूप में शासित किया जाना रहा है। यह एक प्रशासनिक नवाचार था जिसके दूरगामी प्रभाव भी पड़े. इसी नवाचार को पहले पंजाब बाद में अवध में भी प्रयुक्त किया गया। पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण यह प्रयोग कुमाऊँ में अधिक स्थायी प्रभाव छोड़ सका। 1861 के इण्डियन काऊँसिल्स एक्ट के प्रख्यापन तक, अर्थात् 1815 से 1861 तक (46 वर्ष), दो चरणों में पहले (1815–1834) तथा उसके बाद (1835–1861) तक, क्रमशः कुमाऊँ कमिश्नर तथा लेफ्टिनेंट गवर्नर उत्तर–पश्चिमी प्रान्त के द्वारा, जारी किये गये आदेशों या नियमों द्वारा प्रशासित होने तथा 1861 के उपरान्त गवर्नर जनरल इन काउंसिल के द्वारा अनुमोदित अधिनियमों के द्वारा प्रशासित होने से न्यायिक व्यवस्था अलग–अलग रूपों में अस्तित्व में आयी है। जैसा

हम देख चुके हैं 1858 में उत्तर–पश्चिमी प्रान्त में ब्रिटिश कुमाऊँ, झांसी, तराई व देहरादून, जौनसार भाबर जैसे गैरविनियमित क्षेत्रों में स्थानीय आदेश के अलावा कई बंगाल प्रेजीडेंसी में प्रभावी रेगुलेशन वाले क्षेत्र भी सम्मिलित थे।. गैरविनियमित क्षेत्रों में लागू आदेश का प्रभाव रेगुलेशनों की ही भाँति था। विनियमित व गैरविनियमित क्षेत्रों में प्रभावी कानूनों के फलस्वरूप समय समय पर स्थानीय अधिकारियों के लिए प्रभावी कानूनों के सम्बन्ध में दुविधा व संशय की स्थिति उत्पन्न होना अत्यन्त ही स्वाभाविक था. 1833 के उपरान्त विनियमित क्षेत्रों में रेगुलेशन के स्थान पर अधिनियमों के जारी होने से और 1858 के उपरान्त अखिल भारतीय अधिनियमों के साथ–साथ गैर–विनियमित क्षेत्रों के प्रभावी कार्यकारी आदेशों के कारण स्थानीय अधिकारियों की कठिनाई बहुत बढ़ गयी थी; फलस्वरूप, 1869 में उत्तर–पश्चिमी प्रांत सरकार द्वारा पी–व्हेलें को नामित किया गया जिससे वह पूरे क्षेत्र में लागू कानूनों की समीक्षा कर सके। प्रदेश के इतिहास में कानूनों के विनियमन की दिशा में यह पहला प्रयास था, जिससे एक समय में विद्यमान समस्त कानूनों की जानकारी आधिकारिक तौर पर एकत्र की गयी थी। व्हेलें की रिपोर्ट के 1870 में प्रकाशन से ऐसे समस्त रेगुलेशन्स और अधिनियमों का क्षेत्रकर विवरण प्राप्त हुआ जिससे किसी भी अधिनियमों के क्षेत्र के लिए लागू करने या प्रभावी न होने के विषय में स्थिति स्पष्ट की गयी है। इस प्रतिवेदन से जहॉ एक ओर विभिन्न अधिनियमों और रेगुलेशन्स के प्रभावी होने की स्थिति स्पष्ट हुयी वहीं दूसरी ओर ऐसे अधिनियमों व रेगुलेशन्स की जानकारी भी प्राप्त हुई जिन्हें संबंधित विभाग द्वारा निरस्त किया जाना था। पी. व्हेलें के द्वारा उत्तरी पश्चिमी प्रांत के ब्रिटिश कुमाऊँक्षेत्र तथा जी.आर.पी. विलियम्स के द्वारा दी गयी रिपोर्टों के आधार पर, नयी प्रशासन–व्यवस्था के प्रारम्भ से ही दिये गये लचीलेपन को यथा–स्थिति बनाये रखने के साथ–साथ उसे गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1858 के क्रम में विधान–सम्मत बनाये रखने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा अधिसूचित जिला अधिनियम, 1874 पारित किया गया। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी थी कि स्थानीय प्रशासन, गवर्नर जनरल–इन–कांउसिल के अनुमोदन से ऐसे विशिष्ट क्षेत्रों के लिए गजट अधिसूचना के द्वारा ऐसे क्षेत्रों में कौन से प्रशासनिक कानून प्रभावी हैं, उन्हें प्रख्यापित किया जा सकता था। इस अधिनियम के अतंर्गत किये गये गजट प्रकाशन से न्यायालयों द्वारा संबंधित कानून के आधार पर मामलों का निस्तारण किया जा सकता था (धारा 3 व धारा 4), अधिनियम की धारा 5 के अन्तर्गत स्थानीय प्रशासन ऐसे क्षेत्रों के राजस्व, दीवानी और फौजदारी मामलों के निष्पादन के लिए अधिकारियों की तैनाती और निस्तारण प्रक्रिया को निर्धारित करने के लिए अधिकृत कर सकता था। दुर्गम, पिछड़े व कठिन क्षेत्रों के लिए यह एक सरल व व्यावहारिक व्यवस्था थी।

http://uou.ac.in

अधिसूचित जिला अधिनियम, 1874 की प्रथम अनुसूची में प्रदेश के गैर–विनियमित क्षेत्रों को रखा गया। इन क्षेत्रों के लिये जो विभिन्न अधिसूचनाएं और नियम जारी किये गये वे इस अधिनियम की धारा 3 व 4 के अन्तर्गत प्रख्यापित किये गये। उत्तर प्रदेश के अधिसूचित क्षेत्रों में झांसी मण्डल, कुमाऊँ गढ़वाल, तराई के परगने, मिर्जापुर जनपद का कुछ क्षेत्र, जौनसार भाबर प्रथम अनुसूची में सम्मिलित थे।

प्रथम अनुसूची में सम्मिलित क्षेत्रों के लिए विभिन्न विषयों पर कई आदेश, अधिसूचनाएं और नियम जारी किये गये। कुमाऊँ एवं गढ़वाल के लिए जारी किये गये नियमों को लम्बे समय तक कुमाऊँ नियम (कुमाऊँ रूल्स) के नाम से जाना जाता रहा। अधिसूचित जिला अधिनियम के अन्तर्गत इन क्षेत्रों की न्यायिक व्यवस्था गर्वमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1935 के प्रख्यापन तक यथावत बनी रही. उदाहरण के लिए 1931 में कुमाऊँ के वन पंचायतों के लिए बनाये गये नियम इसी अधिसूचित जिला अधिनियम 1874 की धारा 6 के अन्तर्गत ही बनाये गये थे। कुछ अन्य महत्तवपूर्ण नियम जो इसी अधिनियम में दी गयी शक्तियों के अन्दर प्रख्यापित किये गये वह निम्न हैं:

(i) रेन्ट व टिनेन्सी के मामलों के लिए कुमाऊँ न्यायालयों के लिए बनाये गये नियम (जनवरी 19, 1918)

(ii) नयाबाद व वेस्टलैण्ड रूल्स (अगस्त 01, 1934)

(iii) सिंचाई गूलों और घराटों के मामलों के नियम (अक्टूबर 28, 1930)

(iv) राजस्व पटवारियों की पुलिस शक्तियों के नियम (मार्च 07, 1916)

1925 में, अर्थात् अधिभूमित जिला अधिनियम, 1874 के अन्तर्गत लगभग 50 वर्षों तक शासित रहने के अनुभव के उपरांत, यह पाया गया कि कुमाऊँ के निवासी इस बात से असंतुष्ट हैं कि वे ऐसे कानूनों से नियंत्रित व शासित हो रहे हैं जो निर्वाचित विधायिका द्वारा पारित न हो कर इस अधिनियम के अन्तर्गत पारित गजट नोटिफिकेशन के माध्यम से लागू किये जाते हैं। यहॉ के लोगों द्वारा कई प्रतिवेदन सरकार को दिये गये कि इस क्षेत्र को इस विशेष प्राविधान से अलग हटा लिया जाये। इससे पूर्व भी कई कोशिशें की गई कि इस क्षेत्र को भी शेष संयुक्त प्रांत के अनुरूप ही शासित किया जाए, किन्तु सफलता न प्राप्त हुयी।

युनाइटेड प्रांविसेज विधान परिषद के एक संकल्प के आधार पर 1925 में एक कमेटी का गठन दिसम्बर 24, 1937 को तत्कालीन न्यायमंत्री की अध्यक्षता व 10 अन्य सदस्यों के साथ किया गया जिसके द्वारा अधिसूचित जिला अधिनियम,

1874 से कुमाऊँ को बाहर लाने के सम्बन्ध में संस्तुतियां की जानी थी। 1927 की ग्रीष्म ऋतु में इस समिति ने अपना कार्य प्रारम्भ किया और इस समिति ने सुझाव दिया कि उपरोक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिये केवल दो विधेयक लाये जाने ही पर्याप्त होंगे; पहला एक छोटा विधेयक, जिसमें कुमाऊँ को उक्त अधिनियम से हटाया जायेगा और यह घोषणा की जायेगी कि कुछ अधिनियमों के अपवादों को छोड़ते हुए वे सभी अधिनियम जो पड़ोसी रूहेलखण्ड मण्डल में प्रभावी हैं वह कुमाऊँ मण्डल में भी प्रभावी होंगे, तथा दूसरा, एक विधेयक लाया जायेगा जिसमें यह अधिकार दिया जायेगा कि ऐसा करने से जो कठिनाईयॉ नये अधिनियम में अनुभव की जायेंगी उन्हें दूर किया जा सकेगा।

संवैधानिक आयोग (साइमन कमिशन) के आगमन व अन्य कारणों से हुए विलम्ब के उपरान्त कुमाऊँ लॉ कमेटी ने निम्न तीन विधेयकों के प्रारूप तैयार कियेः

1. द शिड्यूल्ड डिस्ट्रिक्टस् (कुमाऊॅ) रिमूवल बिल, 1932.

2. द कुमाऊँ रेवेन्यू पुलिस बिल, 1932.

3. द बंगाल, आगरा एण्ड असम सिविल कोर्टस (कुमाऊँ एमेण्डमेंट), बिल, 1932

4. द यूनाइटेड प्रोविसेन्ज लेण्ड रेवेन्यू (कुमाऊँ एमेन्डमेन्ट) बिल, 1932, तथा

5. कुमाऊँ टिनेन्सी (जूरिस्डिक्शन एण्ड प्रोसिजर) बिल, 1931.

बंगाल, आगरा एण्ड असम सिविल कोर्टस एक्ट के संशोधन से सम्बन्धित बिल को छोड़कर शेष चार बिलों पर सलेक्ट कमेटी ने भी विचार किया किन्तु 1935 के बाद इस पर कोई अग्रेतर कार्यवाही नहीं हुयी।

गर्वमेन्ट ऑफ इण्डिया (एडेप्टशन ऑफ इण्डियन लॉज) आर्डर, 1937 के प्रख्यापन के बाद शिड्यूल्ड डिस्ट्रिक्टस एक्ट, 1874 का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। यद्यपि ऐसा हो जाने से भी 1935 के इस अधिनियम के भाग 3 के प्रभावी होने से पूर्व, जो कुछ भी नियुक्तियॉ, रेगूलेशन्स, नोटीफिकेशन के प्रभाव से क्रियान्वित की गयी थी उन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ने वाला था।

गवर्मेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट 1935 की धाराओं 91 व 92 में यघपि यह प्राविधान था कि किसी भी पिछड़े क्षेत्र को आंशिक या पूर्ण रूप से उस प्रान्त के शेष भाग पर लागू कानूनों से मुक्त किया जा सकता है, किन्तु जो आदेश इस सम्बन्ध में अन्ततः सरकार द्वारा धारा 91 के प्राविधानों के अन्तर्गत निर्गत किया गया उसमें कुमाऊँ सम्मिलित नहीं था। इसका अर्थ केवल यहीं निकला कि इसके पश्चात् कुमाऊँमें पूर्व की भॉति किसी भी कानून को न तो नोटिफिकेशन के द्वारा

http://uou.ac.in

प्रभावी बनाया जा सकता था और न ही विद्यमान कानूनों में कोई संशोधन या परिवर्तन ही सरकार द्वारा किया जा सकेगा। 1937 के उक्त आदेश के प्रख्यापन से शिड्यूल्ड डिस्ट्रिक्टस एक्ट, 1874 के इस बीच की अवधि में क्रियान्वयन से कुमाऊँ व अन्य प्रभावित क्षेत्रों में किस प्रकार की कानूनी स्थिति विद्यमान थी, जिसका कुमाऊँ लॉ कमेटी ने भी गहरा अध्ययन किया था, पर अग्रेतर कोई अध्ययन या विश्लेषण स्वतन्त्र भारत में गंभीर रूप से नहीं हुआ है।

कुमाऊँ 1815 से ही गैर–विनियमन (नॉन रेगुलेशन) क्षेत्र की भांति शासित किया गया था। बाद में पंजाब 1853 में तथा अवध 1856 से चीफ कमिश्नरों के अधीन क्रमशः दूसरे व तीसरे गैर–विनियमित क्षेत्र बने। जिन प्रान्तों को किसी गवर्नर या लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन रखा गया और जहां एक्ट के द्वारा अधिकृत रेगुलेशन के द्वारा प्रख्यापित होते थे, उन्हें रेगुलेशन प्रान्त कहा जाता था. अन्य प्रांत जो मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) के आधीन रखे जाते थे और जहां यह रेगुलेशन लागू नहीं होते थे उन्हें गैर–विनियमित क्षेत्र कहा जाता था। ऐसे क्षेत्रों का प्रशासन गवर्नर जनरल या प्रांतीय गवर्नर के द्वारा जारी किये गये कार्य–कारी आदेशों के माध्यम से किया जाता था। गैर–विनियमित प्रान्तों के जिला प्रमुखों को डिप्टी कमिश्नर कहा जाता था। गैर–विनियमित प्रान्तों में गवर्नर जनरल या गवर्नर द्वारा निर्गत कार्यकारी आदेश के माध्यम से प्रशासन करने की व्यवस्था को भी ब्रिटिश संसद द्वारा अनुमोदित किया गया था।

जनोन्मुखी, जनतांत्रिक व संवैधानिक व्यवस्था की ओरः

गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1858 के प्रख्यापन से भारत एक उपनिवेश बन गया, इसमें इसके प्रशासन के लिए सभी शक्तियों का प्रयोग सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया अधिकृत हुए, उन्हें परामर्श देने के लिए एक काउंसिल (परिषद) का भी गठन हुआ। इस परिषद के सभी सदस्य अंग्रेज ही थे, कुछ राजा द्वारा नामित, कुछ कम्पनी के द्वारा, सेक्रेटरी ऑफ स्टेट, जो ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था, भारत में गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारी परिषद के द्वारा शासन चलाता था। एक केन्द्रीयित प्रशासन की यह चरम सीमा ही थी, पूर्णतः केन्द्र द्वारा नियंत्रित।

इण्डियन काउंसिल्स एक्ट, 1861, जैसा हम देख चुके है, में पहली बार जन–तांत्रिक पद्धति का प्रवेश हुआ। गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद में अब कुछ गैर–सरकारी सदस्यों को नामित किया गया, जो कानून निर्माण के मामलों में अपना योगदान देते थे। किन्तु ये गैर–सरकारी व्यक्ति निर्वाचित न होकर नामित होते थे, तथा यह केवल कार्यकारी परिषद के न्यायिक कार्यों तक सीमित थे। न तो यह निर्वाचित थी न ही इसे परामर्श देने की शक्ति थी। प्रान्तों में भी गवर्नरों की कार्यकारी परिषद, इसी कार्य–प्रणाली से कार्य निष्पादित करती थी।. प्रान्तीय

परिषदों को तो कुछ मामलों में कानून बनाने की कार्यवाही शुरू करने के पूर्व ही गवर्नर जनरल की अनुमति लेनी अनिवार्य थी।

इण्डियन काउंसिल्स एक्ट, 1892 से जहाँ सरकारी कर्मचारियों की काउंसिल समस्या कमोवेश पूर्व की भांति रही, इण्डियन लेजिस्लेटिव काउंसिल के गैर–सरकारी सदस्यों के नामांकन की शक्ति बंगाल चैम्बर ऑफ कामर्स और प्रान्तीय लेजिस्लेटिव काउंसिल के गैर–सरकारी सदस्यों के नामांकन का अधिकार कुछ स्थानीय निकायों और संस्थाओं जैसे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, विश्व विद्यालयों, नगर पालिकाओं को दे दिया गया. प्रमुख परिवर्तन यह लाया गया कि इन परिषदों को सरकार के वार्षिक आय–व्यय के विवरणों, बजट पर चर्चा का अधिकार कार्यकारिणी से प्रश्न पूछने का भी अधिकार दे दिया गया।

इण्डियन काउंसिल्स एक्ट, 1909 के द्वारा परिषदों में पहली बार जन–प्रतिनिधित्व व लोकप्रिय प्रतिनिधित्व के प्रवेश का प्रयास मोर्ले–मोण्टों सुधारों के नाम से प्रारम्भ किया गया। प्रान्तों में किये गये परिवर्तन केन्द्र की तुलना में ज्यादा व्यापक थे। सरकारी एकाधिकार को समाप्त करते हुए बड़ी हुई परिषद–संख्या में निर्वाचित गैर–सरकारी प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया। केन्द्र में भी निर्वाचन की व्यवस्था की गयी किन्तु सरकारी एकाधिकार यथावत् रहा। चर्चा करने के अधिकार से परिषदों की परामर्शी भूमिका बढ़ी जिससे नीति–गत प्रभाव भी प्रशासन पर पड़ना स्वाभाविक था। बजट पर बहस के समय संकल्प पारित करने की व्यवस्था से, कुछ विशेष विषयों को छोड़कर, सार्वजनिक महत्व के मामलों में परिषदों का प्रभाव स्पष्ट था। 1909 के वैधानिक सुधारों में चुनावी तत्व के प्रवेश का एक दूरगामी प्रभाव मुस्लिम समुदाय को अलग प्रतिनिधित्व प्रदान करने से भी प्रारम्भ हुआ। इससे अवश्य ही अलगाववाद की नींव पड़ी जो अन्ततः देश के विभाजन के रूप में चार दशकों बाद सामने आयी।

संवैधानिक सुधारों की श्रृंखला में गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1919, जो मोंटेगू–चेम्सफोर्ड की रिपोर्ट से अस्तित्व में आया, महत्वपूर्ण कहा जा सकता है, यद्यपि यह राष्ट्रभक्तों की संसदीय प्रणाली की शासन व्यवस्था की स्थापना की अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं रही क्योंकि इसमें अन्तिम निर्णय कार्यकारिणी के ही पास बनाये रखा था। सभी प्रशासनिक विषयों को क्रमशः केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों के रूप में विभक्त किया गया था। प्रान्तीय विषयों को भी "स्थानान्तरित" तथा "आरक्षित" वर्गों में बॉटा गया। स्थानान्तरित विषयों में गवर्नर अपने मंत्रि–मण्डल के मंत्रियों की सहायता से शासन चलाते थे, मंत्रि–मण्डल परिषद के प्रति उत्तरदायी था; परिषद में निर्वाचित सदस्यता 70 प्रतिशत तक बढ़ा दी गयी "आरक्षित" विषयों का नियंत्रण गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी के पास था जो किसी के भी प्रति

उत्तरदायी नहीं थी। इस दोहरी प्रशासन व्यवस्था में "स्थानान्तरित" विषयों के माध्यम से "उत्तरदायी–प्रशासन" की एक शुरूआत हुयी कही जा सकती है।

प्रथम विश्व–युद्ध के दौरान भारतीय नेशनल कांग्रेस राजनैतिक रूप से सक्रिय हो गयी थी और उसने "होमरूल" आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। 1919 के संवैधानिक सुधारों में गवर्नर जनरल ही सर्वशक्तिमान था, कोई विषय केन्द्रीय हो या प्रान्तीय, इसे गवर्नर जनरल तय करता था न कि न्यायालय। दोहरे–शासन के प्रति मुख्य असंतोष प्रान्तों में था जहां गवर्नर अपने वित्तीय अधिकारों और परिषदों में सरकारी बहुमत से इच्छानुसार शासन कर सकते थे। मंत्रियों की संयुक्त जिम्मेदारी परिषदों की ओर न होने, मंत्रियों की अलग–अलग नियुक्ति होने और मात्र गवर्नर को परामर्श देने तक की भूमिका का निर्वाह करने के कारण, यह सुधार प्रभावकारी न हो सका।

इस व्यवस्था के प्रति असंतोष के कारण और असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भ होने से 1927 में ब्रिटिश संसद द्वारा साइमन कमीशन की घोषणा की गई। साइमन कमीशन को 1919 के एक्ट के क्रियान्वयन का परीक्षण करना था तथा 1929 में भारत को एक डोमीनियन का दर्जा दिलाना था। 1930 में इस कमीशन के द्वारा दी गयी रिपोर्ट पर ब्रिटिश सरकार, ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के बीच गोलमेज सभा आयोजित की गयी। गोलमेज सभा के परिणामस्वरूप जो एक श्वेत पत्र तैयार किया गया उस पर ब्रिटिश संसद की ज्वायंट सलेक्ट कमेटी द्वारा अगला गवर्मेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट का बिल तैयार किया गया, जो अन्ततः गवर्मेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1935 के रूप में पारित हुआ।

1919 से 1935 के संवैधानिक सुधारों के दौर के मध्य कुमाऊँ में, जैसा हम देख चुके हैं. शिड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट्स एक्ट, 1874 के स्थान पर प्रांतीय विधायिका से पारित अधिनियमों को लागू करने के लिए कमेटी का गठन किया गया तथा विकल्प के रूप में विभिन्न विषयों पर विधेयक भी तैयार किये गये। ये सभी विधेयक 1932 में पारित किये जाने प्रस्तावित थे।

कुमाऊँ में केवल शिड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट्स एक्ट की कानूनी–प्रणाली के प्रति ही असंतोष नहीं था बल्कि 1911 में जो एक बड़े वन–क्षेत्र को आरक्षित–वन घोषित किया गया था, उसके प्रति स्थानीय जनता में कहीं अधिक आक्रोश था। प्रान्तीय परिषदों और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड्स में निर्वाचित प्रतिनिधि पहुंच चुके थे। पर्वतीय क्षेत्र की सामान्य जनता वनों से अपने आर्थिक और दैनिक कार्य कलापों में गहराई से जुड़ी हुयी थी। आरक्षित वन–क्षेत्र की घोषणा से स्थानीय जनाक्रोश इतना बढ़ा कि सैकड़ों हेक्टेयर वन–क्षेत्र में आग लगा दी गयी। जनाक्रोश को शांत करने के लिए प्रांतीय सरकार द्वारा कमिश्नर विन्ढैम की अध्यक्षता में फोरेस्ट ग्रीवांसेज कमेटी का

गठन किया गया जिसका सदस्य सचिव संरक्षक–वन मेरियट था. इस कमेटी में गोविन्द बल्लभ पंत व अन्य जानकार जन–प्रतिनिधियों को सदस्य न बनाने से स्थानीय कांग्रेस पार्टी द्वारा अपनी फोरेस्ट ग्रीवांसेज कमेटी, गोविन्द बल्लभ पंत की अध्यक्षता में गठित विन्ढैम कमेटी की रिपोर्ट में जन–भावनाओं के अनुरूप हाल ही में आरक्षित वन–क्षेत्र की सीमा को वापिस लिया गया तथा जो वन जनता की दैनिक–आवश्यकताओं की दृष्टि से महत्वपूर्ण थी। उन्हें वन–पंचायतों के रूप में, जनता के प्रबंधन में गठित करने की महत्वपूर्ण संस्तुति की गई। विन्ढैम कमेटी रिपोर्ट को राज्य सरकार ने यथावत स्वीकार कर लिया. यह पराधीन भारत पहला जनोन्मुखी निर्णय था. वन–पंचायतों के गठन से जंगल जैसे महत्वपूर्ण नैसर्गिक–संसाधनों के उपयोग के लिए जन–केन्द्रित प्रबंधन का श्री गणेश कुमाऊँ प्रान्त से प्रारम्भ हुआ। वन पंचायतों की पहली नियमावली शिड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट्स एक्ट, 1874 की धारा 6 के अन्दर ही निर्गत किये गये। कुमाऊँ जैसे वन–प्रधान पर्वतीय क्षेत्र में जो स्थानीय जनता के प्रबन्धन की व्यवस्था को वैधानिक स्वरूप दिया गया वह स्वतन्त्र भारत में दशाब्दियों बाद 1990 में प्रारम्भ किया जा सका. 1930 से प्रारम्भ वन–पंचायतों का गठन प्रशासनिक इतिहास की निःसंदेह एक महत्वपूर्ण घटना है जिसका कालांतर में व्यापक प्रभाव पड़ा।

1935 के गवर्मेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1935 में किस प्रकार शिड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट्स एक्ट, 1874 की विशिष्टता को स्थान प्राप्त नहीं हो सका, इसका हम परीक्षण कर चुके हैं: 1935 के अधिनियम के उपरान्त इंडियन इंडिपेंडेस एक्ट, 1947 पारित हुआ। जिसमें ब्रिटिश भारत का भारत व पाकिस्तान में विभाजन हुआ। दोनों भागों को डोमिनियन कहा गया और दोनों को अपने–अपने संविधान बनाने के लिये संविधान सभायें बनाने का असीमित अधिकार भी दिया गया।

टिहरी गढ़वाल रियासत का संविलियनः

गवर्नमेंट इण्डिया एक्ट, 1935 के माध्यम से जो संवैधानिक सुधार लाये गये उसमें 'इण्डिया' को दो भागों में प्रशासनिक रूप से विभक्त किया गया, एक, ब्रिटिश इण्डिया तथा दूसरा, भारतीय राज्य। 'ब्रिटिश इण्डिया' में नौ गवर्नर–प्रशासित प्रांत थे और कुछ ऐसे क्षेत्र जहॉ भारत सरकार सीधे प्रशासन चलाती थी। भारतीय राज्यों की संख्या लगभग 600 थी, जिनके आकार व प्रकार में काफी भिन्नता थी। इन राज्यों में कई राज्य वंशानुगत मुखियों के आधीन थे, जैसे टिहरी गढ़वाल रियासत, जिनका मुस्लिम आक्रमण से भी पहले अपना अस्तित्व था, शेष ऐसी जागीरें थी जिन्हें मुस्लिम शासकों ने किसी विशिष्ट सेना या अन्य कारणों से इनके वर्तमान प्रमुखों को या उनके परिवार को दिया था। इस प्रकार 'ब्रिटिश इण्डिया' का प्रशासन वस्तुतः दो प्रकार का था, ब्रिटिश प्रांत जो ब्रिटिश पार्लियामेंट के द्वारा पारित कानूनों से शासित थे, तथा देसी रियासतें जिन्हें उनके प्रमुखों या राजाओं के

व्यक्तिगत प्रशासन में, ब्रिटिश राजशाही की सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अन्दर, विद्यमान रखा गया था। इन छः सौ देसी रियासतों को अधिग्रहित नहीं किया गया था।

सर स्टेफोर्ड क्रिप्स की अध्यक्षता में जो कैबिनेट मिशन भारत आया वह केवल ब्रिटिश इण्डिया का राजनैतिक भविष्य तय करने आया था और जहॉ तक देसी रियासतों का प्रश्न था वह जैसा चाहे निर्णय लेने को स्वतंत्र थे। क्रिप्स मिशन की संस्तुति एक भारतीय संघ (Union of India½ को गठित करने की थी जिसमें ब्रिटिश इण्डिया तथा देसी रियासतों का संघ बनता, जो इन रियासतों के केवल विदेशी मामलों, संचार तथा सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होता। इण्डियन इंडिपेंडेंस एक्ट, 1947, के अस्तित्व में आते ही ब्रिटिश राजशाही की "प्रभुता'' व ''आधिराज्य'' की स्थिति का अंत हुआ और देसी रियासतें अपने पूर्व की स्थिति में आ गयी। लेकिन अधिकांश देसी राज्यों/रियासतों को यह स्पष्ट था कि वह चाहते हुए भी अपनी तथा–कथित स्वतंत्रता को लम्बे समय तक न तो बनाये रखने की स्थिति में थे और न ही शेष भारत से अपने को अलग रख सकते थे। अब यह इन देसी रियासतों के अपने ही हित में था कि वह इन प्रस्तावित दो डोमिनियनों, अर्थात भारत या पाकिस्तान, में से किसी एक के साथ संविलयित हो जायें।

भारतीय डोमिनियन की भौगोलिक सीमा के अन्दर स्थित 552 देसी रियासतों में से हैदराबाद, कश्मीर, बहावलपुर, जूनागढ़, चित्राल, खैरपुर, स्वात और अम्ब को छोड़ कर सभी 15 अगस्त, 1947 से पूर्व उसमें संविलयन को सहमत हो गयी। इस प्रकार टिहरी–गढ़वाल रियासत भी उन 552 देसी रियासतों में से एक थी जिसमें 15 अगस्त, 1947 से पूर्व भारतीय डोमिनियन में सम्मिलित होने के लिए अपनी सहमति दे दी थी।

संविलयन के पश्चात् भारत सरकार के समक्ष केवल दो समस्याएं उपस्थित हुयी, प्रथम, इन देसी रियासतों को पर्याप्त आकार के तथा स्वावलम्बी प्रशासनिक इकाइयों के रूप में आकार देना, तथा दूसरा, इनके प्रशासन को भारतीय संवैधानिक संरचना के अंतर्गत व्यवस्थित करना। पहली कठिनाई का समाधान एक त्रि–सूत्रीय व्यवस्था से सम्भव हुआ। पहला, 216 रियासतों को उन प्रांतों से मिला दिया गया जिसके वे भौगोलिक रूप से निकटस्थ थे, जैसे टिहरी–गढ़वाल को तत्कालीन यूनाइटेड प्राविंसेस में; दूसरे, 61 रियासतों को, जिनमें सामरिक, प्रशासनिक या अन्य कारणों से सीधे केन्द्र–शासित रखना आवश्यक था, उन्हें केन्द्र–शासित क्षेत्र के रूप में रखा गया, तथा तीसरे, संविलयन से पूर्व कई देसी रियासतों को रियासतों के संघ के रूप में परिवर्तित कर उन्हें रियासतों का संघ बनाया गया। इस प्रणाली में 25 देसी रियासतों के पांच संघ बनाये गये–मध्य भारत, पटियाला और पूर्वी पंजाब के राज्यों का संघ, राजस्थान, सौराष्ट्र तथा ट्रेवन कोर–कोचीन. जब संविधान की संरचना हुई तो इन संघों के रूप में परिवर्तित व पुनर्गठित रियासतों को विशिष्ट

श्रेणी के 'राज्यों' का दर्जा दे दिया गया। जैसे पहले अनुलग्नक (शिड्यूल) के खंड (पार्ट) बी के राज्य इस प्रकार से इन सभी को एक संघीय (फेडरल) ढांचे के अंदर एवं अन्य "प्रांतों'' के ही समकक्ष लाया जा सका. इस प्रकार से नये भारतीय संविधान में दो प्रकार के प्रांत हो गये, वे जो पहले से ही गवर्नरों के अधीन 9 प्रांत थे तथा वे देसी रियासतें जिन्हें प्रांतों के समकक्ष प्रशासनिक रूप से पुनर्गठित किया गया था। इण्डियन इण्डिपेंडेस एक्ट, 1947 के अनुक्रम में टिहरी–गढ़वाल रियासत को 'यूनाइटेड प्रांविसेंज' में भौतिक रूप से संविलियत कर लिया गया। अब मुख्य शेष कार्यवाही वहॉ राजशाही के स्थान पर एक संविधान सभा को गठित करने और तत्पश्चात् उसका संविलयन 'यूनाइटेड प्रोंविसेज' से जो राज्य संविधान में उत्तर प्रदेश के रूप में प्रस्तावित था, से करने का प्रस्ताव पारित कराने से संबंधित था।

ज्योति प्रसाद, जिन्हें टिहरी–गढ़वाल राज्य का प्रशासक बनाकर 28 जनवरी 1948 को टिहरी भेजा गया, जब टिहरी पहुॅचे तो उन्होंने पाया कि टिहरी–राज्य का प्रशासन पूर्णतयः ध्वस्त हो चुका था, चारों ओर अराजकता फैली हुई थी। ज्योति प्रसाद के कार्यभार ग्रहण करते समय जो अराजकता की स्थिति इस राज्य में व्याप्त थी उस पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाना आवश्यक है।

टिहरी–गढ़वाल राज्य में राजनैतिक असंतोष 1930 से ही प्रारम्भ हो चुका था जब यमुना फोरेस्ट डिविजन का वर्किंग प्लान फोरेस्ट डिविजन ऑफिसर पी.डी. रतूड़ी द्वारा अंतिम रूप दिया जा रहा था। राजनैतिक असंतोष का मुख्य कारण वास्तव में दीवान चक्रधर जुयाल और उनके पूर्ववर्ती दीवान भवानी दत्त के बीच आपसी स्पर्धा और विचार था। खाई जौनपुर के लोगों के द्वारा चरान–चुगान के अधिकारों के सम्बन्ध में जो बैठकों और धरने–प्रदर्शनों का दौर चला उसमें राजशाही सेना और तिलवाड़ी गांव के बीच हुई मुठभेड़ में कुछ लोग हताहत हो गये. तिलवाड़ी–कांड ने एक राजनैतिक स्वरूप ले लिया "रवांई ढ़ंढ़क" नाम से मशहूर इस आंदोलन की परिणति श्री देव सुमन और उनके साथियों द्वारा राज्य से बाहर चलाये जा रहे आंदोलन के रूप में बनी रही। अंततः सुमन भी गिरफ्तार होकर टिहरी जेल गये जहॉ लम्बे आमरण अनशन के बाद उनकी मृत्यु हो गयी। आम–धारणा यह है कि उन्हें जेल में यातनायें दी गयी और यह सत्य है कि उनका मृत शरीर उनके मित्रों और परिवारजनों को हस्तगत नहीं कराया गया। देहरादून व मंसूरी में टिहरी के राजनैतिक कर्ताओं को टिहरी दरबार के इशारे पर आगरा जेल में रखा गया और वे वहॉ 1944 से 1945 तक निरुद्ध रहे।

दौलत राम के नेतृत्व में नजराना को सकलाना के बंदोवस्त से हटाने व अन्य व मुद्दों पर आंदोलनकारियों द्वारा राज्य में प्रजामण्डल की स्थापना की मांग रखी गई। अंततः संघर्ष में दौलत राम सहित कई कार्यकर्ताओ को न्यायालय द्वारा दण्डित किया गया। लम्बे संघर्ष के बाद प्रजामण्डल स्थापित हुआ। फरवरी 1947

में प्रजामण्डल द्वारा राजा की अध्यक्षता में उत्तरदायी सरकार की मांग की गयी, जिसे स्वीकार नहीं किया गया, और यह आंदोलन 15 अगस्त, 1947 से और जोर पकड़ता गया। सकलाना आंदोलन में करों की अदायगी न करने की घोषणा होने पर रियासत की सेना ने आंदोलन को सामूहिक–दण्ड लगाने और आंदोलन को असफल बनाने की हर–सम्भव कोशिश की।

असंतोष बढ़ते–बढ़ते परगना मजिस्ट्रेट कीर्तिनगर व पुलिस कर्मचारियों की आंदोलन कार्यों द्वारा गिरफ्तारी और उनको टिहरी में बंधक के रूप में भेजने तक पहुंच गया। देव–प्रयाग, टिहरी व अनेक स्थानों पर राजकीय सम्पत्ति लूटी गयी, कीर्तिनगर और देवप्रयाग में सेना ने कीर्तिनगर की जनता के समक्ष आत्म–समर्पण कर दिया। नागेन्द्र दत्त सकलानी और मोलू सिंह की गोलीबारी में मृत्यु हो गयी, मजिस्ट्रेट डिप्टी सुपरिंन्टेडेंट और राज्य सेना के कमांडेंट को गिरफ्तार कर दौलत राम के नेतृत्व में आंदोलनकारी लगभग 15 से 20,000 की संख्या में टिहरी पहुॅचे. यह जनवरी 1948 की घटना है। राजा के आदेश पर आत्म समर्पण कर चुकी सेना ने कोई कार्यवाही नहीं की. राजकोषागार और सभी सरकारी कार्यालयों पर जनता ने कब्जा कर लिया था. यह टिहरी राजशाही का दुखद अंत था।

टिहरी में दौलतराम की अध्यक्षता में अंतरिम सरकार की स्थापना की गयी. 14 जनवरी, 1948 को महाराजा और उनके माता–पिता को टिहरी नगर में प्रवेश करने से मना कर दिया गया, जब वे वहॉ समझाने–बुझाने के लिए पहुंचे। इन परिस्थितियों में भारत सरकार के द्वारा हस्तक्षेप किया गया और उत्तर प्रदेश सरकार को निर्देश दिये गये कि वह प्रशासन को अपने नियंत्रण में ले लें।

29 जनवरी, 1948 को टिहरी गढ़वाल प्रजामण्डल और राजा के मध्य मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स की मध्यस्थता से एक चार मंत्रियों का अंतरिम मंत्री–मण्डल मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स के द्वारा नामित मुख्यमंत्री और एक संविधान सभा निर्वाचन की सहमति हुयी जिसके द्वारा राज्य संविधान बनाया जाना था। इस अंतरिम मंत्रि–परिषद ने 15 फरवरी, 1948 को शपथ ली और ज्योति प्रसाद मुख्यमंत्री नियुक्त हुए।

अगस्त–सितम्बर में संविधान सभा के चुनाव हुए, दिसम्बर में विधान–सभा का उद्घाटन हुआ। 18 मई, 1949 को महाराजा ने संविलयन के पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसके आधार पर 1 अगस्त, 1949 को टिहरी–गढ़वाल रियासत का संविलयन उत्तर प्रदेश राज्य के साथ हो गया।

राज्य की संविधान सभा ने 49 बैठकें कीं इसमें प्रजामण्डल के 24, लोक परिषद के 6 तथा एक स्वतंत्र सदस्य थे. संविधान सभा ने 11 विधेयकों पर विचार

कर अधिनियम पारित किये. पुरषोत्तम दत्त रतूड़ी इसके अध्यक्ष और शंकर दत्त डोभाल उपाध्यक्ष तथा खेमराज बहुगुणा नेता विरोध दल थे।

http://uou.ac.in

संदर्भ–साहित्य और पठनीय सामग्री

I द इम्पीरियल गजेटिर ऑफ इण्डिया; द इण्डियन एम्पायर, नये संस्करण, आक्सफोर्ड, एट द क्लेरेण्डन प्रेस (1908). उत्तराखण्ड और उत्तर प्रदेश के प्रशासनिक इतिहास के अध्ययन के दृष्टिकोण से अधिकृत अभिलेखों में वर्ष 1881 में प्रकाशित द इम्पीरियल गजेटिर ऑफ इण्डिया को ही सर्वोत्तम प्रकाशन माना जा सकता है। मूल प्रकाशन 9 खण्डों में था, जो द्वितीय संस्करण में 14 खण्डों में विस्तार के साथ 1885–87 में प्रकाशित हुआ. वर्ष 1883 में एक स्वतंत्र पुस्तक द इण्डियन एम्पायर; इट्स प्यूजिल्स, हिस्ट्री, एण्ड प्रोडक्ट्स के शीर्षक से प्रकाशित हुई। इन तीनों प्रकाशनों का सम्पादन सर विलियम विल्सन हण्टर द्वारा किया गया। सर हण्टर ने ही इस प्रकाशन की मूल अवधारणा को 1869 में अंतिम किया था और द इण्डियन एम्पायर का सम्पूर्ण लेखन स्वयं उनके द्वारा अपने हाथ से लिखा गया। सर हण्टर के 1900 में निकाले गये प्रकाशन को उनके विषद अनुभव का लाभ न मिल सका 1909 में प्रकाशित द इम्पीरियल गजेटियर का भारतीय सम्पादन पर्यवेक्षण सर हरवर्ट रिसले, जनगणना आयुक्त, डब्लू. एस. मेयर और आर. वर्न के द्वारा किया गया था. इंग्लैण्ड में सम्पादकीय उत्तरदायित्व का वहन जेन्स कॉटन के द्वारा किया गया जो सर हण्टर के निकट सानिध्य में पूर्व संस्करणों में कार्य कर चुके थे. 1909 के प्रकाशन में कुल सामग्री 26 खण्डों में व्यवस्थित है जिसके साथ एक सहायक एटलस भी दिया गया है। द इण्डियन एम्पायर, जो पूर्व प्रकाशनों में केवल एक खण्ड था को चार खण्डों क्रमशः विवरणात्मक, आर्थिक, ऐतिहासिक व प्रशासनिक में बॉट दिया गया है। गजेटियर का शेष भाग प्रान्तों या राज्यों के जनगणना अधीक्षकों द्वारा वर्ष 1901 में किया गया है। गजेटियर में 1881, 1891, तथा 1901 की जनगणनाओं के आधार पर तुलनात्मक आंकड़े दिये गये हैं किन्तु अधिकांश मामलों में उन्हें 1903–04 तक प्राप्त आंकड़ों के आधार पर अभावधिक कर दिया गया है।

II मेमोरण्डम ऑन समऑफ द रिजल्टस ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन ड्यूरिंग द पास्ट फिफ्टी इयर्स ऑफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया; 1889 में 1857 के उपरान्त प्रथम 30 वर्षो के ब्रिटिश क्राउन के सीधे प्रशासन के परिणामों पर सर मेमोरेण्डम ब्रिटिश संसद को भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत की गयी थी। उसी मेमोरण्डम को संशोधित करते हुए प्रथम पचास वर्षों के प्रशासन के परिणामों पर दूसरा मेमोरण्डम प्रस्तुत किया गया। वर्ष 1911 में प्रकाशित इस मेमोरण्डम का पुनर्मुद्रण सितम्बर 1996 में उत्तर प्रदेश प्रशासन अकादमी द्वारा किया गया। सेंटर फॉर डेवलेपमेंट स्टडीजय रीडिंग्स, खण्ड I :III (1996),

यू. पी. एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, नैनीताल सीधे ब्रिटिश शासन पर यह एक संक्षिप्त तुलनात्मक रिपोर्ट है.

III द आर्गनाइजेशन ऑफ द गवर्नमेंट ऑफ उत्तर प्रदेश; ए स्टडी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन; एम. जहीर और जगदेव गुप्ता, (1970) एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी इसके प्रकाशन से ठीक दो वर्ष पूर्व, दिसम्बर 20, 1968 में उत्तराखण्ड मण्डल को समाप्त कर गढ़वाल मण्डल का सृजन किया गया, जिसमें गढ़वाल, टिहरी गढ़वाल, उत्तरकाशी व चमोली जनपद रखे गये शेष तीन जनपद क्रमशः अल्मोड़ा, नैनीताल व पिथौरागढ़ कुमाऊँ मण्डल का भाग रहे. उत्तराखण्ड और उत्तर प्रदेश के विभिन्न विभागों के सृजन व संक्षिप्त इतिहास पर यह एक मात्र प्रकाशन है। बारह अध्यायों में विभक्त इस महत्वपूर्ण प्रकाशन का दोनों राज्यों द्वारा इसका अभावधिक संस्करण प्रकाशित करना चाहिये.

IV टिहरी–गढ़वाल स्टेट ऑन द इव ऑफ मर्जरः ज्योति प्रसाद, टिहरी रियासत के 'अगस्त 1949 में भारतीय स्वतंत्र उपनिवेश में विलय के उपरान्त प्रथम जिलाधिकारी के द्वारा अपने स्थानान्तरण (24 अप्रैल 1950) पर भगवान सहाय, मुख्य सचिव उत्तर प्रदेश को प्रेषित रिर्पोट पर आधारित डॉ. आर.एस. टोलिया का मोनोग्राफ; सेंटर फार डेवलेपमेंट स्टीज द्वारा अपने स्टडीज प्रकाशन श्रृंखला के खण्ड : 4% दो (1949) में प्रकाशित, उत्तर प्रदेश अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन।

V फाउण्डर्स आर्फ मार्डन एडमिनिस्ट्रेशन इन उत्तराखण्डः 1815–1884, डॉ. आर.एस.टोलिया (2009) विशन सिंह महेन्द्र पाल सिंह, देहरादून (भारत)।

VI द गजेटियर ऑफ इण्डिया, इण्डियन यूनियन, खण्ड चार, एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड पब्लिक वेलफेयर, सम्पादक, डा. पी. एन. चोपड़ा, गजेटियर यूनिट, डिपार्टमेंट ऑफ कल्चर, मिनिस्ट्री ऑफ एजूकेशन एण्ड सोशल वेलफेयर, 1978।

VII उत्तर प्रदेश में प्रशासनिक कानूनों एवं नियमों का प्रसार संकलन तथा पुनरीक्षा व्यवस्थाः डॉ. आर.एस. टोलिया, रीडिंग्स, खण्ड 3% II, सेंन्टर फॉर डेवलेपमेंट स्टडीज, उत्तर प्रदेश प्रशासन अकादमी, नैनीताल (2000)।

http://uou.ac.in

अध्याय– छः

सन् 1815 ई० के पश्चात के गढ़नरेश

–डा0 अजय सिंह रावत

(फोटो संकलन – डा0 अजय सिंह रावत)

प्रद्युम्नशाह के उत्तराधिकारी श्री सुदर्शनशाह थे किन्तु गढ़राज्य में गोरखा शासन स्थापित हो चुका था। उनका शासन काल क्रूरता व बर्बरता की कहानी कहता है।

सुदर्शनशाह अपनी खोई हुई सत्ता को पुनः प्राप्त करना चाहते थे। इस सम्बन्ध में ''ए० आर० गिल०'' कृत ''वैली ऑफ दून'' नामक पुस्तक के आठवें व नवें पृष्ठ में एक विचित्र परन्तु अविश्वसनीय घटना का उल्लेख मिलता है–सुदर्शनशाह ने निराश होकर बरेली नगर में शरण ली, साथ ही कुछ दिवस फतेहगढ़ में भी व्यतीत किये। यह समय सन् 1809 से 1811 ई० तक का था। यहाँ सुदर्शन शाह की मित्रता कैप्टेन हेयर यंग हियरसी नामक एंग्लो इन्डियन से हुई जिसकी रियासत बरेली से कुछ मीलों के अन्दर तक थी। सुदर्शनशाह ने इसी व्यक्ति के हाथों देहरादून का परगना एवं चन्दी 3005 रूपये में बेच दी थी।

वैली ऑफ दून में उल्लेखित यह कहानी कोरी कल्पना मात्र है क्योंकि उस पुस्तक में सनद का पत्र उद्धृत है जिसमें सुदर्शनशाह के पूर्वजों के नाम पूर्णतः अशुद्ध हैं, जैसे–

''मैं सुदर्शनशाह, हुरदूतशाह का पुत्र, अलीपतशाह का पौत्र.....''। ''कर्नल ह्यूग पीयर्से' की पुस्तक द हियरसेज –फाइव जनरेशन्स ऑफ एन एंग्लों इन्डियन'' पृष्ठ संख्या 61 के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने भी उक्त घटना को असत्य एवं कल्पना के आवरण में लिपटा हुआ बताया है। सन् 1815 ई० में जब गोरखा युद्ध समाप्त हुआ तो सुदर्शनशाह को अलकनन्दा के पश्चिम का क्षेत्र ब्रिटिश सरकार ने दिया। इस तथ्य की पुष्टि ''ए कलैक्शन ऑफ ट्रीटीज, इन्गेजमैन्ट एन्ड सनद्स'' नामक पुस्तक के दिनांक 4 मार्च को स्वीकृत सनद संख्या 14 से होती है। 3 मई 1815 ई० में श्री गार्डनर कुमाऊँ के कमिश्नर नियुक्त हुये तथा इसी वर्ष जुलाई में 'श्री ट्रेल' उनके सहायक नियुक्त हुये। सन् 1816 में 'श्री ट्रेल' की रिपोर्ट के आधार पर नागपुर के परगने में टिहरी गढ़वाल की सीमायें निर्धारित की गईं।

4 मार्च सन् 1820 ई० में सुदर्शनशाह एवं ब्रिटिश सरकार के मध्य एक सन्धि हुई जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार ने टिहरी गढ़वाल पर राजा सुदर्शनशाह व उनके वंशजों का अधिकार स्वीकार किया। इसके बदले गढ़नरेश ने किसी भी

http://uou.ac.in

विपत्ति के समय अंग्रेज सरकार को सहायता का वचन दिया एवं अपने राज्य के अन्तर्गत उन्हें व्यापार की अनुमति दी। सन् 1824 ई० में खांई का परगना भी टिहरी राज्य में शामिल कर दिया गया। 26 दिसम्बर 1842 ई० को टिहरी राज्य में ब्रिटिश सरकार का राजनैतिक प्रतिनिधित्व कुमाऊँ के कमिश्नर को सौंप दिया गया। तब से ही देहरादून में नियुक्त ब्रिटिश पदाधिकारी टिहरी राज्य में भी ब्रिटिश प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने लगा।

महाराजा सुदर्शनशाह ने अलकनन्दा के पश्चिम क्षेत्र के मिलने पर भागीरथी नदी के बाँये किनारे पर समुद्र तल से 2328 फीट की ऊँचाई पर स्थित 'टिहरी' को अपनी राजधानी बनाया। उस समय टिहरी पूर्णतः वीरान था। सुदर्शनशाह ने 700 रू० व्यय कर 30 छोटे–छोटे घर बनवाये जिनका प्रति गृह का 3 रू० प्रति वर्ष के हिसाब से किराया लगाया गया। मैं यहाँ पर टिहरी नगर की जन्म पत्री लिख उद्धृत हूँ जो कि शूरवीरसिंह जी के संग्रह में उपलब्ध है तथा 'उत्तराखण्ड भारती' में मेरे द्वारा प्रकाशित हो चुकी है।

सुदर्शनशाह ने टिहरी को अपनी राजधानी इसलिए बनाया था क्योंकि इसकी स्थिति अत्यधिक सुरक्षात्मक थी और यह तीन ओर भागीरथी नदी एवं उसके किनारे स्थित भिलांगना तथा पीछे की ओर पर्वत श्रृंखलाओं से घिरा हुआ था। टिहरी नगर की सिंह राषि थी तथा ज्योतिषियों ने इसके बारे में भविष्यवाणी की थी इसकी अल्प आयु होगी और यह सत्य भी निकला।

टिहरी नगर की जन्म पत्री

http://uou.ac.in

नोट :– इस पत्री में सूर्य ग्रह नहीं है प्राचीन पत्री होने से पत्री स्पष्ट नहीं हो पा रही है।

सुदर्शनशाह उच्च कोटि का विद्वान था जिसकी साक्षी उनके द्वारा रचित 'सभासार' नामक ग्रन्थ के सात खंड हैं। इनमें से तीन खंण्ड ठा० शूरवीर सिंह जी के पास, तीन भाग टिहरी गढ़वाल के राजकीय पुस्तकालय में तथा एक खंड नैलचामी निवासी 'श्री जीवानन्द श्रीयाल' के पास हैं। मैं यहाँ पर उनके शासन तथा साहित्यिक रूचि से सम्बन्धित एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ–

''इना देश या नि रहणो।''

कुपढ़ होय जिह नट्ट वैद्य दारू कुछ खावत।

भ्रष्ट विप्र डर भृत्य देश शोभा नहीं पावत।।

भूल चाल करि अश्व मूर्ख जोगी नहीं साजै।

मंत्रि हीन सौं राज देश खोराहि विराजै।

तीया जो जान पर रत रहै सूरत वात याहिं कहे।

देखो विचार गुन ये बसैं ऐसे हि देश नाही रहो।। 42

सुदर्शनशाह अंग्रेजी सरकार के प्रति अति कृतज्ञ थे, क्योंकि उनकी सहायता से ही सुदर्शनशाह को राज–वैभव का सुख प्राप्त हुआ था किन्तु इसके साथ ही सुदर्शनशाह उच्चकोटि के कूटनीतिज्ञ थे जिसकी पुष्टि निम्नांकित पंक्तियों से होती है जिनमें उन्होंने अंग्रेजी चरित्र का खाका खींचा है–

''हजरत कम्पनी वर्णन।''

क्षमा कहते हैं शील अत दम्भै नहीं ल्यावैं।

मान शब्द यह जान आन साहबै को कहावै।

कोटि कोटि कछु धीश नेक साहबै जो दिखावत।

सदर धर्र मैं येहि नेकै जो खपावत।।

साहा वजीर नव्वाब जू अर्थै जो राज रंके चहै।

वे मुख कोंऊ कीन्यौ नहीं इंगलिद साह साहा कहैं।।1।।

इसके सन्दर्भ में सुदर्शनशाह के साहस एवं वीरता से ओत–प्रोत एक घटना का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। कुछ अंग्रजों का एक दल तथा सुदर्शनशाह वन में मृगया हेतु गए। एक अंग्रेज अधिकारी 'फ्राइडन' अचानक ही एक बाघ के चंगुल में फंस गया। समस्त शिकारी इस वितपत्ति में हतबुद्ध हो गये। सुदर्शनशाह ने अपने प्राणों को खतरे में डालकर अदम्य साहस का परिचय देकर फ्राइडन की रक्षा की। कलकत्ता में ब्रिटिश अधिकारियों ने सुदर्शनशाह के साहस

की भूरी–भूरी प्रशंसा की। मैं यहाँ पर श्री मोलाराम द्वारा रचित कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ जिनमें उनके अपूर्व साहस का दिग्दर्शन किया गया है–

''साहुब फरिदम धेर हाँसी में लीन्यो।
भौंचक भयो मतंग सर उद्यान में कीन्यो।।
साह सुदर्शन देखि धाय के सीव हिआयो।
लिए तमंचा दस्त सिफ्र सौं खूब चलायो।।
मोलाराम विचार कहि दीन्यो सिंह गिराय भुव।
कलकत्ता के बीच मही सुजस महाराज तुव।।''

महाराजा सुदर्शनशाह ने अपने लिए एक राजप्रासाद पुराना दरबार बनवाया था जो कि टिहरी नगर डूबने से पूर्व जीर्ण–शीर्ण अवस्था में था। सन् 1848 ई० में उन्होंने इस प्रासाद का निर्माण प्रारम्भ करवाया। यह राजप्रासाद भवानीशाह एवं प्रदीपशाह के काल तक परमार नरेशों का आवास गृह बना रहा किन्तु जब कीर्तिशाह सिंहासन पर बैठे तो उन्होंने सन् 1880 से 1881 तक 'नया दरबार' नामक प्रासाद का निर्माण करवाया। 'पुराना दरबार' कीर्तिशाह के अनुज कुँवर 'विचित्रशाह' के हिस्से में आया।

श्री रतूड़ी का कथन है कि सन् 1857 ई० के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को विफल बनाने में सुदर्शनशाह ने फिरंगियों की भरसक सहायता की थी इसलिए कृतज्ञता प्रदर्शन हेतु ब्रिटिश सरकार उन्हें ''बिजनौर''' का क्षेत्र प्रदान कर रही थी। इसके विपरीत सुदर्शनशाह ब्रिटिश 'गढ़वाल' एवं 'देहरादून' लेना चाहते थे। इसी बीच जून 1859 में सुदर्शनशाह का स्वर्गवास हो गया जिस कारण कोई अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सका। श्री राहुल भी श्री रतूड़ी द्वारा दी गई मृत्यु तिथि को मानते है।

महाराजा भवानीशाह

श्री राहुल लिखते हैं कि सुदर्शनशाह के मरणोपरान्त गढ़राज्य के लिए उत्तराधिकार का युद्ध हुआ। सुदर्शनशाह के छोटे पुत्र शेरशाह ने अपने अनुज भवानीशाह को हटाकर थोड़े समय के लिए सत्ता हस्तगत कर ली। इस पर फिरंगी सरकार ने अपने प्रतिनिधि कुमाऊँ कमिश्नर 'रैमजे' को हस्तक्षेप करने के लिए भेजा। तत्पश्चात 'शेरशाह' को गढ़राज्य से देश निकाला दे दिया गया व भवानीशाह गद्दी पर आसीन हुए।

यह साधु प्रकृति के नरेश थे। इन्होंने 12 वर्ष तक राज्य किया तथा दिसम्बर 1881 ई० में परलोक सिधार गये।

प्रतापशाह

प्रतापशाह ने सन् 1871 ई० से 1886 ई० तक शासन किया। इन्होंने अपने नाम से प्रताप नगर की नींव डाली। परमार नरेशों में यह प्रथम सम्राट थे जिन्होंने अपने राज्य में अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ की। इनके तीन पुत्र थे–युवराज कीर्तिशाह, कुँवर विचित्रशाह एवं कुँवर सुरेन्द्रशाह।

कीर्तिशाह

गढ़राज्य के शासन पर जिस समय कीर्तिशाह आसीन हुए वे अल्पवयस्क थे। उनके वयस्क होने तक उनकी माँ रानी गुलेरिया द्वारा संरक्षित एवं निर्देशित मंत्रियों की एक 'समिति' शासन करती रही। युवराज ने कुछ दिन बरेली में व उसके बाद अजमेर के मेयो कॉलेज में शिक्षा प्राप्त की। सन् 1892 ई० में नेपाल के प्रधानमंत्री जंगबहादुर राणा की पौत्री से उनका विवाह हुआ। 27 मई 1898 ई० में उनको सम्पूर्ण अधिकार एवं सत्ता प्राप्त हुई। 31 दिसम्बर 1898 ई० में गोरी सरकार ने उन्हें ''कम्पेनियन ऑफ इन्डिया'' की उपाधि प्रदान की तथा 9 नवम्बर 1901 ई० को उन्हें ''नाइट कमान्डर'' की उपाधि से सम्मानित किया गया। सन् 1900 में वे इंग्लैण्ड गए जहाँ उन्हें ग्यारह तोपों की सलामी दी गई।

कीर्तिशाह अत्यधिक मेधावी छात्र थे। मेयो कॉलेज में उन्हें तीन स्वर्णपदक तथा ग्यारह रजत पदक मिले। उन्होंने 1000 पूर्णांक में से 876 अंक अर्थात् 87 प्रतिशत अंक प्राप्त किये। वे वास्तव में ही महान शिक्षाविद थे जिन्होंने टिहरी में प्रताप हाईस्कूल एवं 'हीवेट संस्कृत पाठशाला' की स्थापना की। साथ ही कई प्राथमिक पाठशालाएं अनेक ग्रामों में खोलीं। शिक्षा के क्षेत्र में उनका अनूठा व अपूर्व दान था (13,000 रूपये का) जो उन्होंने राजकीय विद्यालय श्रीनगर के छात्रावास के निर्माण हेतु दिया था।

शासन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी उपलब्धियां चिरस्मरणीय रहेंगी। उदाहराणार्थ, वह प्रथम नरेश थे जिन्होंने टिहरी में पहली बार बिजली की सुविधा से जनता को अवगत कराया, नगर में नगरपालिका की स्थापना की, जंगलात व कचहरी की कार्य प्रणाली में सुधार किया, अन्य कार्यालयों की गतिविधियों में भी

http://ou4c.in

अपेक्षाकृत सुधाार किये, उत्तरकाशी में एक 'कोढ़ीखाना' खोला, टिहरी में कृषकों के कल्याणार्थ कृषि बैंक की स्थापना की एवं एक प्रेस खोला।

महाराजा कीर्तिशाह विभिन्न गुणों से युक्त था। वह संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फ्रेंच तथा अंग्रेजी भाषाओं का प्रकाण्ड विद्वान था। वह खगोल विद्याा एवं ज्योतिष विद्या में अत्यधिक कुशल था।। उसने टिहरी में एक वेधशाला का निर्माण करवाया जिसके लिए विदेशों से यन्त्र खरीदे गए। तारागणों व सौरमण्डल तक दृष्टि निक्षेप करने के लिये बड़ी–बड़ी टैलिसकोपें भी विदेशों से खरीदीं। विद्युत शक्ति के क्षेत्र में भी उसकी प्रतिभा अद्वितीय थी, यहाँ तक कि उसने हिन्दी टाइपराइटर का भी आविष्कार कर लिया था, यद्यपि उसका कॉपीराइट उन्होंने एक कम्पनी को दिया था। इन विलक्षण प्रतिभाओं को देखकर ही सम्भवतः लॉर्ड लैन्सडाउन ने सन् 1892 के 'वायसराय दरबार' में यह घोषणा की कि भारतीय राज्यों के प्रत्येक नरेश को कीर्तिशाह को अपना आदर्श बनाना चाहिए एवं उनका अनुकरण करना चाहिए।

कीर्तिशाह धार्मिक प्रवृत्ति के तो थे ही साथ ही जिज्ञासु भी थे। उन्होंने सम्राट अकबर की भाँति 'दीने इलाही' जैसा एक सुधारवादी धर्म तो नहीं चलाया किन्तु उसकी ही भाँति विभिन्न धर्मावलम्बियों की अपने–अपने धर्म की मीमांसा करने हेतु एक समा बुलाई। श्री भक्तदर्शन कहते हैं कि वे इस क्षेत्र में स्वामी रामतीर्थ से प्रभावित थे जिन्हें उन्होंने प्रोत्साहन ही नहीं दिया वरन् जापान में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय धार्मिक सम्मेलन में भाग लेने हेतु भेजा। कीर्तिशाह 25 अप्रैल 1913 मं परलोक सिधार गए।

नरेन्द्रशाह

कीर्तिशाह के बाद उनके एकमात्र पुत्र नरेन्द्रशाह गद्दी पर बैठे जो 3 अगस्त 1898 ई० को प्रताप नगर में पैदा हुए थे। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा 'मेयो कॉलेज' अजमेर में प्राप्त की। यद्यपि उन्हें अगस्त 1913 को गद्दी सौंप दी गई थी किन्तु राज्य की वास्तविक शक्ति 4 अक्टूबर 1919 को उन्हें प्राप्त हुई। उन्होंने लगभग 27 वर्ष तक शासन किया। अपनी शासन अवधि में उन्होंने वनविभाग की उन्नति एवं कल्याण के लिये विशेष कदम उठाए। अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने गढ़राज्य के कई युवकों को प्रशिक्षण हेतु ''फोरेस्ट ट्रेनिंग कॉलेज, देहरादून'' भेजा तथा इनमें से कई भाग्यशाली युवकों को जर्मनी तथा फ्रांस जाने का सुअवसर मिला। नरेन्द्रनगर को वर्तमान रूप देने का श्रेय भी नरेन्द्रशाह को ही है। सन् 1921 ई० में इसकी रचना हुई एवं सन् 1925 ई० में नरेन्द्रशाह टिहरी से स्थानान्तरित हो यहाँ आये। इस आयोजन में तीस लाख रूपया व्यय हुआ।

http://uou.ac.in

इन्होंने नरेन्द्र नगर को बाह्य संसार से जोड़ने के लिये शेरशाह सूरी की भाँति अनेक सड़कों का निर्माण करवाया, जैसे एक सड़क नरेन्द्रनगर से मुनि की रेती तक जाती थी। दूसरा मोटर मार्ग मुनि की रेती से देवप्रयाग तथा गंगा के किनारे–किनारे होता हुआ कीर्तिनगर तक बनवाया। तीसरा नरेन्द्रनगर से टिहरी तक का मोटर मार्ग बनाया। इस प्रकार उन्होंने गढ़राज्य का मैदानी क्षेत्रों से सीधा सम्पर्क स्थापित करवाया।

शिक्षा प्रसार से इन्हें विशेष स्नेह था। कई छोटे–छोटे विद्याालय खोले एवं 'प्रताप हाई स्कूल' को 'इन्टरमीडिएट कॉलेज' बनवा दिया। प्रति वर्ष एक महती धनराशि छात्रवृत्ति के रूप में छात्रों को भारत एवं विदेशों में देते थे। जिला गढ़वाल के लैन्सडाउन स्कूल को 4,000 रू० एवं कर्णप्रयाग स्कूल को 3,000 रू० की विशेष सहायता इन्होंने दी थी। इन्होंने बनारस के हिन्दू विश्वविद्यालय को सन् 1933 ई० में महाराजा कीर्तिशाह की स्मृति में एक लाख रूपये की एक मुश्त रकम एवं 6,000 रू० की वार्षिक सहायता दान की। उस पूंजी के आधार पर ही वहाँ ''सर कीर्तिशाह चेयर ऑफ इन्डस्ट्रियल कैमिस्ट्री'' की स्थापना की गई।

जनता के कल्याणार्थ भी इनकी उपलब्धियाँ अक्षुण्य रहेंगी। इन्होंने टिहरी देवप्रयाग, उत्तरकाशी एवं राजगढ़ी के अस्पतालों को उन्नत कर नवीनतम उपकरणों से युक्त कर दिया। नरेन्द्रनगर में एक औषधालय का निर्माण किया तथा 'डियार' व 'पुरोला' में दवाखाने खोले। कई आर्युवेदिक औषधालयों की भी स्थापना की गई।

अपने राज्य को समय के अनुसार आधुनिकता में ढालने के लिये नरेन्द्रशाह ने पश्चिमी देशों का भ्रमण किया, वहाँ की परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया। उनकी जिज्ञासा, शासनपटुता एवं सुधारवादी प्रवृत्ति से अतीव प्रभावित होकर फिरंगी सरकार ने उन्हें कई अलंकारों से विभूषित किया, जैसे गढ़वाली फौंजों का स्थायी लेफ्टीनेन्ट कर्नल बना दिया गया। इन्हें 'सर' तथा के०सी०एस०आई० की उपाधि दी गई। इनकी अनुभवशीलता एवं शिक्षा के प्रति अथाह प्रेम को देखकर बनारस विश्वविद्यालय ने भी इन्हें सन् 1937 ई० में एल०एल०डी० की उपाधि से अलंकृत किया।

इतनी योग्यता से शासन चलाने पर भी दो कलंकपूर्ण घटनाओं ने इनके शासनकाल को कालिमायुक्त कर दिया है किन्तु इन दोनों के लिये नरेन्द्रशाह को दोषी ठहराना मानवता के साथ अन्याय करना होगा।

इनमें प्रथम घटना है रवाँई कांड जो सन् 1930 ई० में यमुना नदी के किनारे तिलाड़ी के मैदान में घटी थी तथा दूसरी घटना है 25 जुलाई 1945 ई० को टिहरी जेल के अन्दर चौरासी दिनों के लम्बे कष्टपूर्ण अनशन के बाद शहीद श्री देव सुमन

का बलिदान। जहाँ तक प्रथम प्रश्न है नरेन्द्रशाह उस समय यूरोप की यात्रा कर रहे थे। वे इस अघटन से पूर्णतः अनभिज्ञ थे।

दूसरी घटना घटने से कुछ दिन पूर्व ही नरेन्द्रशाह नरेन्द्र मंडल की बैठक में भाग लेने के लिये बम्बई चले गये थे। किन्तु स्पष्ट रूप से यह आदेश दे गए थे कि 'सुमन जी' को मुक्त कर दिया जाए। गढ़राज्य में राज्य कर्मचारियों का एक दल जन–आन्दोलन के विरूद्ध था जो जनता की आवाज दबाकर अपनी प्रभुता को बनाये रखना चाहता था।

स्वयं श्री सुमनजी इनका बहुत सम्मान करते थे, उनका संघर्ष टिहरी गढ़वाल की नौकरशाही के विरूद्ध था और वे इनके प्रति अन्त तक गहरी श्रद्वा बनाये रहे। अपने अंतिम मुकदमे में वक्तव्य देते हुए उन्होंने ये शब्द कहे थे–''टिहरी महाराज व उनके शासन के खिलाफ किसी प्रकार का विद्रोह, द्वेष व घृणा का प्रचार मेरे सिद्धान्त के बिल्कुल विरूद्ध है। श्री महाराज के प्रति मैं पूर्ण सद्भावना, श्रद्धा व भक्ति के भाव रखता हूँ।''

इनके बड़े पुत्र महाराजा मानवेन्द्रशाह की अक्टूबर सन् 1946 में राज्याधिकार मिल गया था, फिर जनवरी सन् 1948 में प्रजामंडल का मंत्रिमण्डल बना और 1 अगस्त, सन् 1949 ई० को टिहरी गढ़वाल राज्य का भारत में विलीनीकरण कर दिया गया।

http://uou.ac.in

गढ़ एवं टिहरी नरेशों का प्रशासन

(क) गढ़नरेशों का प्रशासन

गढ़नरेश राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था, किन्तु गढ़नरेश निरंकुश नहीं थे, वे अपने मन्त्रिमण्डल के परामर्श से तथा प्राचीन परम्पराओं का आदर करते हुये शासन करते थे। विलियम्स के अनुसार गढ़नरेशों के मंत्रिमण्डल में दीवान, दफ्तरी, वजीर, फौजदार और नेगी होते थे। कोठार हस्तलेख में उल्लेखित है कि गढ़नरेशों के मंत्रिमण्डल में धर्माधिकारी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। मोलाराम ने उसके स्थान पर ओझा गुरू का उल्लेख किया है।

राज्य का सर्वोच्च मंत्री मुख्तार होता था। दुर्बल नरेशों के समय में मुख्तार सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में ले लेते थे। राजकीय कार्यालय का महानिदेशक दफ्तरी होता था दफ्तरी का कार्यालय राजधानी में होता था। उसके सहायक परगना दफ्तरियों के कार्यालय प्रत्येक परगने में होते थे। कर्मचारियों की नियुक्ति,

स्थानान्तरण सेवा निवृत्ति, पुरस्कार, दण्ड आदि के आदेश उसी के द्वारा जारी किये जाते थे। राजा अपने आदेश दफ्तरी के माध्यम से ही देता था। प्रत्येक परगने के सैनिक शासक फौजदार कहलाते थे। उनका कार्य अपने परगने में सुव्यवस्था रखना, सीमान्त की रक्षा करना, राजस्व की वसूली तथा आदेशानुसार आवश्यकता पड़ने पर सेना सहित रण क्षेत्र में पहुंचना होता था। राजधानी के सुरक्षाधिकारी गोलदार कहलाते थे। वे अपने सैनिकों के द्वारा जिनकी नियुक्ति वे स्वयं करते थे, राजकोष, राजसभा व महत्वपूर्ण कार्यालयों की सुरक्षा करते थे।

प्राचीन सम्भ्रान्त परिवारों के प्रतिनिधियों के रूप में 'नेगी' को मंत्रिमण्डल में स्थान दिया जाता था। महत्वपूर्ण कार्यों में उनसे परामर्श लिया जाता था।

मोलाराम के ग्रन्थ से कुछ अन्य कर्मचारियों का भी पता चलता है। तीव्रगामी सन्देशवाहक 'चणु' कहलाते थे। राजसभा तथा राजप्रासाद में अर्दली का कार्य करने वाले को 'चाकर' तथा राजा के साथ चांदी का दण्ड लेकर चलने वाले को 'चोपदार' कहते थे।

राज्य के विभिन्न परगानों में राजस्व की वसूली थोकदार के द्वारा होती जो कमीण या सयाणा भी कहे जाते थे। थोकदार का यह पद परम्परागत होता था। थोकदार परगने में प्रत्येक गांव के प्रभावशाली व्यक्तियों में से किसी एक को 'प्रधान' नियुक्त करता था तथा उसे उक्त ग्राम से राजस्व वसूली का काम सौंपता था। 'प्रधान' का पद अस्थायी होता था। उसे थोकदार हटा सकता था। प्रधान थोकदार को विभिन्न वस्तुयें नजराने के रूप में देता था।

http://uou.ac.in

भू–व्यवस्था

कत्यूरी नरेशों के समान गढ़नरेशों के समय में भी भूमि का स्वामित्व राजा में निहित था। राजा निम्नलिखित तीन परिस्थितियों में भू स्वामित्व दूसरे को दे सकता था–

(अ) संकल्प या विष्णु प्रीति में–विद्वान ब्राह्मणों को।

(ब) रौत में–विशिष्ट साहस एवं वीरता प्रदर्शित करने वाले सैनिक को।

(स) जागीर में–राज्याधिकारियों को।

जिस व्यक्ति या मन्दिर को संकल्प, रौत या जागीर में कोई 'थात' (भूमि) दी जाती थी वह 'थातवान्' कहलाता था। थातवान् उस भूमि पर पहले से बसे कृषकों को हटा नहीं सकता था।

थातवान् की भूमि पर बसे किसान 'थातवान्' के 'खायकर' कहलाते थे। जब तक 'खायकर' थातवान् को राजस्व देता रहता था, उसे थात से नहीं हटाया जा सकता था। राजस्व के अतिरिक्त खायकर थातवान् को अनेक वस्तुयें भेंट करता था। थातवान् थात में मिली भूमि के जिस अंश पर स्वय काश्त करने लगता था, उस पर वह नये परिवारों को बसा सकता था, ऐसे परिवार थातवान् के 'कैनी' कहलाते थे। कभी–कभी थातवान् अपनी भूमि पर कृषकों को स्वेच्छानुसार अस्थायी, रूप से बसा देते थे और आवश्यकता पड़ने पर हटा देते थे, ऐसे कृषकों को 'सिरतान' कहते थे।

राजधानी में दफ्तरी के कार्यालय में सारे राज्य की कृषि भूमि का लेखा रखा जाता था, उसमें भूमि की आय, उसमें बोये जाने वाले बीज के आधार पर नालियों में लिखी होती थी। राज्य की आय का प्रमुख साधन 'सिरती' या 'भूमिकर' था। साधारण उर्वरता वाली भूमि पर अन्न के उत्पादन का 'तिहाड़' (एक तिहाई) तथा अधिक उर्वरक वाली भूमि के उत्पादन का 'अधेल' (आधा भाग) भूमिकर के रूप में लिया जाता था।

प्राकृतिक सम्पत्ति का उपभोग

गढ़राज्य खनिज सम्पत्ति, वन सम्पत्ति तथा जल सम्पत्ति की दृष्टि से बहुत भाग्यवान था। राज्य में लोहा, ताँबा, ग्रेफाइट, सीसा, अभ्रक, शिलाजीत आदि मिलते थे। सर्वाधिक आय लोहे व ताँबे की खानों से होती थी। गढ़राज्य में वनों को काठ बांस–महाल के अन्तर्गत गिना जाता था। गढ़नरेश वनों को किसी ठेकेदार को ठेके पर दे देते थे। ठेकेदार वन से स्वेच्छानुसार वृक्षों को काट सकता था तथा इमारती लकड़ी आदि उपयोगी वस्तुओं को विक्रय के लिये राजकीय चुँगीघर से होकर बाहर भिजवा सकता था। छोटी–छोटी नदियों में अपार जल था। बड़ी नदियों के जल का उपयोग करना कठिन था।

विद्वानों को आश्रय

गढ़नरेश संस्कृत तथा हिन्दी के विद्वानों, कवियों और ज्योतिषियों के आश्रयदाता थे, उनकी राजसभा के विद्वानों द्वारा रचित यद्यपि थोड़े से ही ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हो सके हैं किन्तु इस बात के अनेकों प्रमाण हैं कि गढ़नरेश विद्वानों को पुरस्कार देने में विशेष उदार थे।। गढ़नरेशों ने जिन विद्वानों को आश्रय दिया उनमें प्रमुख बुद्धिविलास, भरत कवि, मेधाकर शास्त्री, मोलाराम आदि है। राजभाषा

गढ़वाली थी। इस युग में अनेक 'पवाड़ों' की रचना हुई, जिनमें से जीतू बग्वाल, गढ़वाल, गढ़सुम्याल, मालु–राजुला, भानु–भौंपेला, जगदेव पंवार, रणुरौत, सुरिज नाग आदि प्रसिद्ध हैं।

गढ़नरेशों की सबसे अधिक ख्याति चित्रकारों को आश्रय देने से हुई। उनके आश्रित श्यामदास तोमर और उनके वंशजों ने राजपूत चित्रकला की पहाड़ी शाखा में एक नई तूलिका का विकास किया जो 'गढ़वाली कलम' के नाम से प्रसिद्ध है। गढ़राज्य में मुगल शैली की चित्रकला आरम्भ करने का श्रेय श्यामदास और उनके पुत्र केहरदास को है।

मंगतराम के पुत्र मोलाराम ने अपने पिता से मुगल शैली की शिक्षा प्राप्त की थी। उसकी आरम्भिक रचनायें इसी शैली की प्रतीत होती हैं। मोलाराम ने अपने एक उस्ताद रामसिंह का उल्लेख किया है जो मुंशी विलोचन का पुत्र था।

यातायात एवं व्यापार

सम्भवतः गढ़नरेश गढ़राज्य में प्रवेश के मार्गों को दुर्गम बनाये रखने के पक्ष में थे। इससे राज्य पर बाह्य आक्रमणों की आशंका कम रहती थी। अधिकांश जनता पैदल चलती थी, राज्याधिकारी एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति डाँडी अथवा घोड़े पर सवार होकर यात्रा करते थे। बड़ी नदियों को 'खालडू' नामक मशक पर अथवा तुमड़ियों के झूला या साँगा राज्य की ओर से बनवाये गये थे।

भोटांतिकों और खड़वालों को छोड़कर शेष गढ़वालियों की आजीविका के मुख्य साधन कृषि और पशुचारण थे, फिर भी मैदान से बहुत सी वस्तुयें आयात की जाती थीं जिनमें विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ, वस्त्र, रंग, श्रृंगार की वस्तुयें आदि थे। गढ़राज्य से कुछ वस्तुयें निर्यात भी की जाती थीं जिनमें कृषि से उत्पन्न सामग्री, घी, शहद, वन्य सामग्री, दास–दासियाँ प्रमुख थे।

अर्थव्यवस्था

गढ़नरेशों की आय का प्रमुख साधन भूमि–राजस्व, खानों एवं वनों के ठेकों की आय, आयात–निर्यात कर, अपराधियों से आर्थिक दण्ड, भेंट पर निर्भर थी। भूमिकर राज्य की आय का प्रमुख साधन था।

न्याय–व्यवस्था

ग्रामों में तथा राजधानी में भी साधारण विवादों का निर्णय पंचायत के द्वारा ही होता था। पंचायत के सदस्य प्राचीन परम्पराओं से परिचित स्थानीय प्रौढ़ व्यक्ति

होते थे जिनसे कोई रहस्य छिपा रह पाना कठिन होता था। वादी–प्रतिवादी, नर–नारी, पंचों के सम्मुख बिना किसी संकोच के उपस्थित होकर अपना–अपना दृष्टिकोण रख सकते थे। पंच उन्हीं के सम्मुख अपना निर्णय देते थे। वकील आदि की आवश्यकता नहीं थी। पंचायत का निर्णय सभी को मान्य होता था। न्याय की इस सरल एवं सुगम प्रथा से समय एवं धन दोनों की बचत होती थी। केवल अधिक गम्भीर विवाद ही उच्चाधिकारियों तक पहुँचते थे, उनके निर्णय से भी सन्तुष्ट न होने पर वादी–प्रतिवादी राजदरबार में निवेदन कर सकते थे।

सामान्य अपराधों के लिये सामान्य आर्थिक दण्ड दिया जाता था। विशेष अपराधों के कारण अपराधी की सम्पत्ति छीन ली जाती थी। हत्या के अपराध में भी प्रायः आर्थिक दण्ड ही दिया जाता था, मृत्यु दण्ड बहुत ही कम दिया जाता था। छोटी जाति की नारी से व्यभिचार करने वाले पुरूष को आर्थिक दण्ड दिया जाता था। बड़ी जाति की नारी यदि छोटी जाति के पुरूष से व्यभिचार करती थी तो उसकी नाक काट ली जाती थी तथा पुरूष को मृत्यु दण्ड मिलता था। जिसकी पत्नी के साथ व्यभिचार किया गया वह स्वयं भी अपनी पत्नी को तथा उसके साथ व्यभिचार करने वाले व्यक्ति को पूर्वोक्त दण्ड दे सकता था। अपराधी का पता लगाने के लिये विभिन्न प्रकार के दिव्य भी प्रचलित थे।

सैन्य व्यवस्था

प्रारम्भ में गढ़ सेना विभिन्न पलटनों में विभक्त होती थी जिन्हें 'लोहबा' 'बधाण' तथा 'सलाण' कहते थे। बाद में मैदानों से आये हिन्दू तथा मुसलमान आयुधजीवी भी भर्ती किये जाने लगे।

गढ़नरेश भी मुगल बादशाहों के समान अपने सैनिकों की नियुक्ति स्वयं न करके अपने फौजदारों तथा गोलदारों के द्वारा करवाते थे। यह कहना कठिन है कि गढ़ सेना में यह प्रथा कब से प्रारम्भ हुई। अपने अधीनस्थ सैनिकों का वेतन चुकाने के लिये फौजदार को किसी परगने की जागीर तथा गोलदार को नकद राशि भी दी जाती थी। सुदृढ़ शरीर तथा धनुषबाण, ढाल तलवार और यदि सम्भव हो तो बन्दूक चलाने का अभ्यास, को सैनिक की आवश्यक योग्यता मानी जाता था।

हार्डविक के अनुसार गढ़वाली सेना तोड़ादार बन्दूक, धनुष–बाण व ढाल तलवार का प्रयोग करती थी। पादरी एजेविदो ने गढ़वाली सेना में छोटी तोपों का भी उल्लेख किया है। मोलाराम के ग्रन्थ में रक्षा और प्रहार के लिये निम्न साधनों का उल्लेख किया है–कवचदानी, कम्बलपोश, तीर–कमान, भाला, सर, तलवार, तेग,

खड्ग, खांडा, फरसी, फरसा, डगारा, बार्क परा, तबर, (जबर), बन्दूक, पत्थर कला, तुपक, दुपक, ढाल, बटफर, तुड़ा, तोबड़ा आदि।

ऊपर लिखित वर्णन से स्पष्ट है कि गढ़नरेशों का प्रशासन काफी सुदृढ़ एवं सुगठित था। यही कारण है कि गढ़नरेश एक लम्बे समय तक अपना शासन कायम रख सके।

टिहरी नरेशों का प्रशासन

टिहरी नरेश अपने पूर्वजों के समान् ही राज्य में सर्वोच्च पद पर आसीन माने जाते थे। सारे राज्य की समस्त प्राकृतिक, स्थावर और जगम सम्पत्ति, भूमि, वन, खनिज, जल, बनैले, पशु–पक्षी आदि पर पूर्ण 'सत्व' अर्थात् 'हक मिल्कियत' राजा का माना जाता था।

समस्त राजकर्मियों की नियुक्ति राजा ही करता था। वह ही मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष होता था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी। वह कार्यपालिका का ही नहीं न्यायपालिका का भी अध्यक्ष था। राज्य में 'दीवान' व 'वजीर' सर्वोच्च थे, समस्त विभाग और उनके कार्यालय वजीर के अधीन होते थे। राज्य की आन्तरिक व्यवस्था व नीतियों का निर्धारण दीवान व वजीर के द्वारा होता था।

सुदर्शनशाह के राज्य काल में प्रशासनिक सुविधा के लिये राज्य को चार 'ठाणौं' में बांटा गया था जिसके हाकिम ठाणदार (थानेदार) कहलाते थे। ठाणे, परगनों व पट्टियों में बांटे गये थे। परगने की व्यवस्था करने वाले अधिकारी को 'सुपरवाइजर' कहते थे। उसका पद ब्रिटिश गढ़वाल के गिरदावर कानूनगो के समान था। पटवारी राजस्व विभाग का अधिकारी होने के साथ–साथ पुलिस अधिकारी के रूप में भी कार्य करता था। उसके लिये आवश्यक था कि वह अपनी पट्टी के पधानों से निर्धारित राजस्व की राशियाँ तहसील में जमा करावे। प्रत्येक गांव से राजस्व वसूलने के लिये पधान होते थे। पधान गांव के मौरूसीदारों में से नियुक्त किया जाता था।

भू व्यवस्था

राज्य की समस्त भूमि का पूर्ण सत्व टिहरी नरेशों में निहित था। राज्य के गांवों में राजा की आज्ञा से जो व्यक्ति किसी कृषि भूमि में कृषि करता था वह असामी कहलाता था। कृषि भूमि के अन्दर वह भूमि भी आती थी जिस पर कृषि

http://uou.ac.in

कार्य के लिये मकान व पशुओं की छानियां बनी होती थीं। असामी तीन प्रकार के होते थे। मौरूसीदार–जो राजाज्ञा से भूमि को बिना किसी दूसरे की आधीनता के कमाता था और टिहरी नरेश को राजस्व देता था, खायकर जो मौरूसीदार के अधीन उसकी भूमि से कमाता था तथा मौरूसीदार को निर्धारित रकम देता था एवं सिरतान–जो मौरूसीदार या खायकर को उसकी भूमि के लिए 'सिरती' या नकद रकम दिया करता था।

राज्य में कृषकों को भूमि विक्रय का अधिकार नहीं था। भूमि विक्रय पर रोक लगाने से गाँव की भूमि गाँव वालों के पास ही रहती थी। ऋण की वसूली के लिये कृषि भूमि की बिक्री नहीं हो सकती थी।

वन व्यवस्था

टिहरी नरेशों ने राज्य के वनों की व्यवस्था उसी प्रकार की थी जिस प्रकार की वन व्यवस्था गढ़नरेशों और गोरखालियों के शासन काल में थी। वनकर से राज्य को आय अधिक नहीं रही होगी जैसा कि विभिन्न आंकड़ों से स्पष्ट है। गढ़नरेशों तथा गोरखालियों के शासनकाल में 'घीकर' के नाम से कुछ राशि पशु चराने वालों से ली जाती थी।

गढ़नरेशों ने वनकर व **'घीकर'** (चराईकर) की वसूली के लिये विभिन्न घाटों की चुंगी चौकियों पर अपने वैतनिक कर्मचारी नहीं रखते थे। वे विभिन्न घाटों का ठेका ठेकेदारों को देते थे जो कि ठेके की राशि को राजकोष में जमा करने के लिये उत्तरदायी थे।

http://uou.ac.in

शिक्षा

सुदर्शनशाह व भवानीशाह के राज्यकाल तक प्रजा के बच्चों की शिक्षा के लिये विद्यालय खोलना राज्य के आवश्यक कर्तव्यों के अर्न्तगत नहीं गिना जाता था। राजकुमारों की शिक्षा के लिये राजा कुछ काल के लिये पंडितों को नियुक्त करता था।

नये ढंग के विद्यालयों की स्थापना कीर्तिशाह के राज्य काल से हुई, उसने प्रताप पाठशाला को हाईस्कूल बनाया। राजा ने टिहरी में कैम्बैल बोर्डिंग हाउस, हिबेट संस्कृत पाठशाला, मुहम्मद मदरसा तथा कन्या पाठशाला की स्थापना की।

नरेन्द्रशाह के राज्यकाल में राज्य तथा जनता द्वारा अनेक आधारित विद्याालयों की स्थापना की गई।

स्वास्थ्य

सुदर्शनशाह व भवानीशाह के राज्यकाल में प्रजा की चिकित्सा के लिये चिकित्सालयों की स्थापना करना राज्य के कर्त्तव्य में नहीं गिना जाता था। राज परिवार में आवश्यकता पड़ने पर किसी वैद्य को बुला लिया जाता था। 1876 में प्रतापशाह ने राजधानी में पहला 'खैराती शफाखाना' स्थापित किया। इसमें भारतीय तथा योरोपीय पद्धति से चिकित्सा होती थी। कीर्ति शाह ने तीर्थ यात्रा मार्गों पर छोटे–छोटे औषधालयों की स्थापना की तथा चेचक को रोकने हेतु टीकाकरण प्रारम्भ करवाया। नरेन्द्रशाह ने 1925 में नरेन्द्रनगर में एक वर्तमान ढंग के चिकित्सालय की स्थापना की। साथ ही देवप्रयाग तथा उत्तरकाषी में भी चिकित्सालयों की स्थापना की गई। 1940 में राज्य में 15 आयुर्वेदिक डिस्पेन्सरियां थी। 1943 में राज्य टीका विधान पारित किया गया तथा इससे पूर्व 1934 में रैड क्रौस सोसायटी की स्थापना की गई। 1939 में राज्य कुष्ठ विधान पारित किया गया। साथ ही 1941–42 तक राज्य में कुल मिलाकर 16 ग्रामीण आर्युवेदिक औषधालयों की स्थापना की जा चुकी थी।

आन्तरिक सुरक्षा

ब्रिटिश शासनकाल में देशी राजाओं के लिये बाह्य आक्रमण का भय न था। राज्य में शान्ति व सुव्यवस्था बनाये रखने एवं अपनी तथा अपने परिवार की सुरक्षा हेतु तथा प्रजा को आतंकित रखने के लिये वे थोड़ी–सी सेना व पुलिस रखते थे। राजप्रसाद, न्यायालय, कोषागार आदि की रक्षा के लिये सशस्त्र संतरी होते थे।

ग्रामीण क्षेत्र में पटवारियों को पुलिस के अधिकार प्राप्त थे। पटवारी का चाकर भी पटवारी के आदेश से किसी को बन्दी बना सकता था।

यातायात

गढ़नरेशों व गोरखालियों के शासन काल में श्रीनगर से टिहरी, चमुआखाल होकर देहरादून जाने वाले मार्ग को छोड़कर गंगापार के मार्गों की ओर विशेष ध्यान

नहीं दिया जाता था। सुदर्शनशाह व भवानीशाह ने अनेक सड़कों की मरम्मत करवाई तथा नदियों पर झूलों को बनवाया। प्रतापशाह की भी निर्माण कार्यों में रूचि थी। उसने सड़क, भवन निर्माण कार्यों का अधीक्षक नियुक्त किया। मसूरी–श्रीनगर मार्ग पर विशेष बल दिया गया।

न्याय–व्यवस्था

गढ़नरेशों, गोरखालियों और टिहरी नरेशों के शासनकाल में न्यायालय राज्य की आय के प्रमुख साधन थे। सुदर्शनशाह ने छोटी दीवानी, बड़ी दीवानी, सरसरी और कलक्टरी नामक न्यायालयों की स्थापना की थी। जागीरदार अपनी जागीर के गांवों के दीवानी एवं फौजदारी विवादों का निर्णय स्वयं कर सकते थे। हत्या के विवादों का निर्णय राजा के द्वारा ही होता था। सन् 1919 में राजा नरेन्द्रशाह ने प्रयागत नियमों को नरेन्द्र हिन्दू लौ के अन्तर्गत विधिबद्ध कराया। सन् 1938 में नरेन्द्रशाह ने हाइकोर्ट की स्थापना की जिसमें एक चीफ जस्टिस तथा एक या एक से अधिक पुइसन जजों की नियुक्ति का प्राविधान किया गया। हाईकोर्ट तथा उसके अधीनस्थ न्यायालयों द्वारा किये गये निर्णयों पर महाराजा ने जूडिशियल कमेटी से सलाह लेकर पुर्नविचार करने का अधिकार अपने लिये व अपने उत्तराधिकारियों के लिये सुरक्षित रखा था।

फौजदारी के विवादों के लिये सैशन कोर्ट की स्थापना की गई जिसका उच्चाधिकारी सैशन जज होता था। उसके अधीन प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट थे।

अर्थव्यवस्था

राज्य की आय के प्रमुख स्त्रोत भूमिकर, वन, न्यायालय, यातायात, आयात–निर्यात कर, मादक द्रव्य उत्पादन तथा विक्रय कर, आयकर आदि थे।

भूमिकर या लगान का 7/8 नकद राशि के रूप में लिया जाता था जिसे मामला या रकम कहते थे। अपनी जागीर तथा मुआफी के गांवों से जागीरदार एवं मुआफीदार भी 'मामला', 'बरा' और लकड़ी लिया करते थे। राज्य में पटवारी, उसका चाकर, फॉरेस्ट गार्ड आदि कम वेतन वाले कर्मचारियों को गांवों से 'बरा' दिये जाने की प्रथा थी।

http://uou.ac.in

वनों में शिकार खेलने के लाइसेंस, पशुओं की खालों, सींगों व हड्डियों के विक्रय से, बहुमूल्य जड़ी–बूटियों, बनैले–फलों, कन्द–मूलों, छालों, फूलों आदि को एकत्रित करने के लिये ठेकों से भी राज्य को पर्याप्त आय होती थी। ग्रामीणों से लिया जाने वाला जुर्माना भी वनों की आय का एक महत्वपूर्ण भाग था।

सुदर्शनशाह ने विवादों के आरम्भ में वादी से शुल्क लेने की प्रथा प्रारम्भ की। यह शुल्क तथा दीवानी विवादों की मालियत का शुल्क नकद रूप में राजकोष में जमा किया जाता था, जिससे हिसाब में गड़बड़ होती थी। ज्यों–ज्यों विवाद बढ़ते गये तयों–त्यों उनके निर्णय में विलम्ब होता गया। प्रतापशाह ने विवादों की सुनवाई की तिथि निश्चित करने की प्रथा चलाई तथा कोर्ट फीस के टिकट लगाने प्रारम्भ कर दिये।

यातायात विभाग द्वारा ढुलान की आय उस विभाग पर होने वाले व्यय से अधिक थी। कुली–उतार के लिये जो राशि राज्य में भ्रमण करने वाले व्यक्तियों से ली जाती थी, उसका कुछ अंश ग्रामीणों को देकर शेष को ट्रान्सपोर्ट विभाग की आय में जमा किया जाता था। मोटर सड़कें बनने पर उन पर लारियां चलाने का एकाधिकार ट्रांसपोर्ट कम्पनियों को दिया जाता था जिससे राज्य को पचास सहस्त्र रूपये वार्षिक मिलते थे।

ज्यों–ज्यों जनसंख्या व व्यापार में वृद्धि होती गई, त्यों–त्यों आयात–निर्यात कर की आय भी बढ़ती गई। कर वसूली के लिये अनेक स्थानों पर चौकियां स्थापित की गईं। इन चौकियों में कर की वसूली के लिये मुंशी नियुक्त किये गये। इन मुंशियों के कार्य की देखभाल कस्टम सुपरिण्टेण्डेण्ट करता था।

इन सबके अतिरिक्त टिहरी नरेशों के समय में भी दास–दासियों का विक्रय होता था। इससे भी राज्य की आय बढ़ती थी।

http://uou.ac.in

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

अध्याय– सात

ब्रिटिश गढ़वालः एक सिंहावलोकन

–डा. अजय सिंह रावत

ब्रिटिश गढ़वाल जो कि कुमायूँ का एक भाग था, उसका वास्तविक प्रशासन सन् 1815 ई० से आरम्भ हुआ। सन् 1839 ई० में गढ़वाल एक स्वतंत्र जिला बन गया जिसका उत्तरदायित्व एक वरीयतम सहायक कमिश्नर को दिया गया जोकि कुमायूँ कमिश्नर के अन्तर्गत होता था। प्रशासन की सुविधा एवं आसानी से संचालन के लिए इस जिले को ग्यारह परगनों तथा 86 पट्टियों में बाँटा गया।

यह पूर्णतः कृषि प्रधान स्थल था जहाँ की जन संख्या के 80% लोग खेती पर ही निर्भर थे। कृषि भूमि योजनाबद्ध तरीकों से संगठित न होकर छोटे–छोटे टुकड़ों में बँटी हुई थी। सन् 1894 ई० से सन् 1896 ई की मध्यावधि में जोती गई भूमि में 50% की वृद्धि हुई थी किन्तु लगभग 2% भूमि की ही सिंचाई हो पाई थी। सन् 1903–04 ई० में 410 वर्गमील क्षेत्र जोता हुआ था। यहाँ तीन नगर तथा 3600 गाँव थे। पूरे जिले में पौड़ी ही एकमात्र तहसील थी जो कि गाँव के समान ही थी। लैन्सडाउन, श्रीनगर तथा कोटद्वार तीन शहर थे जिनमें कैन्टोनमैन्ट, लैन्सडाउन में था। इस जिले में सहायक कमिशनर ही लगान वसूल करने वाला वरिष्टतम् अधिकारी था। उसके बाद अधिकारियों की इस कड़ी में डिप्टी कलैक्टर फिर तहसीलदार तथा उनकी सहायता के लिए कानूनगों और पटवारी होते थे। छोटी सी गलती या कोताही करने पर इन अधिकारियों से डिप्टी कलैक्टर एक माह का वेतन बतौर फाइन वसूलने के लिए अधिकृत था। उसे भागीदारों में जुम्मा बाँटने का भी अधिकार था। कृषि के क्षेत्र में तहसीलदार एक महत्वपूर्ण अधिकारी माना जाता था।

लगान विभाग में तहसीलदार बहुत ही महत्वपूर्ण अधिकारी था, विगत वर्षों का लेखा–जोखा का पूर्ण निरीक्षण कर वह लगान की राशि नियत करता था, लोगों को एकत्रित कर भीड़ में इसके महत्व पर भाषण देता था क्योंकि सरकार का भी वह सर्वाधिक विश्वसनीय पदाधिकारी होता था। यद्यपि तहसीलदार को पुलिस के भी अधिकार प्राप्त थे किन्तु लगान एवं पुलिस के क्षेत्रों में उसके अधिकार सीमित थे।

तहसीलदार के कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के लिए 'कानूनगो' की नियुक्ति की गई थी। गढ़वाल में चार कानूनगो नियुक्त किए गए थे। सन् 1896 ई० में पौ (Pauw) ने दो अतिरिक्त कानूनगो और नियुक्त किए ताकि पटवारियों के कार्यों पर पैनी निगाह रखते हुए उनका उचित तथा पूरा विश्लेषण हो सके और खातों का

रख रखाव भी ठीक हो। कानूनगो का पद पुश्तैनी कर दिया गया था इसलिए कानूनगो के उत्तराधिकारी को अनिवार्य रूप से स्कूल भेजकर शिक्षा दिलवाई जाती थी।

इस कड़ी का अन्तिम पदाधिकारी 'पटवारी' होता था जिनकी नियुक्ति सन् 1819 ई० में कमिश्नर ट्रेल द्वारा की गई थी। इनका अहम कार्य लगान इकट्ठा करना, भूमि का लेखा जोखा रखना, भूमि की माप, लगान के विवादों का निस्तारण, अनसुलझे विवादों पर डिक्री करवाना, सड़कों की मरम्मत करवाना, यात्रियों के सामान की पूर्ति करना, 'खसरा'– ऐसा बही खाता रखना जिसमें खेतों की संख्या का पूर्ण लेखा जोखा होता था।

इन सरकारी अमलों के अलावा गाँवों में प्रधान तथा थोकदार भी उक्त कार्यों की सम्पन्नता हेतु नियुक्त किए जाते थे जिन्हें भुगतान के रूप में या तो भूखण्ड दे दिया जाता था या पधानरवानगी या पधानचारी धन दिया जाता था जिसे 'हक पधान' कहा जाता था। पधान का पद पैत्रिक होता था, उसी गाँव विशेष का बाशिन्दा होता था। यदि दुर्भाग्यवश पिता की मृत्यु के कारण पधान उस समय नाबालिग होता था तो उसके बालिग होने तक मुख्तियार की नियुक्ति की जाती थी। जोकि स्त्री पधान या नाबालिग पधान का प्रतिनिधि मात्र होता था। पधान के समग्र कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व उसे निभाने पड़ते थे किन्तु इस पद का हक या अधिकार उसे कभी नहीं दिया जाता था और उसे किसी भी पल इस पद से हटाया जा सकता था।

जहाँ तक पधान को उसके पद से हटाने का प्रश्न उठता था तो उसके लिए कोई लिखित कानून या नियम नहीं थे किन्तु सामान्यतः– (1) यदि कोई पधान न्यायालय में 'अपराधी' घोषित होता था। (2) कर्ज में इतना डूब जाता था कि उसे गाँव में हिस्सेदारी को बेचने की नौबत आ जाती थी, (3) किसी कारणवश अपना सम्पूर्ण हिस्सा वह गाँव में बेच देता था, (4) चारित्रिक हीनता, अनुचित व्यवहार, समय पर लगान इकट्ठा न करना, सरकारी आदेशों की अवहेलना, जंगलों में घटने वाले अपराधों की रोकथाम न करना, प्राप्य पुलिस अधिकार का नाजायज फायदा लेना, अनाचार एवं अत्याचार आदि अपराधों के बल पर किसी भी पधान को उसके पद से हटाया जाता था।

पधान तथा सरकार के मध्य एटकिन्सन गैज़िटियर के अनुसार लगान उगाहने वाला एक पदाधिकारी और होता था जिसे सयाना, कामिन या थोकदार कहते थे। उत्तर गढ़वाल की ओर उसे सयाना तथा दक्षिण की ओर उसे कामिन कहते थे। Pauw तथा Stowell के अनुसार 'कामिन' तथा 'सयाना' दोनों ही

थोकदार थे क्योंकि समय के बदलने के साथ इन्हें थोकदार के नाम से ही जाना गया।

प्रारम्भ में कामिन मात्र लगान एकत्र करने वाला पदाधिकारी था और उसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि जिस गाँव का वह लगान एकत्र करता था, उस स्थान पर वह जमीन का मालिक भी हो, किन्तु इसके विपरीत 'सयाना' की गाँव में जायदाद आदि भी होती थी और कहीं– कहीं तो उसकी गाँव में हिस्सेदारी भी होती थी। गाँव का 'पधान' कामिन और 'सयाना' के अन्तर्गत होता था, वे उसे उसके पद से हटा भी सकते थें, इन्हें अपनी जोत पर लगान माफ थी।

विवाह आदि पर इन्हें उपहार भी मिलते थे। 2 रू ० लड़की के विवाह पर पाते थे। बकरी कटने पर उसकी टाँग, ढेर सारा घी तथा एक टोकरी मक्का सावन के महीने में इन्हें मिलता था।

थोकदारों ने अपने पदों का इस हद तक दुरूपयोग किया कि कमिश्नर सर हेनरी रैमजे ने थोकदार प्रथा को खत्म करने के लिए दृढ़ता पूर्वक लिखा किन्तु सन् 1856 के बाद जनता के सोच, व्यवहार में इतना अधिक परिवर्तन आ गया कि व्यवस्था को बनाए रखने, शान्ति स्थापित करने तथा कानून एवं आदेशों के पालन हेतु पुलिस का उत्तरदायित्व इन्हें ही दिया गया।

भू–राजस्व प्रबन्धन का इतिहास :–

गोरखा शासन काल में कुमायूँ तथा गढ़वाल के कृषकों पर लगान की कार्यवाही में अमानवीय अत्याचार किए गए। सिगौली सन्धि के बाद अंग्रेजी सरकार इस क्षेत्र में सुधार की ओर अग्रसर हुई। प्रथम निर्णायक कदम सन् 1815 ई. में लिया गया, साक्ष्य एवं गत वर्षों के बहीखातों की अनुबद्धता के होते हुए गढ़वाल पर 35990 रूपए एक वर्ष की लगान नियत की गई। सन् 1816 ई. में दूसरा निर्णय लिया तो गया किन्तु पधानों के कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का ठीक से खुलासा न होने के कारण उस निर्णय का एक भाग ही जनता के सामने आ पाया। फलतः विभिन्न गाँवों की कृषि जोतों की ठीक व विशुद्ध नापजोख न होने के कारण प्रथम व द्वितीय व्यवस्था के अनुसार 41782 रूपए तथा तीसरी व्यवस्था के अनुसार सन् 1817 ई. में 45548 रूपए लगान निर्धारित किया गया। सरकार इस निर्धारण को लम्बे समय के लिए चलाना चाहती थी किन्तु छोटी जोतों के मालिकों की असहमति के कारण ट्रेल ने इस व्यवस्था का निर्धारण तीन–तीन वर्ष के लिए कर दिया।

http://uou.ac.in

सन् 1820 ई. की व्यवस्था निर्धारण के पश्चात् कर लगान की धनराशि 54996 रूपए निर्धारित कर दी गई। सन् 1832 ई. में ट्रेल ने पंचसाला बन्दोबस्त का निर्धारण कर दिया। ट्रेल (Traill) के वाहकों ने प्रत्येक गाँव में जाकर भूमि की नापजोख की और सीमा निर्धारण भी किया। यद्यपि यह कार्य अनेक कमियों व अशुद्धियों से परिपूर्ण था किन्तु उसके इस सराहनीय कदम ने गाँवों की संख्या, सीमाओं का अहसास करवा दिया। साथ ही यह पहला अवसर था कि लगान का लेखा (Rent Roll) लिखा गया। अस्सी साल बन्दोबस्त के नाम से प्रसिद्ध इस व्यवस्था का बीजारोपण सम्वत् 1880 अर्थात् सन् 1823 ई. में किया गया था जिसके अनुसार लगान की धनराशि 64900 रूपया नियत की गई।

सन् 1823 ई. में आरम्भ में इस पंचसाला बन्दोबस्त को भू–स्वामियों के विरोध न होने पर अगले पाँच वर्ष तक और बढ़ा दिया गया। परगनों में विकास होने के कारण गाँवों की संख्या में वृद्धि हुई तथा लगान की धनराशि भी बढ़कर 67,725 हो गई।

सन् 1829 में श्री ट्रेल (Traill) ने सरकार को लगान की विविध व्यवस्थाओं पर अपनी आख्या लिखते हुए कहा था कि सन् 1815 ई. में ब्रिटिश शासन के आरम्भ होने पर पहला अत्यावश्यक कदम यह था कि जनता पर किए गए अत्याचार से उत्पन्न दुख व असन्तोष को खत्म कर दिया जाए जोकि पूर्व गोरखा राज्य में मिला था। विभिन्न जमाकर्त्ताओं द्वारा अनेक प्रकार की वसूलियाँ न करके भू–स्वामी एक ही जमाकर्त्ता को लगान के रूप एक ही मर्तवा वसूली देंगे। यह व्यवस्था भू–स्वामियों के लिए वरदान स्वरूप राहत थी।

एटकिन्सन के अनुसार कमियाँ होने के बावजूद भी इस व्यवस्था में लगान में इजाफा होता रहा शायद इसलिए कि जोती हुई भूमि और जनसंख्या में वृद्धि हुई हो। ट्रेल की यह व्यवस्था ब्रिटिश शासन के लिए वास्तव में 'मील का पत्थर' साबित हुई। ट्रेल के पूर्व गोरखा राज्य में गोरखा मार, धाड़ व जबर्दस्ती कर, 37000 रू० ही लगान जमा कर सके जबकि बिना किसी अत्याचार व हिंसा के ट्रेल ने 36,000 रूपया आसानी से लगान स्वरूप इकट्ठा किया। एटकिन्सन के अनुसार ट्रेल के पश्चात् कमिश्नर बैटन की व्यवस्था अत्यधिक महत्वपूर्ण थी जिसे 20 वर्ष के लिए लागू किया गया था। इस सम्बन्ध में निम्नांकित बिन्दु बहुत महत्वपूर्ण है :–

(1) हर गाँव में भागीदारों की सर्वसम्मति से एक प्रधान की नियुक्ति होगी। बड़े गाँवों में एक से अधिक प्रधान नियुक्त किये जाएंगे।

(2) जहाँ भागीदारों की जमीन को खैकर लोग जोतते और अनाज उगाते हैं उन पर प्रधान का हस्तक्षेप नहीं होगा। वे भागीदारों से केवल सरकार का नियत हिस्सा वसूल करेंगे।

(3) ऐसे 'नया आबाद' गाँव जो जंगलों को काटकर स्थापित किये गये थे और जहाँ मालिक लोग अपनी भूमि को किसी अन्य व्यक्ति को सौंप गए हों या लीज पर दे गए हों तो उनके यह सारे हक समाप्त कर दिए गए। थोकदारों की पधानों के कार्य की दावेदारी को पूरी तरह से खारिज कर दिया गया साथ ही 'नयाबाद' भूमि पर उन्होंने जो स्थायी सम्पत्ति खरीदी थी, वन भूमि के असली वारिसों के विरोध करने पर उनका यह अधिकार भी बरखास्त कर दिया गया।

(4) किसी भी गाँव को अलग लीज नहीं मिलेगी, यदि लिखित प्रमाण यह दिखाता है कि सन् 1815 ई. से लगातार अपने पैतृक गाँव से इसका सम्बन्ध टूट गया है।

(5) पधान का पारिश्रमिक चाहे भूमि के रूप में हो या धन के रूप में हो गाँव के गणमान्य दल आपसी विचार–विमर्श से नियत करेंगे। गाँव वालों को पधान के कार्यक्षेत्र में मालगुजारी या लगान आदि के विषय में हस्तक्षेप का कोई भी अधिकार नहीं था। वौल्टन के अनुसार भूमि की नापजोख के बिना ही लगान की व्यवस्था की गई थी। बैटन के बीस साल बन्दोबस्त में लगान बढ़ाने को कोई रास्ता नहीं था और ना ही कोई आवश्यकता थी। बैटन ने प्रत्येक गाँव की लगान धनराशि को उस गाँव के निवासियों की संख्या, उनकी आय के स्रोत, जोती गई भूमि, उनकी सामान्य सम्पत्ति को मद्देनजर रख कर नियत की थी।

बैटन की व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता थी हर गाँव का अपना अपना रिकार्ड रखने का अधिकार। इसमें गाँव के प्रत्येक हिस्सेदार का पूर्ण विवरण उसके अधिकारों का विवरण, लगान नियत करने का पूर्ण इतिहास, सीमा निर्धारण, गाँववासियों का इकरारनामा जिसमें पधान की देय धनराशि लिखी होती थी। लगान की धनराशि 68,682 रू. नियत हुई। सर हेनरी रैमजे ने अपनी कुमायूँ आख्या में यह लिखा है कि बैटन की लगान व्यवस्था ने भविष्य के लिए एक ठोस लगान व्यवस्था को जन्म दिया। सही अर्थ में कृषकों ने अपने अधिकारों, उनकी सुरक्षा, व उनके रिकार्डों को स्थाई रूप में रखने के प्रबन्ध को जाना। खसरा की नापजोख व्यवस्था से उन्हें अपनी जोतों की विशुद्ध नाप का ज्ञान हुआ।

बैटन के 'बीस सालां बन्दोबस्त की जब तिथि समाप्त होने को थी तो उसके पूर्व यह निर्णय लिया गया कि सर्वप्रथम जोतों की नाप सही और सुनियोजित ढंग से बिल्कुल ठीक ली जाए। यह उत्तरदायित्व गढ़वाल के सीनियर असिस्टैंट कमिश्नर बैकेट को सौपा गया। बैकेट ने सम्भवतः खसरा माप के द्वारा सारे गाँवों की जोतों की माप कराई।

यह कार्य सन् 1856 ई0 में आरम्भ हुआ किन्तु कुछ कठिनाईयां व अनजाने हस्तक्षेपों के कारण यह कार्य सन् 1861 ई0 में पूर्ण हुआ जिस पर 74,005 रू0 व्यय

हुआ। जोतों की माप आई, 49,787 एकड़। वौल्टन के अनुसार दो व्यक्ति चेन वाले तथा दो माप वाले रहते होंगे। बीस गज लम्बाई की एक पतली रस्सी उनके पास रहती होगी। हर जोत की लम्बाई और चौड़ाई नापकर एक चित्र बनाया जाता होगा, फर एक व्यक्ति स्वयं जाकर स्वयं देख कर उसका ब्यौरा लिखता होगा। भूमि की माप को निम्नांकित बिन्दुओं पर आंका गया :–

1. प्रत्येक चौरस भूमि जोकि जंगलों में परिवर्तित न हो, उसका नापा जाना अतीव आवश्यक था, दूसरी ओर वन्य भूमि को आठ या दस साल छोड़ने के बाद ही जोता जाता था जिन्हें 'खील' या 'कौनला' कहा जाता था और उनकी माप नहीं ली जाती थी। हर जोत को अलग–अलग मापा गया।

2. चौरस भूमि चार प्रकार की थी– यथा i- सिंचित भूमि, ii. अच्छी सूखी भूमि, iii.द्वितीय श्रेणी की सूखी भूमि, iv- ऐसी भूमि जिस पर कभी–कभी ही उपज की जाती हो किन्तु इस प्रकार का विभाजन किसी भी प्रकार क्रियात्मक नहीं हो सकता था इसलिए भूमि मापकों ने जोतों को तीन भागों में बांटा– 1– स्थाई पैदावार वाली जोतें, 2– अस्थायी रूप से जोती जाने वाली भूमि, 3– बंजर भूमि।

भूमि की नापजोख होने के बाद बैकेट में गांवों की विभिन्न प्रकार की उर्वर भूमि को लगान निर्धारण के लिए एकरूपता को दृष्टि में रखकर एक मापदण्ड चुना अर्थात् द्वितीय श्रेणी की सूखी भूमि (Second Quality Dry Land) जिसमें अच्छी जोत बुरी जोत द्वारा उत्पन्न हानि को बराबर कर देती थी। एक रूपये एक बीसी पर लगान की दर नियत कर दी गई। गढ़वाल जिले की जोती गई भूमि और न जोती गई भूमि का पूर्ण क्षेत्रफल 5500 वर्ग मील आंका गया। पूर्ण व्यवस्था के अनुसार इन सीमाओं के अन्तर्गत यदि गांववासी अपनी जोतों में विकास करते हैं तो उन्हें अतिरिक्त लगान राशि नहीं देनी पड़ेगी साथ ही चारा आदि खरीदना नहीं पड़ेगा क्योंकि चरागाह की व्यवस्था थी किन्तु कोई भी गांववासी दूसरे गाँव वालों को न चारा बेच सकते थे और न भूमि। इस व्यवस्था की एक और विशेषता– गूँठ, सदाबर्त्त तथा मुउत्ताली जमीनों का रिकोर्ड बनाना। मन्दिरों से 7139 रूपया, मुआफी भूमि में 369 एकड़ भूमि हटाकर 163 (एकड़ भूमि पर कर लगाया गया।) सदाबर्त्त करों से मुक्त रखे गए। केदार नाथ जी तथा बद्रीनाथ जी आने वाले तीर्थयात्रियों के लिए औषधि आदि का प्रबन्ध करने वाले संस्थान तथा अन्य कार्यों की देखरेख एक स्थानीय एजेन्सी को दी गई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पहली मर्त्तवा लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पानी से चलने वाले घराटों को भी शामिल किया गया। यद्यपि बैकेट ने अपनी इस व्यवस्था में भरपूर कोशिश की थी

कि किसी व्यक्ति के साथ अन्याय न हो, गांवों की सम्पत्ति का दुष्प्रयोजन न हो किन्तु फिर भी यह व्यवस्था पूर्णतः दोष रहित नहीं थी। अमीनों की लापरवाही, मूर्खता व गांव वालों की नासमझी के कारण गांव वालों के नामांकन बहुत गलत, अशुद्ध व अपूर्ण हुए। खैकर, हिस्सेदारी आदि का नामांकन पूरी तरह बेबुनियाद, अनुचित और गलत था।

सन् 1887 में पौ (Pauw) ने अगली व्यवस्था का बीजारोपण किया, लगान विभाग (Board of Revenue) से एक नई, विशद और तथ्यपूर्ण रिपोर्ट तैयार करने को कहा साथ ही उसके तरीके भी बताए। सन् 1888 ई० के दरमियान सीनियर असिस्टैंट कमिश्नर, गढ़वाल ने कुछ माप करने वालों की मदद से लोभा गांव से जोतों की वृद्धि की जांच प्रारम्भ की फिर गढ़वाल के समस्त गांव जो छितराए हुए से थे उनको भी इस जांच में शामिल कर लिया गया। जोतों की वृद्धि तथा मूल्यों में भी वृद्धि होने के कारण कृषि तथा भूमि क्षेत्र के निदेशक ने 50,000 रूपये का अतिरिक्त मुनाफा घोषित किया। भूमि की यह व्यवस्था मार्च सन् 1890 से प्रारम्भ की गई तथा 1896 मे बन्द कर दी गई। पैदावार के लिए गढ़वाल प्रदेश की नदियों में उस समय भरपूर जल था, इसलिए सिंचाई का प्रबन्ध भी इस प्रदेश के कृषि क्षेत्र के लिए अति लाभदायक रहता था। जरूरत से अधिक अनाज पैदा होने के कारण इसे बिजनौर तथा तिब्बत तक बेचा जाता था। ब्रिटिश गढ़वाल के लगान अधिकारियों ने जमीन को कुछ इस प्रकार विभाजित किया था :–

1. **तलाव शेरा**– सदैव सिंचाई वाली जमीन।
2. **पंचर शिमार**– जो भूमि पूर्णरूप से सिंचित न हो सदैव काम में न लाई जाती हो।
3. **उपरांव**– सूखी भूमि – प्रथम श्रेणी की अव्वल तथा द्वितीय श्रेणी की दोयम।
4. **इजरान**– निम्न श्रेणी की भूमि।
5. **कंटीली**– खील। निम्न श्रेणी की भूमि जिसमें सीढ़ीदार खेत न हों और जिसमें खेती अवर्तक रूप से की जाती हो।

लगान निर्धारण एक हद तक इस सिद्धांत पर आधारित था कि अच्छी मिट्टी भरपूर लगान व लगान निर्धारण अधिकतर अनुमान पर आधारित था। बैकेट, पौ व इबटसन ने इन व्यवस्थाओं को बहुत अधिक गुणात्मक व वास्तविक बना दिया। बेकार भूमि (waste land) को सरकारी सम्पत्ति माना गया। इसे कैसर–ए–हिन्द लैण्ड कहा जाता था। यद्यपि सरकार की अनुमति लेकर इस प्रकार की भूमि को जोता जा सकता था, किन्तु इसमें बहुत सी

समस्याएं सामने आ गई थी। समय पर लगान न देने वालों से निम्नांकित तरीकों से लगान की राशि एकत्र की जाती थी :–

1. रिट दायर करना या यह अपराध न करने का प्रमाण मांगना।
2. गिरफ्तार कर लेना।
3. उसकी स्थायी सम्पत्ति को बेचना या हस्तगत कर लेना।
4. लगान की धनराशि जो देय है, उसकी प्रकृति के अनुसार जमीन का टुकड़ा, भागीदारी का हिस्सा या पट्टी को लेना।
5. उसकी हिस्सेदारी या पट्टी को दूसरे हिस्सेदार को सौप देना।
6. ऐसी पट्टी या भागीदारी को पूरी तरह मिला देना।
7. उसी पट्टी या खेतीबारी को बेच देना।
8. ऐसे अपराधी की पूरी स्थायी सम्पत्ति को बेच देना।

भूमि पर अधिकार लेने की भी अनेक विधियां थी –

1. उपहार के रूप में देना – जिस पर उपहार लेने वाले का पूर्ण अधिकार होता है।

   ऐसे कृषक जिनका नाम पुश्तों से चला आ रहा था, उनके उत्तराधिकारियों का भी जमीन और उसकी उपज पर पूर्ण अधिकार था।

2. जमीन, मन्दिरों के पास भी होती थी। तीर्थ यात्रियों के लिए सदाबर्त्त अर्थात् तीर्थयात्रियों के लिए भोजन की व्यवस्था– जिसका पैसा नहीं लिया जाता था।

3. संजायत जमीन अर्थात् एक से अधिक लोगों का मालिकाना हक होना, इसमें भी कोई सर्वग्राह्य नियम नहीं था। प्रत्येक गांव में अलग–अलग नियम व कायदे थे।

ब्रिटिश गढ़वाल का वन प्रबन्धन

वन प्रबन्धन का पहला कदम सम्भवतः सन् 1823 में ट्रेल द्वारा उठाया गया होगा जब गाँव वासियों को चरागाह, लकड़ी काटने आदि के अधिकार प्राप्त हुए।

http://uou.ac.in

पहाड़ के जंगलों की सुरक्षा व रख रखाव पर सन् 1856 से सन् 1859 तक में कुमाऊँ कमिश्नर हेनरी रैमजे ने अहम् भूमिका निभाई। उन्होंने अपनी पहल पर वृक्षों के अन्धाधुन्ध एवं अविवेकी कटान पर रोक लगा दी। साथ ही उनके द्वारा वनों का प्रबन्धन चक्रानुसरण प्रक्रिया द्वारा किया जाने लगा तथा वृक्षों के पातन से पूर्व उन पर घन का निषान लगाना अनिवार्य था।

सन् 1869 में कुमाऊँ वन प्रबन्धन का उत्तरदायित्व मेजर पियरसन को दिया गया। उन्होंने रैमजे के अधिकार प्रबन्धन के नियमों एवं नीति का ही अनुसरण किया। इसी वर्ष गढ़वाल के वन विभाग की भी स्थापना हुई। गढ़वाल के वन मुख्य चार विभागों में बाँटे गये।

1. चण्डी के वन 2. उदयपुर के वन 3. कोट्री दून के जंगल 4. पाटली दून के वन।

वनों के संरक्षण के लिए कुछ मुद्दों पर ध्यान देना आवश्यक समझा गया।

1. समग्र वनों का एक विस्तृत व वास्तविक नक्शा बनाया गया 2. सदैव क्रमबद्ध चलने वाली योजना का आवाहन 3. अनुछुए वनों की काट छाँट 4. वनों के लिए सड़को का विकास 5. वनों पर प्रदेश के अधिकारों का एक सही ब्यौरा

सन् 1893 में निरर्थक भूमि (Waste land) को वनों के अन्तर्गत ले लिया गया। पेड़ों के कटान के लिए भी सख्त नियम बनाए गए, सड़क से 100 फीट तथा गाँव की सीमा से पाँच मील तक पेड़ काटने की अनुमति नहीं थी किन्तु नियमों का पालन नहीं होता था। इसलिए वनों को दो वर्गों में बाँटा गया (अ) जनता के लिए बन्द जंगल (ब) खुले जंगल। बन्द जंगलों में किसी भी प्रकार के अधिकार की स्वीकृति या अनुमति डिस्ट्रिक्ट मजिस्टेट देता था। खुले जंगल में गाँव वाले बिना किसी के हस्तक्षेप के घास काटना लकड़ी काटना जानवर चराना आदि करते थे। देवदार के वृक्ष को काटने की अनुमति डी. एम. तथा अन्य प्रकार के पेड़ों को काटने की अनुमति पटवारी देते थे।

सरकार द्वारा ऊसर एवं बेनाप जमीन के अधिग्रहण से जनता बहुत क्षुब्ध व असंतुष्ट थी। सन् 1910 से 1911 तक नैनीताल में जो वन सम्बन्धी सरकारी गोष्ठी की गई थी उसमें जंगल की भूमि की विशुद्ध रूप से नाप कर पटवारी के अधिकार से हटाकर डिवीजन के वन अधिकारी को सौंप दिया गया। नैलसन ने कार्यभार लेते ही जमीन को ABC तीन वर्गो में बाट दिया।

A वर्ग की भूमि स्थानीय लोगों की जरूरतें पूरी करने तथा वनों से उत्पन्न वस्तुओं को बेचना और सुरक्षा की व्यवस्था वन विभाग को दी गई।

B वर्ग मे घास चारा एवं ईधन की व्यवस्था वन विभाग को दी गई।

C वर्ग में गाँव वासियों को पूरा अधिकार था। जो जंगल हनुमान चट्टी तथा बद्रीनाथ जी के मन्दिर के मध्य थे उनको कार्य में लाने का पूर्ण अधिकार मन्दिर को सौंपा गया। इस के सम्बन्ध में यह बात बहुत साफ शब्दों में कही गई कि (1) कोई भी खरक चीड़ की नई पौंध के समीप जानवरों को नहीं पालेगा साथ ही कोई भी नया खरक (वनों के भीतर मवेषियों को रखने के स्थान) तभी बनेगा जब उसे वन के डिवीजन अधिकारी से अनुमति मिल गई हो (2) प्रत्येक खरक केवल 20 नाली जमीन ही जोत सकता था तथा उसे केवल तम्बाकू के पत्ते, चुआ, आलू तथा अन्य सब्जियाँ ही उगाने की अनुमति थी। किसी भी प्रकार के आदेश की घोषणा के पूर्व वन के डिवीजन अधिकारी को डिप्टी कमिश्नर की लिखित अनुमति और स्वीकृति प्राप्त कर लेना अतीव आवश्यक था। (3) यदि किसी गाँव वाले को समीप में टिम्बर यथेष्ट रूप में अपने गाँव में नहीं मिलती थी तो अन्य गाँव वालों से टिम्बर खरीद सकता था किन्तु निशान लगे वृक्षों को ही प्रयोग में लाया जा सकता था। (4) खरक वाले लोग पेड़ों की शाखाएँ कलम करने के आदी होते थे जो कि नुकसानदेह तो था किन्तु इसके लिए कठोर नियम बनाना श्रेयस्कर नहीं था (5) घास चरने की जो परिपाटी वर्षों से जिस प्रकार चली आ रही हैं वह आज भी बदस्तूर कायम है। भेड़ बकरियों के पालने की संख्या में कोई सीमा बँधी हुई नही है। यत्र, तत्र, सर्वत्र वे ही चरती रहती हैं। नियम आदि कोई भी बन्धन सफल नहीं होते। (6) पानी की चक्कियाँ (घराट या घट) चाहे जंगलों के अन्दर हो या बाहर उन्हें भी लगान देना होगा, इनको चलाने वाली गूलों की अनुमति जंगल का डिवीजन अधिकारी डिप्टी कमिश्नर से पूछ कर ही दे सकता था और यह अनुमति अस्थायी ही होती थी। (7) जिन लोगों को वनों से निगाल काटने का अधिकार प्राप्त था वे जब निगाल काटते थे तो यह नहीं देखा जाता था कि वे कितनी मात्रा काट रहे हैं क्योंकि इसके कटने से मूल्यवान जंगलों को दावाग्नि का भय खत्म हो जाता था। अक्सर यह देखा गया था कि ऐसे वनों में गांव वाले वनाग्नि से उनकी सुरक्षा करते थे। (8) वन विभाग के कर्मचारियों का यह भी उत्तरदायित्व होता था कि जब पालतू जानवरों का झुण्ड जंगलों के बीच से गुजरता था तो सड़कों को कोई नुकसान या तोड़–फोड़ न हो।

दिसम्बर 1914 को गढ़वाल के वन दो भागों में बँट गए उत्तर एवं दक्षिण वन। सुरक्षित वनों के गाँवों की सन्निकटता होने के कारण 38 वर्ग मील भूमि गँवानी पड़ी। सन् 1917 से 2125 वर्गमील सुरक्षित वन गढ़वाल में घोषित किए गए। 1916 में औसमास्टन ने उत्तर गढ़वाल तथा भोला ने दक्षिण गढ़वाल के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनाईं।

एक दिसम्बर 1924 में उत्तर और दक्षिण गढ़वाल के दो डिवीजनों को एक कर दिया गया। पालतू पशु घोड़े खच्चर, गाय, बकरी, भेड़, भैस, गधे, बैल, पेड़ों के कटान की सीमाएं, दूरियां, लम्बाई आदि निर्धारित की गई और सन् 1930 में वन पंचायत के नियमों की रचना की गई तथा इसी वर्ष आर0 एन0 ब्रह्मवर (R.N. Brahmawar) ने उपरोक्त योजनाओं को संशोधित किया। चमड़ा, खाल, पत्थर, स्लेट तथा वन से प्राप्त अन्य खनिजों के निर्यात का एकाधिकार सरकार का रहेगा। डिप्टी रेन्ज ऑफीसर, रेन्ज ऑफीसर व इनसे ऊँचे वर्ग के अधिकारी समय–समय पर वनों का निरीक्षण करेंगें।

सन् 1947 में सी.एम जौहरी ने एक योजना बनाई जो सन् 1955 तक चलती रही। इसके अनुसार वनों को इन वर्गों में बाँटा गया।

1. **पुराने सुरक्षित वन**
2. **नवीन सुरक्षित वन (डिप्टी कमिश्नर के अन्तर्गत)**
3. **वर्ग 2 के सुरक्षित वन–वन विभाग के अन्तर्गत**
4. **पंचायत के वन**

न्याय व्यवस्थाः–

कुमाऊँ कमिशनर गढ़वाल तथा कुमाऊँ जिलों की अदालतों का सर्वोच्च अधिकारी होता था। इसके बाद इस कड़ी में अन्य पदाधिकारी असिसटैन्ट कमिश्नर, जूनियर एसिसटैन्ट कमिश्नर, अतिरिक्त असिसटैन्ट कमिश्नर, तहसीलदार सदर अमीन और पृथक सहायक अधिकारी होते थे। असिसटैन्ट कमिश्नर तथा सीनियर एसिसटैन्ट कमिश्नर पर सूट की धनराशि की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई थी किन्तु अन्य अधिकारियों के लिए सीमा निर्धारण इस प्रकार था; जूनियर असिसटैन्ट कमिश्नर 1000 रू. तक अतिरिक्त असिस्टैन्ट कमिश्नर तथा सदर अमीन 500 रू. तहसीलदार 300 रू.

सरकारी मालगुजारी :–

कमिश्नर तथा असिसटैन्ट कमिश्नर अपने डिवीजन में किसी भी स्थान पर तथा डी.एम. अपने जिले में किसी भी स्थान पर अपनी कोर्ट लगवा सकता था।

जिस भी व्यक्ति का इन अदालतों को सम्मन मिलता था कोर्ट में उसकी उपस्थिति अनिवार्य थी। गोद लेने की प्रथा कुछ शर्त्तों की साथ सर्वमान्य थी। गोद लिए पुत्र को अपनी जाति तथा गोत्र अपने गोद लेने वाले पिता का स्वीकार करना

http://uou.ac.in

पड़ता था और उसे वास्तविक पुत्र की तरह ही सारे अधिकार प्राप्त हो जाते थे। साथ ही घर जवाई की प्रथा भी चालू थी। जिस दम्पति के पुत्र नहीं होते थे वे अपनी पुत्री के पति को घर जवाई बना लेते थे। सम्पति पर मुख्य रूप से पुत्री ही अधिकारिणी होती थी। यह भी आवश्यक नहीं था कि दामाद अपने सास ससुर के गृह में रहे क्यों कि उसे अपनी पैतृक सम्पति पर भी अधिकार प्राप्त था।

उत्तराधिकारी नियम के अन्तर्गत लड़कों को ही पिता की सम्पति पर अधिकार था। लड़कियों का पिता की सम्पत्ति पर रंच मात्र भी अधिकार नहीं था। विधवा यदि पुत्र विहीन होती थी तो पति की सम्पति से उसे अपने पालन पोषण का खर्च मिलता था। पैतृक सम्पत्ति को बेचने का अधिकार उत्तराधिकारी को नहीं था।

विवाहः–

1. विवाहिता असल– जाति में समान स्तर के पुरूष से विवाह। कमअसल पति या पत्नी स्तर में थोड़ा नीचे।

2. अर्न्तजातीय विवाहों को मान्यता नहीं दी गई थी।

3. ढांटी– कोई विधवा यदि पुनर्विवाह कर ले, कोई जीवित भाई अपने मृतक भाई की पत्नी को अपनी पत्नी के रूप में रख ले, किसी स्त्री को धन देकर खरीदा गया हो, कोई विधवा स्त्री किसी हलिया, ठेकवा, या कथवा को अपने घर में पति के रूप में रख ले।

http://uou.ac.in

ववाह की निम्नाकिंत पद्धतियां प्रचलित थी।

कन्यादानः– पिता एक सुयोग्य व्यक्ति को अपनी कन्या दान में धार्मिक अनुष्ठानों के साथ दान में देता है वर, कन्या के घर आकर यह दान लेता है।

टका का विवाहः– वर पक्ष धनराशि वधू पक्ष को देता है। वर के घर पर ही गणेश पूजा होती है। वधू पक्ष कन्या को नथ देता है। वर के घर पर आंचल प्रथा होती है।

इसी प्रकार कुम्भ विवाह, प्रतिमा विवाह, अर्क विवाह (पेड़ के साथ विवाह), पानी धारा विवाह वर की अनुपस्थिति में सम्पन्न किए जाते थे। सत्यनारायण की कथा सुनाकर सत्यनारायण विवाह एकादशी तथा शिवरात्रि का व्रत कर पिता अपनी पुत्री का विवाह कर देते थे। गाय साक्षी विवाह, गाय को साक्षी मानकर वर वधू

गाय के चारों ओर चक्कर लगाकर गाय ब्राह्मण को दान कर विवाह सूत्र में बंध जाते थे।

सामान्य प्रबन्धन

यदि कोई व्यक्ति जमीन बेचना चाहता था तो नियमानुसार सर्वप्रथम उसे अपने सम्बन्धियों को पहला मौका देना अनिवार्य था। दूसरे नम्बर पर गाँव के हिस्सेदार आते थे। रीति रिवाजों को व्यवहारिक रूप देने के अलग–अलग तरीके थे। जैसे उपनयन संस्कार को कई जातियाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानती थीं और कई जातियाँ इसे कोई तवज्जू नहीं देती थी। समाज अनेक जातियों में बंट गया था। असली ब्राह्मण असली राजपूत खस जाति बनाए गए हिन्दू आदि। इसलिए विभिन्न रूढ़िवादियों के बन्धनों में जीना स्वाभाविक था।

पानी के लिए झगड़े होते थे, सिंचाई की व्यवस्था भी थी, झगड़ों की शिकायत मालगुजारी न्यायालयों में होती थी। अपीलें डिप्टी कमिश्नर, कमिश्नर के अधिकार क्षेत्र में थीं। घराटों (Water Mills) पर भी कर लगाया जाता था और साथ ही घराट बनाने की अनुमति अधिकारियों से लेनी पड़ती थी।

ब्रिटिश गढ़वाल में पुलिस का कार्य मालागुजरी अधिकारी ही करते थे। तहसीलदार, थोकदार, कानूनगो, पेशकार, पटवारी आदि। कोर्ट ऑफ क्रिमिनल प्रोसीजर 1898 के अनुसार कानूनगो को पुलिस इंन्सपैक्टर तथा पटवारी को सब–इंसपैक्टर का अधिकार दिया गया था। थोकदार तथा पधान को भी पुलिस पावर दी गई थी और वे अपराध की सूचना पटवारी को देते थे। तीन पुलिस स्टेशन यद्यपि श्रीनगर, कोटद्वार एवं लैन्सडाउन में खोले गए थे किन्तु इनका कार्य मुख्यतः बद्रीनाथ एवं केदारनाथ जी की यात्रा पर आए तीर्थयात्रियों की व्यवस्था के लिए होता था। पौ ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि यहाँ अपराध नहीं के बराबर होते थे प्रादेशिक अभिलेखागार लखनऊ द्वारा दी गई रिपोर्ट (1912–42) में लिखा गया हैं कि गढ़वाल में अपराधों की संख्या नगण्य थी। 'श्री. जी.आर. काला जो सन् 1945 में उत्तर प्रदेश सिविल सर्विसेज से निवर्त्त हुए थे।' उन्होंने अपनी पुस्तक "Memoirs of the Raj Kumayun" में इस बात की पुष्टि की है। लोग शान्ति से रहते है, लोग शान्ति प्रिय हैं इसलिए अपराधों की नौबत ही नहीं आती।

जेल प्रबन्धः–

सर्वप्रथम 1816 में एक जेल अल्मोड़ा में स्थापित की गई, कुछ साल बाद पौड़ी में 1850 में जेल स्थापित की गई। पुरूष व स्त्रियों के लिए अलग–अलग कक्ष

थे। कैदियों को पहले पका हुआ भोजन पूरे दिन एक मर्तबा मिलता था फिर दो जून पका भोजन मिलने लगा। जेलों में कैदियों के आचरण व चरित्र उत्थान के लिए उन्हें पढ़ाया जाता था। ये जो शरीरिक श्रम करते थे उससे प्राप्त धन से उनके लिए पुस्तकों की व्यवस्था की जाती थी, साथ ही उन्हें इस प्रकार का कार्य एवं प्रशिक्षण भी दिया जाता था, कि वे मुक्त होने पर अपना जीवन यापन ईमानदारी से कर सकें।

शिक्षाः–

सन् 1840 से लगातार शिक्षा के उन्नयन के विभिन्न प्रयास किये गये। इस वर्ष श्रीनगर में एलिमेंटरी वर्नाक्यूलर स्कूल की स्थापना की गई। 1854 में शिक्षा देने के लिए पृथक विभाग का गठन किया गया तथा 1880–81 तक 59 प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की गई जिनकी संख्या 1900–1901 तक 76 हो गई। एपिसकोपल मैथोडिस्ट अमेरिकन मिशन ने सर्वप्रथम 1865 में पौंड़ी के समीप चोपड़ा में हाई स्कूल स्थापित किया। इसी मिशन ने गुडोली में 1896 में बालक एवं बालिकाओं के लिए एक प्राइमरी स्कूल खोला। 1903 में यह विद्यालय, मिडिल स्कूल के रूप में उत्थापित किया गया एवं सर्वप्रथम 1905 में बालिकाएं इस केन्द्र से परीक्षा में बैठीं। 1906 में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अधिनियम के प्रख्यापन के पष्चात् षिक्षा के संचालन का अधिकार डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को दे दिया गया। बोर्ड में 15 मनोनीत सदस्य हुआ करते थे तथा अध्यक्षता जिलाधिकारी करता था किन्तु 1921 में इस व्यवस्था में सुधार लाया गया एवं 1945–46 तक इन विद्यालयों की संख्या बढ़ कर 473 हो गई जो कि सरकार द्वारा प्राप्त धन से चलती थी। 40 मान्यता प्राप्त विद्यालय शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए भी खोले गये। सब इन्सपैक्टर, असिसटेन्ट इन्सपैक्टर, इन्सपैक्टर, डिस्ट्रिक्ट इन्सपैक्टर जैसे अधिकारियों की नियुक्ति उचित मार्ग दर्शन, निरीक्षण एवं शिक्षा के उन्नयन के लिए की गई। एक सरकारी हाईस्कूल दोगड्डा में एक कोटद्वार में एक गवर्नमेन्ट एंग्लोहाईस्कूल कर्णप्रयाग में, एक इण्टर मीडिएट कॉलेज लैन्सडाउन, एक श्रीनगर और एक पौड़ी में खोला गया।

रोगों के निवारणार्थ उठाए गए कदमः–

प्लेग, कौलरा, मलेरिया आदि बीमारियाँ गढ़वाल के गाँवों में फैलती ही रहती थी जिसमें 60 प्रतिशत तक जनसंख्या खत्म हो जाती थी। डा. फ्रान्सिस, डा. पीटर्सन, जी.एफ. एडैम्स आदि ने इन आपदाओं के फैलाने का मुख्य कारण बताया, गॉववासियों का अपने जानवरों के साथ मवेशी खाने में ही स्वयं का निवास बना

लेना या उनके समीप ही अपना घर बना लेना, जिससे अपेक्षित स्वच्छता की बहुत ही कमी रहती है। इस लिए सरकार ने स्वच्छता अभियान के साथ अनेक छोटे–छोटे औषधालय खोल दिये। तीर्थ यात्रा के रास्तों में ऐसे नौ तथा पाँच अन्य स्थानों में औषधालय खोले गये। सन् 1907 में तीर्थ यात्रियों के लिए कन्डी, श्रीनगर, उखीमठ, बद्रीनाथ, चमोली, जोशीमठ, कर्णप्रयाग में अस्पताल स्थापित किये। एक मिशन अस्पताल चोपड़ा में। बाद में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को यह उत्तरदायित्व मिलने पर पौड़ी बंगहाट, कोटद्वार तथा विरोन खाल में भी छोटे–छोटे औषधालय खोले गये। सन् 1901 में श्री नगर में एक कोढ़ीखाना खोला गया जिसका खर्च टिहरी राज्य ने उठाना स्वीकारा।

यातायात और संचारः–

ब्रिटिश सरकार से पूर्व गढ़वाल में पैदल रास्तों से या नदी तैर कर ही सूचनाएँ भेजी जाती थीं, एक दूसरे से सम्पर्क किया जा सकता था। ब्रिटिश सरकार ने नदियों के और नालों के ऊपर पुल बनवा दिए जिससे परस्पर सम्पर्क आसान हो गया। एक विशालकाय मार्ग तीर्थ यात्रियों के लिए हरिद्वार से केदारनाथ व बद्रीनाथ तक और बाद में रामनगर तक बनाया गया। सन् 1947 तक सरकार ने सड़कों को तीन वर्गों में बांटा, प्रथम वर्ग में डामरवाली सड़के, द्वितीय वर्ग में सड़कें जो डामर वाली नहीं थी किन्तु उनका रख रखाव उत्कृष्ट था एवं नदी नालों के पुलों से युक्त थीं। तृतीय वर्ग की सड़कें इतनी अच्छी नहीं थी। वनों की भी 220 मील लम्बी सड़कें यहाँ थी। यातायात का सर्वाधिक बड़ा और सर्वश्रेष्ठ साधन केन्द्र बना, सन् 1884 में अवध और रूहेलखण्ड रेलवे मार्ग जो नजीबाबाद तक था।

डाक प्रबन्धः–

सरकार ने एक डाक घर लगाया था। डाक सेवाएँ चालू थीं, जिसमें डाकिए हर गांव में डाक बाटते थे। तार विभाग द्वारा केदारनाथ तथा बद्रीनाथ तक डाक सुविधाएँ उपलब्ध करा दी गईं।

स्थानीय व्यवस्थाः–

गढ़वाल में पूर्व में कोई नगरपालिका नहीं थी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ही सब प्रबन्ध करती थी। कालान्तर में यहाँ 21 निर्वाचन क्षेत्र बनाए गए और हर निर्वाचन क्षेत्र से

एक–एक सदस्य चुनने का अधिकार वहाँ की स्थानीय जनता को मिला। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को ही शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात व संचार व्यवस्था, पशु चिकित्सा आदि का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। अप्रैल 1927 से बोर्ड ने अपना सारा कार्य हिन्दी में करने का निर्णय लिया था।

आय के साधन :–

ब्रिटिश गढ़वाल कृषि प्रधान था। सबसे बड़ी आय का स्त्रोत लगान थी जो नकद रूप में ही भुगतान की जाती थी। गेहूँ और चावल इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न होता था कि उनका निर्यात बिजनौर और तिब्बत को किया जाता था।

तीर्थ यात्रियों द्वारा भी बहुत आमदानी होती थी, नजीबाबाद रेलवे मार्ग खुलने से तीर्थ यात्रियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि सन् 1896 में पाँच लाख रूपये की आमदानी हुई। तीर्थ यात्रियों के लिए जो विभिन्न चट्टियाँ जगह–जगह पर ठहरने के लिए बनी थी उससे सरकार को बहुत फायदा होता था। जाड़ो के मौसम में जब जंगलों में भरपूर कार्य होता था तो सरकार की आमदानी भी बहुत बढ़ जाती थी। ब्रिटिश सरकार ने चाय बागान लगवा कर आय को बढ़ाने की चेष्टा की। सन् 1847 में मात्र 18 एकड़ चाय बागान, केवल 12 वर्षों के अन्तराल में 1859 ई0 में 350 एकड़ हो गये और चाय की एक फैक्टरी भी चालू हो गयी।

ब्रिटिश लोगों ने धानपुर तथा नागपुर की तांबे की खानों से भी आमदानी में इजाफा करने का एक असफल प्रयास किया। गढ़वाल के लोग अत्यधिक साहसी, शूरवीर एवं रणबांकुर रहे हैं। ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने इस गुण को पहचाना। सन् 1885 में सर फ्रेडरिक रौबर्ट्स ने जब भारतीय कमान सम्भाली तो पाया कि गोरखा बटेलियन्स में शौर्य और वीरता के तमगे पाने वाले अधिकतर सैनिक गढ़वाल के है। इसलिए सन् 1890 में तुरन्त ही सैकिन्ड गढ़वाल राइफल्स का निर्माण हुआ। एक वर्ष में एक लाख रूपये के मनीआर्डर यहाँ आते थे जिससे एक ओर सेना में कार्य करने वालों का जीवन स्तर बहुत अच्छा हो गया और दूसरी ओर सरकार की आय के स्त्रोत भी बढ़ गए। उदाहरणार्थ सन् 1917 में जब भुखमरी हो गई थी और अनाज की कमी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी तब केवल गढ़वाली सैनिकों ने दस हजार रूपये का दान इस समस्या के निवारण के लिए दिया था।

गढ़वाल में राजनैतिक मतभेदों के कारण

मध्य एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए तथा तिब्बत में व्यापार एवं धार्मिक प्रसार करने के लिए गढ़वाल का राजनैतिक एवं सामरिक महत्त्व

अंग्रेजों की दृष्टि में बहुत ही बढ़ गया था। नीति तथा माणा नामक दर्रों से तिब्बत में इनकी पहुँच बहुत ही आसान हो गई थी। लोगों का विश्वास जीतने के लिए इन्होंने अनेक उपाय किए। जैसे आर्म एक्ट के द्वारा भारत में हथियार रखने पर पाबन्दी लगा दी गई किन्तु इसके विपरीत कुमाऊँ कमिश्नर हेनरी रैमजे से कुमाऊँ और गढ़वाल की जनता की रस्मों के अनुसार शादी में फायर दागने एवं खुखरी रखने की अनुमति प्राप्त की थी। गोरखा शासनकाल में गढ़वाल के लोगों को दास बनाकर बेच जाता था` इसे अंग्रेज सरकार ने रोक दिया।

सन् 1867 में जब ब्रिटिश गढ़वाल में रबी की खेती नष्ट हो गई थी तो दस हजार रूपये बतौर सहायता इस हानि से जूझने के लिए कृषकों को दिए गए। इसी प्रकार सन 1917 में खरीफ की फसल के नष्ट होने पर 24762 रूपये कृषकों की सहायतार्थ दिए गए। किसानों को ऋण देने की भी भरपूर व्यवस्था की गई, इसके लिए 58 कृषि समितियाँ तथा एक गैर कृषि समिति बनाई गईं। मवेशियों को रोगों से बचाने के लिए चलायमान पशु चिकित्सालयों का प्रबन्ध किया गया। तीर्थ यात्रियों के लिए लघु औषधालय तीर्थ भागों पर खोले गए ताकि बीमार पड़ने पर रोगी चट्टी पर ही छूट जाने पर हताश निराश अपना दम न तोड़ दें। इस प्रकार 19वीं एवं 20वीं शताब्दी में दुर्भिक्ष निवारण हेतु जो उत्कृष्ट कार्य बिट्रिष गढ़वाल तथा टिहरी गढ़वाल राज्य में किए गए उससे पर्वतीय क्षेत्र में लोग आकर बसने लगे।

एक ओर तो ब्रिटिश शासन लोगों का दिल जीत रहा था किन्तु दूसरी ओर विभाजन और शासन की प्रक्रिया पर अमल कर रहा था। पधान, थोकदार, कानूनगो नामक अधिकारियों के पद को पुश्तैनी बना दिया गया जिससे अंग्रेजी शासन का यह वफादार तबका साधारण किसानों से दूर हो गया।

इसी प्रकार गढ़वाली रैजीमैन्ट की स्थापना कर सरकार ने गढ़वाली सैनिकों की वीरता का भरपूर लाभ उठाया ही व उन्हें अपना अनुशासित वफादार सेवक भी बना लिया। इस प्रकार सरकार ने यद्यपि एक ऐसा वातावरण बना लिया था जिसमें साधारण एवं सामान्य जनता सन्तुष्ट थी किन्तु असफल वन नीति तथा कुली बेगार जैसी घृणित नीति ने विरोध का प्रस्फुटन कर ही दिया। जब भी इन कुत्सित कार्यों का विरोध किया गया तो शुरू में विरोधियों के सिर पर बोरा या कमोड रख कर चलाया जाता था।

कुली उतारः–

ब्रिटिश अधिकारी व उनके कारिन्दे जब भी किसी यात्रा पर जाते थे तो उस स्थान में रहने वालों को उन सबका सामान ढोकर ले जाना पड़ता था चाहे वह किसी भी जाति या वर्ग के हों।

कुली बेगारः–

पहाड़ के लोगों को ब्रिटिश अधिकारियों की यात्रा में सामान ढोने के लिए पारिश्रमिक के रूप में एक पैसा तक नहीं मिलता था निःशुल्क उन्हें यह काम बलात् करना पड़ता था।

कुली बर्दायशः–

ब्रिटिश अधिकारी जहाँ भी जाए वहाँ के लोगों के लिए सबसे जरूरी बात यह थी कि स्थानीय लोग उन लोगों के लिए निःशुल्क भोजन की व्यवस्था करें। न करने पर हेनरी रैमजे जैसा कुमाऊँ कमिश्नर जो कि अपने गुण, अपने सदव्यवहार के कारण लोगों को अत्यधिक प्रिय था उसने तक सोमेश्वर पट्टी के लोगों को निःशुल्क भोजन का प्रबन्ध न करने पर उनसे 500 रूपया जुर्माने के रूप में वसूला।

कुली उतार के लिए नैनीताल, अल्मोड़ा, खत्याड़ी, बागेश्वर में जर्बदस्त विरोध शुरू हो गया। बी.डी. पाण्डे, हरगोविन्द पन्त, मोहन सिंह मेहता, चिरन्जीलाल मूर्धन्य नेता थे। अन्त में इस प्रथा का जन आन्दोलन के फल स्वरूप बागेष्वर में उन्मूलन कर दिया गया। गढ़वाल में बैरिस्टर मुकुन्दी लाल ने चमेठा खान में एक जनवरी 1921 को इस प्रथा के विरोध में जो सभा की थी उसमें अध्यक्ष का पद ग्रहण किया था।

गढ़वाल राज्य को गोरखाओं ने परमार वंश से छीन लिया था। इस समय परमार वंश के वारिस सुदर्शन शाह थे। अंग्रेजों ने बड़ी चालाकी से मौके का फायदा उठाया। सुदर्शन शाह को दिखावे के रूप में गद्दी, शान शौकत, कर लेने का अधिकार आदि सौंप कर अंग्रेजों ने नकेल अपने हाथों में रखी। राजा तो नाम का शासक था, अप्रत्यक्ष रूप में सारे अधिकार अंग्रेजी सरकार के थे। सुदर्शन शाह को बारम्बार राज्य शाही खत्म करने का भय भी अंग्रेज सरकार दिखाती रहती थी क्योंकि राजा का वारिस नहीं था। बड़ी मुश्किलों के बाद उन्हें अंग्रेजी सरकार ने एक पुत्र को गोद लेने की अनुमति प्रदान की। कुछ सुधार जैसे एक 'कृषि बैंक' की स्थापना ताकि परेशानी के समय कृषकों को इस बैंक से ऋण मिल सके, हरिजनों को गुलाम बनाने की प्रथा, निर्धन और नीचे तबके की स्त्रियों को बेचने की प्रथा को खत्म कर दिया गया। निर्धन एवं निराश्रयों के लिए आश्रय स्थल भी खोले गए किन्तु कुछ कारणों वश जनता में असन्तोष था। जैसे रवांई (Rawain) के इलाके के लोगों की संस्कृति, रीति–रिवाज जौनसारी लोगों से मिलते जुलते थे तो उन्हें अंग्रेजी सरकार ने जबर्दस्ती टिहरी राज्य में मिला दिया। इसी प्रकार अंग्रेजी सरकार की वन नीति एवं कुली उतार आदि कुप्रथाओं से कुमाऊँ तथा गढ़वाल में बहुत ही रोष और असंतोष था।

सन् 1903 में कुछ युवकों ने अल्मोड़ा में एक 'यूथ क्लब' की स्थापना की जिसका उद्देश्य जनता में राजनैतिक जागृति जगाना था। सन् 1912 में कांग्रेस पार्टी की एक शाखा कुमाऊँ कमिश्नरी में खोली गई। इसी वर्ष इलाहाबाद में जो कांग्रेस का सम्मेलन हुआ उसमें भागीदारी करने के लिए कुमाऊँ से वाचस्पति पन्त, ज्वाला दत्त जोशी, हरीराम पाण्डे, मुंशी सदानन्द सनवाल, शेख मनुल्ला, माधव गुरूरानी एवं बद्री दत्त जोशी गए थे। होम रूल गवर्नमेन्ट बनने के साथ ही अल्मोड़ा में मोहन जोशी, चिरन्जीलाल, हेम चन्द्र, बद्रीदत्त पाण्डे ने होमरूल की एक शाखा खोली। सन् 1916 में कुमाऊँ परिषद की स्थापना नैनीताल में की गई जिसका उद्देश्य नैनीताल, अल्मोड़ा और गढ़वाल में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं पर विचार–विमर्श कर निवारण करना था। कालान्तर में पूरे पर्वतीय प्रदेश में इसकी शाखाएं खुलती चली गईं। इसके साथ ही सम्भवतः पर्वतीय प्रदेश की जनता यहाँ आने वाली बड़ी विभूतियाँ से भी अत्यन्त प्रभावित रही जैसे स्वामी विवेकानन्द जिन्होंने श्रीनगर और टिहरी में निवास किया, माना जाता है कि प्रसिद्ध क्रांन्तिकारी भाष्कर जोशी ने 1879 में गुप्त रूप से रासबिहारी बोस से मिलकर अल्मोड़ा में रूककर एक गुप्त संगठन की रचना की थी। यह भी कहा जा सकता है कि चन्द्रशेखर आजाद तथा कुछ अन्य क्रान्तिकारियों ने रिवाल्वर चलाने का अभ्यास गढ़वाल में किया था।

स्वामी सत्यदेव, लाला लाजपतराय, दयानन्द सरस्वती, केशव चन्द्र सेन, मोतीलाल नेहरू, रविन्द्रनाथ टैगोर, डा. भगवानदास, श्रीमती एनी बेसेन्ट, मदन मोहन मालवीय, पुरूषोत्तम दास टण्डन, स्वामी रामतीर्थ ने कुमाऊँ और गढ़वाल की यात्राएं की। वे नैनीताल और अल्मोड़ा के लोगों में चेतना लाने के लिए अग्रगण्य रहे। बुद्धिबल्लभ पन्त द्वारा 1870 में अल्मोड़ा में एक 'डिबेटिंग क्लब' खोलना, स्वामी सत्यदेव द्वारा 1913 में अल्मोड़ा में 'शुद्ध साहित्य समिति' की स्थापना तथा ग्रीष्मकाल में अपने आवास में ही इस प्रकार की शिक्षा व जागृति के लिए स्कूलों को खोलना, नागरी, प्रचारिणी सभा की शाखा 'प्रेम सभा' की 1914 ई. में, काशीपुर में स्थापना, टिहरी में 1935 में बाल सभा, 1939 में टिहरी राज्य प्रजा मण्डल देहरादून, 1940 में देवप्रयाग, लाइब्रेरी, सरस्वती विद्यालय तथा हिमालय विद्यापीठ की स्थापना सब जनता को चैतन्य करने के स्तम्भ थे गढ़वाल में। इस कीर्ति में प्रकाशन क्षेत्र की भूमिका भी अद्वितीय रही। 'अल्मोड़ा अखबार' 'शक्ति साप्ताहिक', 'स्वाधीन प्रजा', 'गढ़वाली, कर्मभूमि साप्ताहिक', 'जागृत जनता', गढ़वाल समाचार, 'विशाल कीर्ति पुरूषार्थ आदि ने भी जनता को जागृत करने की पुरजोर कोशिश की। इस श्रृंखला में श्री देव सुमन का नाम टिहरी में अग्रण्य हैं, अग्रण्य जिन्होंने अपनी लेखनी की प्रतिभा से गढ़वाल की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं पर अनेक लेख लिख कर जनता को जगाया। 19 वीं तथा 20वीं सदी में कुमाऊँ तथा गढ़वाल के कुछ ऐसे साहित्यकार हुए जिन्होंने सामाजिक बुराईयों पर प्रकाश डालते

http://uou.ac.in

हुए राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय प्रेम, राष्ट्रवाद की शिक्षा दी। इन प्रसिद्ध विभूतियों के नाम थे गुमानी मोलाराम, गौरा दा. हेम चन्द्र जोशी, डा. भगवती प्रसाद पान्थ्री एवं बद्रीलाल साह।

आर्य समाज की शिक्षाओं और सुधारों ने भी प्रशंसा योग्य कार्य किया। सर्वाधिक सर्वोत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ योगदान रहा गढ़वाल सेनाओं का, जिन्हें जर्मन लोग मित्र सेनाओं के तूफानी सैनिक कहते थे। प्रथम विश्व युद्ध में कुल पाँच विक्टोरिया क्रौस भारतीय सैनिकों को मिले थे जिनमें दो दरबान सिंह तथा गबर सिंह गढ़वाल सेना के थे। 10 मिलिट्री क्रौस जो भारतीय सेनाओं को मिले थे उनमें चार गढ़वाली सेना के थे। वफादारी में भी वे अद्वितीय थे किन्तु समय की करवटों ने उन्हें बेमिसाल वास्तविकता की ज्वालामुखी का ज्ञान कराना शुरू कर दिया। विरोध का प्रथम कदम 23 अप्रैल सन् 1930 में चन्द्रसिंह गढ़वाली का था उन्होंने और उनके साथियों ने पेशावर में खान अब्दुलगफ्फार के अनुयायियों को गोली से भूनने का अंग्रेजों का हुक्म मानने से इनकार कर दिया। उन्हें तत्काल पकड़ लिया। गया सन् 1942 में रॉयल गढ़वाल राइफल्स की दो टुकड़ियाँ 2/18 तथा 6/18 'आजाद हिन्द फौज' में शामिल हो गई। जिनकी संख्या 2500 थी जिनमें से 600 सैनिकों ने आजादी के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। आजाद हिन्द फौज में भी गढ़वाली सैनिक अच्छे पदों पर नियुक्त किए गये। लेफ्टीनेन्ट कर्नल चन्द्रसिंह नेगी ऑफीसर्स ट्रेनिग स्कूल सिंगापुर के कमान्डर नियुक्त हुए। मेजर देवसिंह दानू, नेताजी बोस की व्यक्तिगत गार्ड्स बटेलियन के कमान्डर, लेफ्टीनैन्ट कर्नल बुद्धि सिंह रावत नेता जी सुभाष चन्द्र के पर्सनल एडजुटैन्ट, मेजर पदमसिंह गोंसाई सुभाष रैजीमेन्ट की तीसरी बटेलियन तथा लैफ्टीनैन्ट कर्नल रतूड़ी पहली बटेलियन का नेतृत्व कर रहे थे।

सन् 1944 में अराकन फ्रन्ट पर रात्रि के अंधेरे में बिजली जैसी फूर्ती से सफलता प्राप्त कर, वृहद मात्रा में अनाज तथा हथियारों का जखीरा प्राप्त किया। इसलिए नेता जी ने प्रसन्न होकर कमान्डर रतूड़ी को सरदार ए–जंग उपाधि से स्वयं नवाजा।

इसी कारण फिलिप मेसन ने इस पर टिप्पणी की थी कि गढ़वाली सैनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त सफलताएं इन समस्त सैनिकों को राष्ट्रवाद एवं राष्ट्र प्रेम से सराबोर कर देती हैं।

ब्रिटिश गढ़वाल में राजनैतिक आन्दोलन

गढ़वाल में गोरखा राज्य दुर्भाग्यवश अत्यन्त यातनापूर्ण, दानवीय अत्याचारों से भरा हुआ समय था, अतएव जब अंग्रेजों ने इसे अपनाया तो तुलनात्मक रूप से

अंग्रेजी शासन गढ़वाल की जनता को बेहतर लगा। इसके साथ ही हेनरी रैमजे (कमिश्नर) का सद्व्यवहार जनता की शिकायतें सुनना उन पर अमल करना, गाँव में गाँववालों की झोपड़ियों में प्रवेश कर उनके साथ जमीन पर बैठकर ही खाना खा लेना, उनकी बोली में ही बोल लेना, बात करना बहुत बड़ी विशेषता थी। इसलिए सन् 1857 की क्रान्ति का गढ़वाल पर कोई विषेष असर नहीं पड़ा।

कालान्तर में जागृति की इस लहर में रायबहादुर तारादत्त गैरोला, चन्द्रमोहन रतूड़ी, धनी राम शर्मा गिरजा दत्त, जोध सिंह नेगी डा0 पातीराम, कुलानन्द बर्थवाल तथा विशम्भर दत्त चन्दोला ने मार्ग दर्शन किया किन्तु गोखले की तरह इनकी नीति अंग्रेजो को खुश कर सामाजिक सुधार लाने की थी। सन् 1919 में मुकुन्दीलाल तथा अनुसूया प्रसाद बहुगुणा ने कांग्रेस के अमृतसर सम्मेलन में भाग लेकर गढ़वाल में रोलेट एक्ट के खिलाफत की कोशिश की किन्तु अपेक्षित सफलता नहीं मिली तो इन्होंने जनता के रूख को देखकर कुली उतार कुली बेगार व कुली बरदायश पर तीखी टिप्पणी की। जनता तो इन कुत्सित प्रथाओं से चिढ़ी हुई तो थी ही उसने आन्दोलन का बिगुल फूंक दिया। ईश्वरी दत्त ध्यानी तथा मंगतराम नामक दो पधानों ने विरोध में अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया। गढ़वाल से बनारस विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक लौट आए और उन्होंने सरकार का जमकर विरोध किया। गजेरागाँव पौड़ी के केशर सिंह ने एस.डी.एम. के रीडर के पद को ठोकर मार कर आन्दोलन की लौ को और भी प्रज्वलित कर दिया। इसी बीच जोध सिंह नेगी ने बहुत सी कुली एजेन्सी बनाई जिनका काम था सरकार को जरूरत पड़ने पर अपेक्षित मात्रा में कुलियों की आपूर्ति, परिणामस्वरूप श्री नेगी जनता के बीच इतने अधिक लोकप्रिय हो गए कि ब्रिटिश गढ़वाल की जनता ने उन्हें विधान परिषद में विशाल बहुमत से चुना।

ब्रिटिश गढ़वाल के कुछ लोग स्वराज पार्टी के आदर्शो से प्रभावित थे जिनके अग्रगण्य नेता थे मुकन्दी लाल। सन् 1929 में कांग्रेस लाहौर अधिवेशन में गढ़वाल के कुछ नेताओं ने भाग लिया था उनके जोश को गढ़वाली सैनिको के पेशावर में निहत्थे लोगों पर गोली चलाने की सरकार की आज्ञा की सरेआम अवज्ञा ने दूना कर दिया था। सत्याग्रह को केन्द्रित कर गोविन्दबल्लभ पन्त को अपरिहार्य कारणों से अनुपस्थिति पर हरगोविन्द पन्त को सभापति का पद देकर अपने पक्ष में दोगड्डा में एक जुलूस का भी आह्वान किया किन्तु अपेक्षित सफलता न मिली। 9 जून 1930 में पुनः एक सभा का आयोजन पौड़ी में हुआ जिसमें भावी योजनाओं की पूर्ण रूपरेखा तैयार की गई। इसमें भी सभापति का पद हरगोविन्द पन्त को ही दिया गया। सत्याग्रह समितियां बनाई गई। तीसरी सभा जून के अन्त में कोट महादेव में की गई। सभा के समापन के बाद इन लोगों ने गाँव प्रति गाँव जाकर आन्दोलन का प्रसार किया, जनता के बढ़ते हुए आक्रोश और असन्तोष को देखते हुए पूरे गढ़वाल

में धारा 144 लागू कर दी गई। इसके विरोध में जनता ने डिप्टी कमिश्नर इबर्टसन को काले झण्डे दिखाये तथा धारा 144 का उल्लंघन किया। प्रतिरोध में आन्दोलनकारियों को सरकार ने पकड़ कर जेल में डाल दिया किन्तु सजाएं जनता के विरोध को रोक न सकीं तथा 8 अक्टूबर 1930 को पुनः एक जनसभा यमकेश्वर में की गई। उन्हीं दिनों 5 मार्च 1931 को गांधी इरविन पैक्ट के तहत अनेक आन्दोलनकारियों को रिहा कर दिया गया था। रिहा किये गये ये राजनैतिक कैदी तथा अन्य लोगों ने मिलकर 1931 में एक रैली का आयोजन किया। इसकी अध्यक्षता ज्वालापुर गुरूकुल के प्रधान नरदेव शास्त्री ने की तथा इसमें 6000 प्रतिभागी उपस्थित थे। उन दिनों दोगड्डा गढ़वाल की राजनीति का केन्द्र बन चुका था। 1932 में वहां दलित वर्ग के उत्थान हेतु सम्मेलन आयोजित किया गया जिसके परिणामस्वरूप हरिजन बच्चों को ऊँची जाति के बच्चों के साथ पढ़ने की अनुमति दी गई।

श्री नगर सम्मेलन 1938:–

बीमार होने के कारण आचार्य नरेन्द्रदेव की अनुपस्थिति में स्थानीय नेता प्रताप सिंह को अध्यक्ष पद दे दिया गया। किन्तु इसी बीच जवाहर लाल नेहरू तथा श्रीमती विजय लक्ष्मी के अचानक उपस्थित होने पर इस सम्मेलन में चार चांद लग गए। श्री देव सुमन ने ब्रिटिश गढ़वाल तथा टिहरी गढ़वाल को एक करने का सफल नारा बुलन्द किया, साथ ही गढ़वाल में सड़कों के निर्माण पर भी पूरा जोर दिया गया। कार्य पूरा न होने पर जिला परिषद के सदस्यों तथा प्रदेश प्रतिनिधियों से इस्तीफा देने की विनती करने का विचार रखा गया।

31 मार्च 1938 में इस्तीफा देने की प्रक्रिया शुरू होने से पूर्व ही असफल हो गई क्योंकि आन्दोलनकारी दो हिस्सों में बँट गए। पहला वर्ग समग्र भारत को एक मानता था किन्तु दूसरा वर्ग क्षेत्र वादी था यानी गढ़वाल का कल्याण हो उसके बाद शेष भारत एवं भारतवासी। इन्होंने इसी मुद्दे को लेकर गढ़वाल जागृत संघ की स्थापना की। प्रताप सिंह नेगी अध्यक्ष, उमानन्द बर्थवाल सचिव बनाए गए। गढ़वाल में सड़कों का निर्माण ब्रिटिश गढ़वाल के चुने हुए नुमाइन्दे ही गोविन्द बल्लभ पन्त की सहायता एवं सफल प्रयास से करवा पाए और गढ़वाल जागृत संघ को मुँह की खानी पड़ी किन्तु जागृत करने में इनकी अहम् भूमिका रही।

सन् 1940–41 में गाँधी जी द्वारा आहूत व्यक्तिगत सत्याग्रह द्वितीय विश्व युद्ध में भारतीयों की भागीदारी के विरोध में था तथा इसमें शीर्ष नेता विनोवा भावे एवं नेहरू को जेल में डाल दिया गया। इससे प्रभावित होकर कुमाऊँ कमिश्नरी में लोगों ने खुलकर सरकार का विरोध किया, फलतः उन्हें भी जेलों में ठूस दिया

गया। ब्रिटिश गढ़वाल की जनता ने भी सन् 1940 में गाँधी जी के साथ डोला पालकी जैसी घृणित प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सत्याग्रह आरम्भ कर दिया।

डोला पालकी समस्याः–

इस प्रदेश में एक विडम्बना यह थी कि उच्च वर्ग के लोगों के लिए पालकी बनाने वालों को पालकियों पर बैठने का अधिकार नहीं था, यहाँ तक कि अगर वे लोग विवाह के अवसरों पर दूल्हा या दूल्हन को पालकियों में बैठाते थे तो उन्हें बुरी तरह मारा पीटा जाता था। इस प्रकार के दानवीय अत्याचारों से दुखी होकर एक समाज सुधारक रमेश चन्द्र बहुखण्डी ने इसकी सूचना महात्मा गाँधी को दी और बापू ने ऐसे अत्याचारियों की सत्याग्रह में शामिल होने पर पूर्ण रोक लगा दी, साथ ही यह भी घोषणा कर दी कि ब्रिटिश गढ़वाल में अवज्ञा आन्दोलन भी चालू रखा जाएगा जब हरिजनों को डोला पालकी के दानवीय बन्धनों से मुक्त किया जाएगा 25 जनवरी 1941 को ब्रिटिश गढ़वाल में जनसम्बन्धी अवज्ञा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस पर 23 फरवरी 1941 को लैन्सडाउन में एक जनसभा की बैठक में भारी मात्रा से डोला पालकी प्रथा के पुराने रूप पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव पारित किया गया और इस सुधार को पूरे ब्रिटिश गढ़वाल ने स्वीकारा। कमल सिंह तथा बलदेव सिंह आर्य के नेतृत्व में एक समिति बनी जो इसका पालन करवाएगी। ब्रिटिश सरकार ने भी एक नियम पारित किया कि जो भी व्यक्ति हरिजनों को पालकियों के प्रयोग से रोकेगा उसे दण्ड मिलेगा।

भारत छोड़ो आन्दोलन और ब्रिटिश गढ़वाल :–

अंग्रेजों भारत छोड़ो आन्दोलन के अन्तर्गत छात्रों ने विघटनात्मक कार्य प्रारम्भ कर दिए जैसे टेलीफोन के तारों को काट देना, पट्टी खादेर में सियाखेन के वन विभाग के डाक बंगले में आग लगा कर उसे तबाह कर देना, चमोली के उप डाकखाने को जलाने की कोशिश जिसके अपराधी नारायण सिंह को सात वर्ष का कारावास मिला। चंवर सिंह नेगी के नेतृत्व में रामनगर से हरिद्वार तक जो लकड़ी के लट्ठे बहाए जाते थे उन्हें जलाने की कोशिश की गई किन्तु अंग्रेजों ने इसे नाकाम कर दिया। विरोध के यह स्वर अवरूद्ध नहीं हुए, पौड़ी के छात्रों ने एक ऐसा विशाल जुलूस निकाला जिसमें सरकारी कर्मचारियों के बच्चों ने भी खुलकर भाग लिया। पहले तो डिप्टी कमिश्नर ने गोली चलाने का आदेश दिया किन्तु समय की गम्भीरता को देख कर उसे आदेश वापस लेना पड़ा और जुलूस ने कोर्ट में तिरंगा फहरा दिया। एक बाल सेना की भी रचना हो गई। धीरे–धीरे जनता इन राजनैतिक विरोध की ओर आकर्षित होती चली गयी, विरोधियों की संख्या बढ़ती चली गई छात्रों ने कक्षाओं का बहिष्कार कर दिया कहीं–कहीं पर न्याय के लिए

अपनी कोर्ट और कचहरियों का आयोजन कर निर्णय देना शुरू कर दिया। दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार की दमन नीति द्वारा चार व्यक्तियों को गोली से भून दिया। सात को बुरी तरह घायल कर दिया। जनता ने भी भारी संख्या में अपनी गिरफ्तारियां देना प्रारम्भ किया तथा दण्ड स्वरूप 9959 रूपया सन् 1942 में सरकार को दिया। सन् 1942 से सन् 1947 तक कोई खास कदम इस ओर नहीं उठाया गया क्योंकि सन् 1947 के उस स्वर्णिम दिवस की प्रतीक्षा में जनता निमग्न रही जब ब्रिटिश सरकार का तख्ता पलट जाएगा।

सन् 1815 के पूर्व गोरखा राज्य के अत्याचारों से ब्रिटिश गढ़वाल की जनता इतनी संतप्त एवं व्यथित थी कि उन्हें ब्रिटिश शासन तुलनात्मक रूप में गोरखा राज्य से बहुत अच्छा लगा इसलिए सन 1857 की क्रान्ति का इस स्थली में अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश गढ़वाल में संचार एवं यातायात के साधनों का धीरे–धीरे विकास होता गया और साक्षरता का भी प्रसार होता चला गया, निरक्षरता को मिटाने के लिए बड़ी संख्या में विद्यालय खुलने लगे और ज्ञान एवं शिक्षा को हासिल करने के साथ–साथ जनता में चेतना का प्रसार हुआ। तब उन्होंने ब्रिटिश शासन को ब्रिटिश गढ़वाल से उखाड़ फेंकने का निर्णय ले लिया। स्वतंत्रता संग्राम की विस्तृत सूचना अध्याय 9 में दी गई है।

http://uou.ac.in

अध्याय– आठ

तराई–भाभर का इतिहास

–डा0 अजय सिंह रावत
(फोटो संकलन – डा0 अजय सिंह रावत)

नैनीताल अपनी प्राकृतिक छटा के कारण पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। 1938 मीटर की ऊँचाई पर स्थित होने पर भी मैदानी अंचल से मात्र 34 किलोमीटर के फासले पर होने के कारण अंग्रेजों ने इसको तत्कालीन संयुक्त प्रान्त (जो अब उत्तर प्रदेश है) की गर्मियों की राजधानी बनाया। आजादी मिलने के बाद भी यह नगरी सन् 1960 तक राज्य की ग्रीष्मकालीन राजधानी बनी रही। पर्यटन उद्योग के विस्तार के फलस्वरूप इस नगरी को केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी जाना जाता है।

नैनीताल नगरी की भांति ही नैनीताल जिले के अंतर्गत तराई–भाभर क्षेत्र भी समय–समय पर विभिन्न कारणों से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। आजादी के पूर्व अंग्रजों को जब इस क्षेत्र के शीशम और सागौन बहुल वनों का ज्ञान हुआ तो इस सम्पदा के दोहन के लिए वे ललक उठे! अपने भयंकर जंगलों और उनमें विचरण करने वाले वन्य जन्तुओं के लिए भी यह धरा जानी–मानी रही है। यहाँ के आदमखोर बाघों के कारण यह भूभाग जिम कार्बेट सरीखे शिकारियों तथा राजा–महाराजाओं के आखेट की स्थली रही है। रही–सही कसर सुल्ताना भान्तू आदि डाकुओं ने पूरी कर दी, जिन्होंने इन जंगलों को अपनी शरण–स्थली बनाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस धरा की उर्वरा शक्ति ने इसको देश के सबसे अधिक उपजाऊ इलाकों में शामिल कर दिया है। हाल के वर्षों में आतंकवादियों के कारनामों के फलस्वरूप भी तराई–भाभर सर्वविदित हो गया है।

स्थिति

नैनीताल जिले का तराई–भाभर क्षेत्र, उसकी पर्वत श्रृंखलाओं की जड़ पर स्थित है। भूगर्भ शास्त्रियों के अनुसार यह भाग अति पुराना नहीं है। पहाड़ी क्षेत्र में तेज रफ्तार से बहने वाली नदियों तथा अति वर्षण की वजह से हुये भूस्खलन आदि के फलस्वरूप जो कंकड़– पत्थर और मिट्टी बह कर आती है, उनके जमा होने से ही इस धरा का निर्माण हुआ है। शिवालिक पर्वत–श्रृंखला की दक्षिणी ढलान की जड़ पर भूमि के एकाएक समतल हो जाने की वजह से जो कंकड़–पत्थर पानी के साथ बहकर चले आये, उनसे इस मैदान की जो एक संकरी पट्टी बन गयी है,

उसको 'भाभर' कहा जाता है। पहाड़ से बहकर आने वाली मिट्टी और बारीक बालू के जमा होने से जिस स्थली का निर्माण हुआ, उसको 'तराई' क्षेत्र कहा जाता है। शिवालिक पर्वत श्रृंखला की जड़ पर इस तरह अस्तित्व में आई धरा को ही तराई–भाभर कहा जाता है।

ई०ए० स्मिथीज ने भाभर क्षेत्र का वर्णन इन शब्दों में किया है–

''यह क्षेत्र वह पथरीली धरा है, जो कुमाऊँ हिमालय की जड़ पर स्थित है। नेपाल की ओर इसके छोर पर पूर्व दिशा में शारदा नदी बहती है, तो पश्चिम दिशा में बौर नदी और कालाढूंगी नगर है। इस पट्टी की चौड़ाई 4.83 किलोमीटर से लेकर 24.15 किलोमीटर है। यह धरती ऊबड़–खाबड़ है, जिसकी ढलान दक्षिण दिशा की ओर है। इसके कुमाऊँ हिमालय से लगे छोर की ऊँचाई लगभग 341.76 मीटर है तो तराई क्षेत्र से इसके मिलन बिन्दु पर इसकी ऊँचाई लगभग 227.84 मीटर है''

तराई के बारे में ई०टी० एटकिन्सन का कथन है कि–

''तराई क्षेत्र लम्बी और संकरी पट्टी है जो पर्वत श्रृंखलाओं की जड़ पर स्थित है। इसकी लम्बाई लगभग 144.9 किलोमीटर है तो चौड़ाई अनुमानतः 19.32 किलोमीटर है। इसके उत्तर में भाभर क्षेत्र है तो दक्षिण में पीलीभीत, बरेली, मुरादाबाद और रामपुर जिले हैं इसके पूर्वी छोर पर शारदा नदी बहती है तो पश्चिमी छोर में बिजनौर जिला स्थित है''

एक जमाने में तराई क्षेत्र दलदल था, फलतः यहाँ पर मच्छरों की बहुतायत होने से यह इलाका मलेरिया रोगग्रस्त हुआ करता था। इसमें थारू और बुक्सा लोग काफी पहले से रहते आये हैं लेकिन अब यह क्षेत्र अनाज की भरपूर फसल से लहलहाता हुआ मशीनीकृत फार्मों में बदल गया है। यहाँ के किसान धनधान्य सम्पन्न हैं। यद्यपि थारू और बुक्सा कबीले अभी यहाँ पर मौजूद हैं, लेकिन तेजी के साथ बदलते हुए माहौल में स्वयं को तदानुसार परिवर्तित करने में उन्हें पर्याप्त कठिनाई प्रतीत हो रही है, जिसके कारण उनका जीवन संकटपूर्ण हो गया है।

भाभर क्षेत्र बड़े–बड़े कंकड़ों और पत्थरों से भरा होने के कारण इसमें नमी को सुरक्षित रखने की क्षमता नहीं है। फलतः इस क्षेत्र की उपजाऊ शक्ति तराई क्षेत्र की तुलना में काफी कम है। यहाँ पर आबादी सिर्फ उन्हीं इलाकों में मिलती थी, जहाँ पर कालान्तर में सिंचाई की सुविधाओं का विकास हो गया था अथवा जो क्षेत्र इन नदियों के किनारे स्थित हैं। इस क्षेत्र में बहुधा कुमाऊँ के दूर–दराज के इलाकों से लोग आकर बसे हैं।

प्राकृतिक वनस्पति

यहाँ पर पायी जाने वाली वनस्पतियों का निम्नवत् वर्गीकरण किया जा सकता है–

(1) तराई क्षेत्र में 420.65 मीटर से कम ऊँचाई पर दलदल भूमि में पाये जाने वाले सदाबहार घास के मैदान।

(2) तराई–भाभर क्षेत्र की ऊपरी छोर पर स्थित समशीतोष्ण कटिबन्ध पतझड़ के वन। ये वन शिवालिक पर्वत श्रृंखला की दक्षिण ढलान के छोर पर है जो समुद्र की सतह से 824.65 मीटर ऊँचाई पर स्थित हैं। इनमें साल, खैर, शीशम, हल्दू, सागौन और यूकेलिप्टिस वृक्षों की प्रमुख किस्में हैं। इन किस्मों के वन इस प्रदेश की काली, सरयू, रामगंगा (पूर्वी), गौला, कोसी और रामगंगा (पश्चिम) नदियों की घाटियों में 93.98 मीटर की ऊँचाई में भी फैले हैं।

(3) इस धरा पर 935 मीटर से अधिक ऊँचाई पर काफी बड़े भाग में समशीतोष्ण कटिबन्धीय चीड़ के जंगल भी पाये जाते हैं।

नदियाँः

तराई–भाभर क्षेत्र की कोसी, गौला और काली नदियों को छोड़कर लगभग अन्य सभी नदियों का उद्‌गम शिवालिक पर्वत श्रृंखलाओं में है। शिवालिक पर्वत श्रृंखलाओं से निकलने वाली ये छोटी–बड़ी नदियां इस क्षेत्र के सूखे भूभागों को सिंचित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। ये नदियां पश्चिम से निकलकर पूर्व की ओर बहती है। इनमें फीका, ढेला, दाबका, बौर, भाकरा, नन्धौर और कामीन प्रमुख हैं। जिनमें दाबका, बौर और नन्धौर अपेक्षाकृत बड़े नाले हैं। ये नदी–नाले बहुधा छोटी–छोटी धाराओं में विभाजित हो जाते हैं और आगे चलकर दूसरे नदी–नालों में मिल जाते हैं। इस तरह जल निकासी का एक जाल जैसा इस प्रदेश में बिछा हुआ है। ये नदी–नाले शुष्क मौसम में लगभग सूख जाते हैं, जबकि बरसात आने पर भयंकर बाढ़ ले आते हैं। भाभर से होकर गुजरने वाले नदी–नाले आगे चलकर तराई में प्रवेश करते हैं। भाभर से आने वाली नदी–नालों के अलावा भी तराई क्षेत्र में दूसरे नाले हैं, जो इसके उत्तरी छोर पर स्थित दलदली इलाकों से बहकर आते हैं। इन इलाकों में भूमिगत जल–स्तर काफी ऊँचा होने के कारण ये नाले फूट पड़ते हैं। इनका आकार बरसात में काफी बढ़ जाता है। बरसात में ये

http://uou.ac.in

बहुधा कई धाराओं में विभक्त हो जाते हैं और कभी–कभार उनमें मुख्य धारा की पहचान ही मुश्किल हो जाती है। तराई के ऐसे नालों में सनीहा, लोहिया, कामिन, देवहा, कैलाश, बाहुगुल और भाकर प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक महत्व

तराई–भाभर के प्राचीन इतिहास के विषय में प्रामाणिक तौर पर कुछ नहीं मालूम है, तथापि बताया जाता है कि महाकाव्य काल में इस भाग में ऋषि–मुनियों के आश्रम थे। कोटाबाग के समीप सीताबनी को बाल्मीकि का आश्रम स्थल कहा जाता है, जहाँ सीता जी ने अपना बनवास बिताया था। महाभारत काल के दौरान यह क्षेत्र विदर्भ राजाओं के आधीन था। विदर्भ राजा पशुधन सम्पन्न थे। यहीं पर पाण्डवों ने अपने बनवास के अज्ञात वास का समय बिताया था। इस दौरान वे छदम् वेष में विराट राजा के दरबार में रहे थे। इसी धरा पर अर्जुन ने अकेले ही सारी कौरव सेना को पराजित कर दिया था। उस समय कौरव राजा विराट की गौओं को भगा ले जा रहे थे। अर्जुन ने कौरव सेना को मार भगाया तथा गौओं को सुरक्षित राजा विराट को सौंप दिया। इससे पूर्व विराट की रानी के भाई तथा सेनापति कीचक का भीमसेन ने तराई में मौजूदा कस्बे किच्छा के समीप दक्षिण–पश्चिम में वध किया था। काशीपुर और उसके पास के इलाकों में पुरानी इमारतों के अवशेषों से भी लगता है कि प्राचीन काल में यहाँ पर लोग रहा करते थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने जो सातवीं सदी में भारत–भ्रमण पर आया था, अपने यात्रावृत्त में काशीपुर का ''गोविसाण'' नाम से उल्लेख किया है। गुप्त काल के दौरान तराई–भाभर कुमायूँ राज्य का एक हिस्सा था। उस समय यहाँ पर कत्यूरी राजा राज्य कर रहे थे। यह माना जाता है मौखिक परम्परा के अनुसार कि अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर इस वंश का राज्य पश्चिम में काबुल से लेकर पूर्व में नेपाल तक फैला था। यही कुमायूँ का सबसे पुराना राजवंश है, जिसका प्रामाणिक इतिहास प्राप्त है।

कत्यूरी वंश अपने चरमोत्कर्ष पर था तो उसके शासन के आधीन तराई क्षेत्र भी फूला–फला। लेकिन लगता है कि गुप्त साम्राज्य और विशेषतया कन्नौज के हर्षवर्धन के बाद राजनैतिक उथल–पुथल का दौर आया, जिसकी चपेट में तराई–भाभर भी आ गया। विदित होता है कि इस राजनैतिक उठा–पटक के साथ ही अंचल में प्राकृतिक विपदा भी आ पड़ी, जिसके फलस्वरूप यहाँ का जन जीवन तहस–नहस हो गया, खेत–खलिहान उजड़ गए। फलतः 1100 ई० तक यहाँ चारों ओर वीरानगी फैली थी। मध्ययुगीन इतिहासकारों के अनुसार ''इसमें सिर्फ कहीं–कहीं पर ही चरागाह और आबादी के निशान मिलते थे।''

उत्तरी भारत के राजनैतिक दृश्य–पटल पर मुसलमानों के आगमन के साथ ही उन्होंने इस क्षेत्र पर ललचाई निगाहों से देखना शुरू किया। फलतः तराई–भाभर पर प्रभुत्व के लिए मुसलमान शासकों और कुमायूँ राजा के बीच यदा–कदा झड़पें होने लगी। कुछ लोगों का मत है कि थारू और बुक्सा कबीले इसी काल में यहाँ आकर बसे। कहा जाता है कि तेरहवीं सदी में दिल्ली के सुलतानों नसीरूद्दीन शाह और बलबन ने तराई–भाभर पर आक्रमण किया। तदुपरान्त फिरोज शाह ने भी यहाँ पर धावा बोला। मुगल शासनकाल में तराई प्रदेश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था तब भी भाभर स्वतंत्र ही रहा। 'आइन–ए–अक्बरी' में तराई के 21 महलों का जिक्र है। अकबर के शासन के दौरान कुमायूँ मुगलों की सेना के लिए 3,000 घुड़सवार और 50,000 पैदल सैनिक दिया करता था।

अकबर के शासन काल के दौरान कुमायूँ के चंद वंश के राजा रूद्रचंद का शासन था। उस समय मुगलों की ओर से नागौर के खिलाफ लड़ते हुए कुमाऊँनियों ने राजा रूद्रचंद के नेतृत्व में बड़ी बहादुरी दिखलाई। जिससे प्रसन्न होकर अकबर ने तराई का एक भाग 'चौरासी माल' (जिसको नौलखिया माल भी कहा जाता था) रूद्रचंद को दे दिया। इस भूभाग को चौरासी माल इसलिए कहा जाता था कि यह लम्बाई में 84 कोस था। इसी को 'नौलखिया माल' भी कहा जाता था, क्योंकि उस समय इससे नौ लाख रूपये की प्रतिवर्ष आय होती थी।

इससे पूर्व में शारदा नदी, पश्चिम में पीली नदी, उत्तर में भाभर और दक्षिण में मैदानी इलाके पड़ते थे। यह भू–भाग नीचे दिये सात परगनों में विभाजित था–

1. सहजगीर, जिसको अब जसपुर कहते हैं।
2. कोटा, जिसको अब काशीपुर कहा जाता है।
3. मुडिया, जो इस समय बाजपुर नाम से जाना जाता है।
4. गदरपुर।
5. भुक्सार, जिसके अन्तर्गत अब रूद्रपुर और किलपुरी आते हैं।
6. बक्शी, जिसको इस समय नानकमत्ता नाम से जाना जाता है।
7. चिंकि, जिसको अब सुबड़ना और बहेड़ी नामों से जाना जाता है।

राजा रूद्रचंद ने रूद्रपुर नगर की स्थापना की और इन सभी परगनों में अपने सामन्तों की नियुक्ति की। इन सामन्तों में से एक काशीनाथ अधिकारी ने कालान्तर में मौजूदा काशीपुर नगर की स्थापना की।

रूद्रचंद के उत्तराधिकारी का नाम लक्ष्मीचंद था। वह भी अकबर का समकालीन था। उसके शासनकाल के दौरान सम्भवतः मुगल फौजों ने तराई क्षेत्र में

प्रवेश किया। कहा जाता है कि उन्होंने मौजूदा टांडा और पीपल हट्टा स्थानों में अपने शिविर स्थापित किये। पीपल हट्टा में एक आमों का झुण्ड है, जिसको सम्भवतया इसी वजह से बादशाही बाग के नाम से जाना जाता है। चन्द राजाओं के शासनकाल के दौरान तराई में पर्याप्त समृद्धि रही। बतलाया जाता है कि यहाँ से सचमुच कुमायूँ के राजा को प्रतिवर्ष 9.00 लाख रूपये की आय हुआ करती थी। लेकिन दुर्भाग्य कि यही वैभव दुश्मनों की आँख की किरकिरी बन गया और धीरे–धीरे उन्होंने इस भू–भाग को हथियाने की कोशिश शुरू कर दी। ऐसे प्रयास करने वालों में कटेहर हिन्दू भी थे। त्रिमूल चंद के उत्तराधिकारी बाज बहादुर चंद ने जब देखा कि इस प्रकार तो सारी तराई ही उसके हाथ से निकल जायेगी तो उसने दिल्ली जाकर मुगल सम्राट शाहजहाँ से समझौता कर लिया। इस समझौते के फलस्वरूप कुमायूँ की सेना ने काबुल और कंधार की लड़ाइयों में मुगलों का साथ दिया और अपनी बहादुरी का डंका बजा दिया। इससे प्रसन्न होकर मुगल सम्राट ने बाजबह्युदुर चंद को कुछ पारितोषिक दिये। लेकिन बाजबहादुर चंद तो तराई पर फिर से अपने प्रभुत्व को कायम करने के लिए मुगल सम्राट के पास गया था। उसके कहने पर मुगल सम्राट ने पुनः चौरासी मील पर कुमायूँ के राजा का प्रभुत्व करार कर दिया और उस सूबे के शासक को आदेश दिया कि वह कटेहर हिन्दुओं के खिलाफ कुमायूँ के राजा की सहायता करे। इस तरह मुरादाबाद के संस्थापक नवाब रूस्तम खाँ की सहायता से बाज बहादुर चंद ने एक बार फिर से अपने विरोधियों को तराई सें उखाड़ फेंका और उसको पूर्णतया अपने राज्य में शामिल कर दिया। कालान्तर में चंद राजा ने अपने नाम पर मौजूदा बाजपुर की स्थापना की।

राजा बाज बहादुर चंद ने औरंगजेब के शासनकाल के दौरान इस भू–भाग पर अपने प्रभुत्व के बारे में सन् 1678 ई० में मुगल साम्राज्य का फरमान पुनः प्राप्त किया। तदोपरान्त 50 वर्षों तक तराई का इतिहास अंधकार में ही रहा। बाजबह्युदुर चंद के उत्तराधिकारियों के बारे में सन् 1731 ई० में राजा कल्याण चंद के शासन तक कुछ ज्ञात नहीं होता।

अपने शासन के प्रारंभिक काल में राजा कल्याण चंद को अवध के सूबेदार नवाब मन्सूर अली खाँ के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। वह सुर्वणा और बहेड़ी को अपने राज्य में शामिल करना चाहता था। लेकिन चंद राजा द्वारा मुगल सम्राट मोहम्मद शाह से आग्रह किये जाने के फलस्वरूप अवध के सूबेदार की एक न चल पायी। परन्तु अपने शासनकाल के उत्तरार्द्ध में कल्याण चंद को एक दूसरे सशक्त दुश्मन का सामना करना पड़ा। सन् 1744 से 1748 ई० के दौरान रूहेलखण्ड के रूहेलों ने कुमायूँ पर दो बार आक्रमण किया। उनका पहला आक्रमण रामगंगा नदी के उद्‌गम स्थल पर ही रोका जा सका। वहाँ पर समीपस्थ गढ़वाल के राजा प्रताप

http://ouu.ac.in

शाह ने रूहेलों को मात दे दी और उनको आगे बढ़ने से रोक दिया। उनके दूसरे आक्रमण को पहाड़ी प्रदेश के प्रवेश पर ही रोक दिया गया, जहाँ पर कुमाऊनी सेना ने शिवदेव जोशी के नेतृत्व में रूहेला फौज को हरा दिया। यद्यपि दो बार रूहेलों के आक्रमणों को निष्फल कर दिया गया था, तथापि उनको मैदानी अँचल से पूर्णतया सफाया करना एक टेढ़ी खीर थी। अतः एक बार पुनः कुमायूँ के राजा ने मुगल सम्राट से सहायता की प्रार्थना की। उन दिनों मुगल सम्राट सम्भल में शिविर लगाये हुए था। कल्याण चंद ने स्वयं सम्राट के सामने उपस्थित होकर अपने विरोधियों के खिलाफ सहायता की प्रार्थना की, जिसको सन् 1747 ई० में मुगल सम्राट ने अक्षरक्षः स्वीकृत कर लिया।

फलतः मुगल सम्राट द्वारा पुनः चौरासी माल पर कुमायूँ के राजा के अधिकार को कबूल किया गया। जिसके फलस्वरूप रूहेले चौरासी माल से हट गए, लेकिन सुबर्ना और बहेड़ी पर वे फिर भी काबिज बने रहे। संभल से लौटने के बाद राजा कल्याण चंद का 1748 ई० में देहान्त हो गया। कल्याण चंद की मृत्यु के समय उनका बेटा दीपचंद अपनी शैशव अवस्था में था। मृत्यु के समय राजा की इच्छा के अनुसार शिवदेव जोशी शिशु राजा के नाम पर शासन चलाते रहे। सत्ताइस साल तक राज्य करने के बाद दीपचंद को उसके चचेरे भाई मोहनचंद ने 1775 ई० में मार डाला।

राजा दीपचंद के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में तराई क्षेत्र में सुखशांति बनी रही। इन 16 सालों में राजा ने शिवदेव जोशी के परामर्श पर रूद्रपुर और काशीपुर में किलों का निर्माण किया, जहाँ से रूहेलों की गतिविधियों पर निगरानी रखी जा सके। इस दौरान रूहेलखण्ड सहित उत्तरी भारत का मैदानी इलाका अशान्ति और उथल–पुथल के दौर से गुजर रहा था। मुगल बादशाहों की क्षीण होती शक्ति ने स्थिति को बदतर बना दिया। इस भू–भाग में चलने वाली निरन्तर लड़ाइयों, सतत बदलते स्वामियों और करों की मार से जनता खिन्न थी। इससे बचने के लिए लोगों ने तराई में प्रवेश करना शुरू किया। उस समय तराई में खेती करने वाले प्रमुखतया थारू और बुक्सा ही थे। बाद में मैदान से आने वाले हिन्दू और मुसलमान भी इनमें शामिल हो गए। सन् 1764 ई० में शिवदेव जोशी का काशीपुर में देहान्त हो गया। उसके बाद भी वैसे कहने को तो तराई पर राजा दीपचन्द का अधिकार बना रहा, लेकिन यहाँ पर शनैः–शनैः रूहेलों का प्रभुत्व बढ़ता गया और एक समय ऐसा भी आया जब राजा दीपचंद यहाँ का नाममात्र का जमींदार या जागीरदार भर ही बनकर रह गया।

शिवदेव जोशी के देहान्त के बाद कुमायूँ में राजनैतिक उथल–पुथल मची रही। दरबार दीपचंद की रानी और उसके चचेरे भाई मोहन सिंह रौतेला के परस्पर विरोधी षडयंत्रों का केन्द्र बन गया। इसमें बाजी मोहन सिंह के हाथों ही लगी।

उसने रानी को मरवा डाला और उसके कुछ समय बाद राजा को भी मौत के घाट उतार डाला। 1777 ई० में उसने राजा के दोनों बेटों की हत्या करवा डाली और स्वयं मोहन चंद नाम से राजगद्दी पर बैठ गया।

लेकिन मोहन चंद के इस कार्य से चंद राजाओं के मंत्री खुश नहीं थे। उनमें से विशेषतया जोशी वर्ग उसके खिलाफ हो गया। उन्होंने गढ़वाल के राजा ललित शाह से गुप्त समझौता कर लिया और उसको कुमायूँ पर आक्रमण के लिए उकसाया। फलतः ललित शाह ने सन् 1779 में एक बड़ी सेना लेकर कुमायूँ पर आक्रमण कर दिया। लड़ाई में मोहन चंद की हार हुई। ललित शाह ने कुमायूँ की गद्दी पर अपने दूसरे बेटे प्रद्युम्न शाह को बैठा दिया और जोशियों के प्रमुख हर्षदेव जोशी को उसका प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया। यह व्यवस्था कर वह गढ़वाल के लिए वापिस रवाना हो गया। लेकिन सन् 1780 में रास्ते में ही मर गया। उसकी मृत्यु पर उसका बड़ा बेटा जयकृत शाह गढ़वाल का राजा बन गया और सन् 1785 में अपनी मृत्यु तक राजा बना रहा। उसके बाद उसका छोटा भाई प्रद्युम्न शाह गढ़वाल का राजा भी बना।

इस पर गढ़वाल के राजकुमार प्रद्युम्न शाह ने कुमायूँ का राज–काज अपने प्रधानमंत्री हर्षदेव जोशी को सौंप कर 1785 ई० में ही गढ़वाल का राज्यभार ग्रहण कर लिया। हर्षदेव जोशी प्रद्युम्न शाह के नाम पर शासन का कार्य करता रहा। जोशी वर्ग गढ़वाल के राजा का वफादार बना रहा। उसने डटकर मोहनचंद का विरोध किया। लड़ाई में मोहन चंद मारा गया। अब विद्रोह की डोर मोहनचंद के भाई लालसिंह के हाथों में थी। उसने सन् 1788 ई० में भीमताल के पास लड़ाई में जोशियों को करारी हार दी। फलतः लाल सिंह कुमायूँ का सर्वेसर्वा था और जोशियों की ताकत को बुरी तरह कुचल दिया गया।

गोरखा आक्रमण

कुमायूँ में इस राजनैतिक उठा–पटक को नेपाल (जो कुमायूँ के पूर्व में स्थित है) के शासक रूचि के साथ देख रहे थे। जोशी अपनी हार से तिलमिलाये बैठे ही थे हर्षदेव जोशी ने लाल सिंह के खिलाफ गोरखा शासकों से मदद मांगी। गोरखा तो मौके की तलाश में थे ही। अब घर का भेदिया भी उन्हें मिल गया था। चुनांचे गोरखों ने कुमायूँ पर धावा बोल दिया। बाजी भी उन्हीं के हाथों में रही।

गोरखा जीत तो गये थे। लेकिन उसके पूर्व कुमायूँ में इतनी उथल–पुथल मच चुकी थी कि गोरखों को सारे पहाड़ी क्षेत्र में व्यवस्था स्थापित करने में काफी समय लग गया। सन् 1791 से 1802 तक वे इस कार्य में लगे रहे। फलतः तराई की ओर ध्यान देने का उनको मौका न मिला। जिसकी वजह से तराई पर रोहिला

काबिज रहे। कुमायूँ के पहाड़ी अंचल में अशान्ति के कारण वहाँ से काफी परिवार तराई में आकर बस गये। तराई के रूद्रपुर, काशीपुर आदि नगरों व गाँवों में वे प्रवासी के रूप में आकर रहने लगे।

उन्नीसवीं सदी के आगमन के साथ तराई के इतिहास ने फिर से एक नया मोड़ ले लिया। अंग्रेजों ने 1802 ई० तक रूहेलखण्ड पर अधिकार कर लिया था। उस समय तराई पर रूहेलों का आधिपत्य था, तो जाहिर है कि अंग्रेज तराई के मामलों में भी दखल देते थे। तराई के प्रति उनकी अभिरूचि एक दूसरी वजह से भी जागृत हुई। उस समय तक कुमायूँ के पर्वतीय अंचल से भोटिया जाति के लोग समय–समय पर तराई में आकर अपनी हस्तकला की वस्तुऐं बेचने के लिए हाट बाजार लगाया करते थे। तब तक अंगेजों की अभिरूचि व्यापार में ही थी। अतः उन्होंने भी तराई क्षेत्र में हाट–बाजार लगाने शुरू किये। इस किस्म का प्रथम व्यापारिक मेला सन् 1802 ई० में 9 नवम्बर से 8 दिसम्बर तक लगाया गया। बाद में ऐसे मेलों के आयोजन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि इस किस्म के आयोजन अंग्रेजों के लिए उत्साहवर्द्धक नहीं रहे और फलतः वे बंद ही हो गये।

अंग्रेजी आधिपत्य

कुमायूँ पर अधिकार कर लेने के बाद गोरखा शासकों ने गढ़वाल पर भी कब्जा करना चाहा। यही गोरखों के पतन और कुमायूँ व गढ़वाल में ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य के विस्तार का कारण भी बना। गढ़वाल के राजा ने अंग्रेजों से गोरखों के खिलाफ सहायता की मांग की। अंग्रेज अपने राज्य को फैलाने की टोह में तो थे ही। तदुपरान्त गोरखों से जो युद्ध हुये उनमें गोरखों की हार हो गयी। फलतः उन्हें अंग्रेजों के साथ सन् 1814 ई० में सिगौली की संधि करनी पड़ी, जिसके अनुसार कुमायूँ सन् 1815 से अंग्रेजों के आधिपत्य में चला गया।

इसके साथ ही तराई–भाभर पुनः कुमायूँ के अन्तर्गत आ गया। कुमायूँ के कमिश्नर ट्रैल ने 1818 ई० में तराई–भाभर में अनाज की खेती बढ़ाने की कोशिश की। लेकिन सिंचाई की सुविधाओं के अभाव के कारण इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी। परन्तु अंग्रेज शासकों के दिमाग में यह विचार बना रहा। सन् 1850 में सर हेनरी राम्जे कुमायूँ का असिस्टेंट कमिश्नर था। उसने कोसी नदी से नहर निकालकर भाभर में सिंचाई सुविधा सुलभ कराने का विचार किया। उसी के प्रयासों के फलस्वरूप भाभर में विस्तृत आधार पर अनाज की खेती की जाने लगी। इस

http://uou.ac.in

विषय में सन् 1898 में देवीदास कायस्थ ने लिखा '..... भाभर में आज जो नहरें, सड़कें, पुल और बंगले दिखाई देते हैं, वे सभी राम्जे की बदौलत हैं।'

हेनरी राम्जे पूरे 44 सालों तक कुमायूँ के प्रशासन से सम्बद्ध रहा। उसको अगस्त 1840 में कुमायूँ डिविजन का जूनियर एसिस्टेन्ट कमिश्नर नियुक्त किया गया था। फरवरी 10, 1856 को उसको कमिश्नर बनाया गया। इस पद पर वह सन् 1884 तक बना रहा। वह इलाके की प्रगति और जनता की सेवा के प्रति इस कदर प्रतिबद्ध था कि इस पूरी अवधि के दौरान उसने अस्वस्थता अवकाश के अलावा कोई छुट्टी तक नहीं ली।

जाहिर है कि अपने आधीन इलाके की खुशहाली के प्रति राम्जे के इस उत्साह का प्रसाद तराई–भाभर इलाके को भी मिला ही। उसने हल्द्वानी नगर की स्थापना की और तराई को आबाद करने के लिए कई कदम उठाये। उस समय तक तराई में मलेरिया और पेट की बीमारियों के अधिक होने के कारण सामान्य इंसान के लिए वहाँ अधिक समय तक टिके रहना मुश्किल था। इसलिए लोग वहाँ बस नहीं सकते थे। राम्जे ने वहाँ आबादी को प्रोत्साहित करने के लिए मलेरिया नियंत्रण के प्रयास किये। गाँवों में कुएं खोदे गये और तराई के एक छोर से दूसरे छोर तक सड़कें बना दी गईं। खेती को बढ़ावा देने के लिए तराई में बहने वाली नदी–नालों से सिंचाई की नालियाँ निकाली गयीं। दलदल भूमि से पानी सुखाकर उसको खेती के योग्य बनाया गया। फलतः राम्जे के सेवा से अवकाश ग्रहण करने के समय तराई–भाभर इलाके में 137.1 मील लम्बी सिंचाई की नहरें मौजूद थी। सन् 1897 में इन नहरों की कुल लम्बाई बढ़कर 158.3 मील हो गयी। तराई–भाभर क्षेत्र में विकास कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिए राम्जे ने तराई इम्प्रूवमेंट फण्ड की स्थापना की। सन् 1880 में स्थापित इस फण्ड से इस इलाके में सड़कों, पुलों और अन्य विकास के कार्यों को करने के लिए धन उपलब्ध किया जाता था।

सन् 1857 ई० में तराई–भाभर इलाके का महत्व और भी अधिक बढ़ गया। उस समय होने वाले स्वतंत्रता संग्राम के फलस्वरूप यद्यपि नैनीताल जिला काफी हद तक अछूता रहा, लेकिन हल्द्वानी पर रोहिला फौजों ने बरेली पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण के भय से कई लोग भाग कर तराई के जंगलों में जाकर बस गये। इस स्थिति से निपटने के लिए वहाँ पर 66 वीं गोरखा तथा 8 वीं इररेगुलर कैवलरी फौजें तैनात की गईं। उनकी सहायता के लिए नेपाल से भी कुछ सैनिक मंगाये गये। उन्होंने मिलकर रूहेलों के इस प्रयास को निरर्थक कर दिया। सन् 1857 के बाद पास–पड़ोस के जिलों से भी काफी लोग आकर तराई–भाभर इलाके में बस गये।

हेनरी राम्जे जब तक कुमायूँ के कमिश्नर पद पर रहा, वह स्वयं तराई–भाभर का शासन चलाता रहा। उस समय इस इलाके को तराई–भाभर स्टेट कहा जाता था। राम्जे के सेवा–निवृत्त होने के बाद भाभर को अल्मोड़ा जिले में शामिल कर दिया गया और तराई को अलग प्रशासकीय इकाई बनाया गया। इस इकाई का प्रशासक एक सुपरिन्टेण्डेण्ट होता था। फरवरी 1891 में कर्नल इरस्काइन कुमायूँ का कमिश्नर था। उसने अपने आधीन इलाकों में शासन के लिहाज से सीमाओं में कुछ परिवर्तन किये। इन परिवर्तनों का मुख्य ध्येय तराई और भाभर को एक ही प्रशासक के अधीन रखना था। तदानुसार सन् 1891 में नैनीताल जिले को अलग जिला बना दिया गया तथा तराई–भाभर इलाके को इस जिले के डिप्टी कमिश्नर के आधीन रखा गया। सितम्बर 1894 में इन दोनों इकाइयों को मिलाकर एक कर दिया गया और सन् 1895 से तराई और भाभर के शासन को चलाने के लिए असिस्टेण्ट कमिश्नर की नियुक्ति की गयी। तदोपरांत सन् 1900 में तराई–भाभर को खाम सुपरीटेंडेण्ट के आधीन कर दिया गया।

सन् 1895 में जी० एडम्स बोर्ड ऑफ रेवेन्यू का वरिष्ठ सदस्य था। उसने हल्द्वानी से लेकर शारदा नदी तक के इलाके का निरीक्षण किया और अपने नोट में लिखा कि ''शारदा नदी के किनारे पर स्थित टनकपुर जिसको तल्ला देश भी कहा जाता है, शेष भाभर से लगभग पूर्णतया कटा है और यह चम्पावत और लोहाघाट से सीधे जुड़ा है। फिर भी इससे होकर तिब्बत से अच्छा–खासा व्यापार चलता है।'' इस दृष्टिकोण से उसका सुझाव था कि यदि चम्पावत और लोहाघाट को जाने वाले मार्ग को सुधारा जाये तो इससे टनकपुर की मण्डी को काफी फायदा पहुँचेगा। तदनुसार सन् 1896 में टनकपुर भाभर को अल्मोड़ा जिले में मिला दिया गया।

सन् 1900 के अन्त में तराई और भाभर को मिलाकर एक प्रशासकीय इकाई में बदल दिया गया। तदोपरान्त एक अक्टूबर 1910 को अल्मोड़ा भाभर को नैनीताल जिले के तराई–भाभर इलाके में मिला दिया गया।

तराई–भाभर के गाँवों को उस समय दो श्रेणियों में रखा गया। जमींदारी गाँव और खाम गाँव। जमींदारी गांवों में मुश्तजीर हुआ करते थे, जिनको शासन ने पैतृक आधार पर गांवों के काश्तकारों से लगान वसूली का ठेका दे रखा था। ये मुश्तजीर ही भूमि के असली मालिक होते थे। गांवों की दूसरी किस्म 'खाम गांव' थे, जिनको 'बन्दोबस्ती' भी कहा जाता था। इनका शासन खाम स्वयं किया करता था। उस समय के शासन द्वारा गांव के प्रत्येक काश्तकार से एक नियत अवधि के लिए लगान तय किया गया था, जिसको उन्हें सीधे खाम को प्रतिवर्ष भुगतान करना पड़ता था। जमींदारी गांवों की अधिकतम संख्या काशीपुर डिवीजन में थी। इसमें कुल मिलाकर 183 गांव थे, जिनमें खाम सुपरीटेडेन्ट द्वारा सीधे शासित केवल 14 गांव थे, शेष गाँव जमींदारी के गांव थे।

उस समय चंद राजा के छोटे भाई को रौतेला कहा जाता था। काशीपुर की जमीन का सबसे बड़ा मालिक रौतेला ही था, जिसको काशीपुर का राजा भी कहा जाता था। इस परिवार का संस्थापक लाल सिंह था, जो चंद राजा बाजबहादुर चंद का पड़नाती और मोहन सिंह चंद का भाई था। मोहन सिंह सन् 1777 में राजा बना, जिसको जोशियों द्वारा दूसरे साल ही मौत के घाट उतार दिया गया। काशीपुर के कई जमींदार गांवों का मालिक होने के साथ ही साथ रौतेला राजा की बिजनौर में भी काफी बड़ी भू–सम्पदा थी। इसके अलावा भाभर में दूसरे धनी परिवार भी थे, लेकिन किसी के पास इतनी बड़ी भू–सम्पदा नहीं थी। ऐसे परिवारों में छखाता परगना के महर थोकदार भी थे।

अंगेजों द्वारा कुमायूँ पर अधिकार करने से लेकर सन् 1844 तक काशीपुर और जसपुर अलग राजस्व प्रभाग बने रहे। उस समय तक ये दोनों प्रभाग मुरादाबाद जिले में शामिल थे। उस वर्ष मुरादाबाद जिले के राजस्व प्रभागों का फिर से सीमांकन किया गया। तदनुसार बाजपुर, काशीपुर और जसपुर तथा ठाकुरद्वारा, सरकारा, मुरादाबाद और अफजल गढ़ के कुछ गांवों को काशीपुर परगना में शामिल कर दिया गया। सन् 1857 के कुछ समय पूर्व बाजपुर को भी तराई के अन्तर्गत लाया गया। तदोपरांत सन् 1860 में कुछ अन्य गांवों को भी इसी प्रकार तराई में शामिल कर दिया गया। अन्ततः अक्टूबर 1870 में समस्त काशीपुर परगने को तराई में सम्मिलित कर दिया गया।

अंग्रेजी शासनकाल के दौरान तराई–भाभर में पांच प्रकार के गांव थे। पहली किस्म में वे गांव थे, जिनका शासन खाम के सीधे आधीन था ऐसे गांवों को खाम गांव कहा जाता था। अधिकतर गाँव इसी कोटि में आते थे। दूसरी किस्म के वे गांव थे जो अंग्रेजों के इस इलाके पर अधिकार करने से पूर्व से ही बसे हुये थे। यहां पर लोग कई वर्षों से रहते चले आ रहे थे। यहां पर किसान को 'हिस्सेदार' कहा जाता था तो सारे गांव के मुखिया को 'पधान' कहा जाता था। तीसरी किस्म के गांवों में मैदानी इलाकों में बसे वे गांव आते थे, जहां पर भाईचारा के नियम के अनुसार लोग काफी समय से रहते चले आ रहे थे। इन गांवों को भाभर में मुश्तजीरी गांव भी कहा जाता था। सन् 1860 में इनको मुरादाबाद जिले से भाभर में शामिल कर दिया गया। चौथी किस्म के गांवों में रहने वाले परिवार पूर्व से खेती के मालिक के रूप में वहां पर रहते आये थे, लेकिन कालान्तर में उनका मालिकाना उनसे छीन कर शासन के आधीन कर लिया गया था। गांवों की अंतिम किस्म 'मुकद्दमी गांव' थे, जिनका शासन सरकार एक 'मुकद्दम' या मुखिया के जरिये चलाया करती थी। ऐसे गांवों में पहले दो सालों तक सरकार भूमि का कोई लगान नहीं लेती थी।

भाभर में भूमि का मालिकाना काफी हद तक पहाड़ों की भांति ही था। कुमायूँ के पर्वतीय अंचल में भूमि के मालिक को थाट कहा जाता था। भूस्वामी अपनी भूमि तथा उससे प्राप्त होने वाली उपज का पूरा मालिक होता था। भूमि पर स्वामित्व बहुत कम दशाओं में बदलता था। भूमि के मालिक अनादिकाल से अपनी भूमि पर अपना अधिकार होना बतलाते थे और इस प्रकार उनको उस अधिकार में किसी प्रकार का कोई दखल पसन्द नहीं था।

भाभर में लगान की वसूली के लिए सरकारी कर्मचारियों के अलावा गांवों के मुखिया भी हुआ करते थे। इनको पधान कहा जाता है; पधान का दायित्व अपने गाँव में लगान की वसूली करना, जिसको वह तदोपरांत पटवारी के पास जमा कर देता था। गांव के मुखिया के नाते इसके अलावा भी उसकी कुछ जिम्मेदारियाँ हुआ करती थी। इन कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए उसको पधानचारी भूमि या धन दिया जाता था। इनको 'हक पधानी' कहा जाता था। गांवों के मुखिया का यह हक पैतृक हुआ करता था।

तराई–भाभर के गांवों की व्यवस्था के नियमः

सन् 1903 में पाया गया कि कुछ काश्तकार तराई में भूमि को छोड़कर चले जा रहे थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उन्हें बंजर भूमि का लगान देने को भी बाध्य किया जाता था। फलतः सन् 1906 में खाम गांवों के प्रशासन के लिए कुछ नियम बनाये गये जो निम्नवत् हैं–

''गांवों का पधान निम्नवत् उत्तरदायी होगा–

1. काश्तकारों को गांवों में लाकर खेती करवाना तथा उनमें भूमि का समुचित वितरण करना।
2. प्रत्येक फसल के मौके पर पटवारी के कागजातों में विभिन्न काश्तकारों को दी गयी भूमि तथा उस पर तय किया गया लगान अंकित करवाना।
3. लगान वसूल कर उसको तहसील में जमा करना।
4. ऐसे काश्तकारों को दी गयी भूमि में खेती करवाना, जो त्यागपत्र देकर अथवा भागकर चले गये हों।
5. पटवारी के कागजातों में काश्तकारों तथा अन्य लोगों के पास उपलब्ध मवेशियों का विवरण अंकित करवाना।
6. पटवारी द्वारा तय किया गया चराई शुल्क पशुपालकों से वसूल करना तथा उसको तहसील में जमा करना।

http://uou.ac.in

7. काश्तकारों को उनकी आवश्यकता के अनुसार लकड़ी, बांस, घास तथा अन्य वस्तुओं की आपूर्ति की व्यवस्था करना।

8. काश्तकारों के लिए भूमि की सिंचाई हेतु पानी की व्यवस्था करना।''

प्रतीत होता है कि इन नियमों के बनाये जाने के उपरांत भी तराई–भाभर में आवश्यक संख्या में काश्तकार उपलब्ध नहीं थे। यह इस तथ्य से भी ज्ञात होता है कि तराई में खेती के लिए भूमि हेतु आवेदनकर्ताओं द्वारा शासन के सामने कुछ शर्ते रखी गयीं, जो नीचे दिये अनुसार हैं–

''1. उनको समूचे गांव खेती के लिए दिये जायें; ताकि अन्य लोग भूमि प्रबन्ध में अनावश्यक हस्तक्षेप न करें।

2. खेती के लिए आवश्यक नहरों अथवा गूलों का निर्माण शासन अपने खर्चे पर करे तथा उनसे सिंचाई शुल्क न लिया जाये।''

3. मुखिया को देय लगान का 10 प्रतिशत काश्त के प्रथम वर्ष में दे दिया जाये अथवा उनके द्वारा देय लगान में तदानुसार कमी कर दी जाये।

4. काश्त के प्रथम तीन वर्षों के दौरान उनसे मामूली लगान वसूल किया जाये।

5. खेती के पहले सालों में काश्तकारों को काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। अतः प्रथम तीन वर्षों के दौरान काश्तकारों को खेतीहरों से या मजदूरी व बटाई पर खेती करने की छूट प्रदान की जाये।

6. एक काश्तकार को मकान तथा कृषि औजार बनाने के लिए लकड़ी की जरूरत होती है तो मकान की छत बनाने के लिए घास तथा ईधन के लिए लकड़ी की जरूरत होती है। इन वन उत्पादों को काश्तकारों को मुफ्त में दिया जाये।

7. उनको अपनी फसल सुरक्षा के लिए बन्दूकों के लाइसेन्स दिये जायें।

8. पेयजल हेतु उनके गांवों में कुओं की खुदाई करवायी जाये।

9. उन्हें जमींदारी गांवों अथवा बाहर के जिलों से खेतिहर मजदूरों को लाने की अनुमति दी जाये।

10. उन्हें शासन से तकाबी ऋण अपने प्रधान की जमानत पर उपलब्ध कराया जाय तथा इस हेतु उनसे कोई सूद न लिया जाये।''

उस समय शासन काश्तकारों को तराई–भाभर में बसने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था। अतः उनके द्वारा रखी गयी इन शर्तों को लगभग पूरी तौर पर मान लिया गया। इसके अतिरिक्त उनकी आर्थिक सहायता के लिए सन् 1906 में 'कुमायूँ भाभर खेतिहर न्यास निधि नैनीताल जिला' की स्थापना की गई। इस निधि से प्राप्त धन का उपयोग किसानों में वितरण हेतु दवाइयों की खरीद के लिए किया जाता

http://uou.ac.in

था। ज्ञातव्य है कि उस समय तराई में होने वाली मलेरिया आदि बीमारियों की डर से काश्तकार वहां पर नहीं बसना चाहते थे। इस हेतु ही इस निधि की स्थापना की गयी।

इसके साथ ही शासन ने काश्तकारों को स्वच्छ वातावरण सुलभ करने के लिए उनको पेयजल सुविधा प्रदान की। इस दिशा में शासन ने पहले से मौजूद कुओं की मरम्मत कर उनमें सुधार किये तथा उनके पानी को दवाइयों के उपचार से पीने के योग्य बनाया। वर्ष 1905 से 1908 तक इस विषय में की गयी कार्यवाही के आंकड़े नीचे दी गयी तालिका में दिये गये हैं–

तराई के कुओं का सुधार

वर्ष	साफ/मरम्मत किये गए कुएं	सफलता पूर्वक एवं उपचार किए गए	उपचार न किए गए	योग
1905–6	14	20	21	55
1906–7	–	44	14	58
1907–8	130	33	27	190
योग	144	97	62	303

उस समय काशीपुर में पैदा की जाने वाली कपास संयुक्त प्रान्त में सबसे उत्तम मानी जाती थी। इसमें एक ऐसी चमक होती थी, जिसकी वजह से यह कपास देश में और विशेषतया बम्बई में बहुत पसन्द की जाती थी। शासन ने तराई–भाभर के निवासिंयों की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए काशीपुर में दो कपास की ओटाई मिलें स्थापित कीं।

इसके अतिरिक्त कुछ बागवानी योजनाऐं भी शुरू की गयीं। यहां पर आम और लीची के बाग लगाये गये। सन् 1910 तक इस क्षेत्र में ऐसे सुव्यवस्थित बागों की संख्या पाँच थी। वे भाभर में हल्द्वानी, कालाढूंगी और रामनगर में थे तो तराई में गदरपुर और सितारगंज में थे। कुमायूँ के कमिश्नर ने दो जून 1913 को किच्छा में भी ऐसे ही बाग को अपनी स्वीकृति प्रदान की।

http://uou.ac.in

खाम गांवों को छोड़ने के इच्छुक काश्तकारों के लिए नियम व शर्तें :–

तराई–भाभर में खाम गांवों को छोड़कर जाने के इच्छुक काश्तकारों के लिए सन् 1906 में नियम व शर्तें निर्धारित की गयीं जो इस प्रकार हैं–

''1. जिन काश्तकारों ने सरकारी तकाबी ऋण अथवा अन्य सभी ऋण वापिस कर दिये हैं तथा गांवों के पधान व हिस्सेदार का धन लौटा दिया है, वे गांव छोड़कर जाने को स्वतंत्र हैं, बशर्ते कि–

(अ) उनकी झोपड़ियां पुनः सरकारी सम्पदा हो जाती हैं और उन्हें किसी भी अवस्था में उसकी छत या अन्य सामान को उठाकर ले जाने की अनुमति नहीं है।

(आ) वे सरकार द्वारा सुलभ की गयी लकड़ी, घास आदि से बनाये गये कृषि औजारों व गाड़ियों को अपने साथ कदापि नहीं ले जायेंगे। वे सरकार को इन वस्तुओं का मूल्य अदा करने पर ही ऐसा कर सकते हैं।

(इ) गांव छोड़कर जाने के इच्छुक काश्तकारों को खाम सुपरिटेंडेन्ट को 15 अप्रैल से पूर्व इसकी लिखित सूचना देनी होगी। विलम्ब से सूचित किये जाने पर उनके आवेदन को रद्द किया जा सकता है तथा उन्हें आने वाले साल का लगान का भुगतान भी करना होगा।

(ई) काश्तकारों को गांव छोड़कर जाने से पूर्व पेशकार से सरकारी धन तथा गांव के पधान व हिस्सेदारों का धन पूर्णतया भुगतान कर लेने का प्रमाण–पत्र प्राप्त करना होगा। इसके बिना वे अपने साथ अपनी किसी भी वस्तु को नहीं ले जा सकेंगे।

(उ) काश्तकारों तथा गांव पधान व हिस्सेदार के बीच यदि देय धन के बारे में मतभेद होगा तो देय धन का समुचित प्रमाण पेश करने का दायित्व पधान व हिस्सेदार का ही होगा। ऐसा न कर पाने पर काश्तकार को गांव छोड़कर चले जाने की अनुमति प्राप्त होगी। लेकिन इसके पूर्व उसको शासन को देय सभी धन चुकता करना होगा।

2. खेती से त्यागपत्र की लिखित सूचना तुरन्त पेशकार को भेज दी जाएगी, ताकि वह सूचित कर सके कि :

(अ) क्या काश्तकार द्वारा शासन, पधान व हिस्सेदार को कोई धन देय तो नहीं है?
(आ) काश्तकार द्वारा खेती छोड़कर जाने का इरादा प्रकट करने पर पेशकर को विषयक लिखित सूचना प्राप्त होने के 20 दिनों के अंदर अपनी रिपोर्ट देनी होगी।

3. यदि कोई काश्तकार शासन, पधान व हिस्सेदार को देय धन की पूर्ण अदायगी के पूर्व अपने मवेशियों व साजोसामान के साथ जाने का प्रयास करे तो उसको भगोड़ा करार किया जाना चाहिए। वह किसी को अपना जमानती रखकर ही ऐसा कर सकता है। लेकिन जमानती के न होने पर उसकी सम्पदा व मवेशियों को तब तक के लिए जब्त कर दिया जाना चाहिए, जब तक वह देय धन का पूर्ण भुगतान न कर ले।

4. काश्तकार की ऐसी सम्पदा को गांव पधान के सुपुर्द कर दिया जाना चाहिए, जो इसकी रसीद पेशकार और सम्पत्ति के मालिक दोनों को देगा। पधान को इस सम्पत्ति की भली–भांति देखभाल करने का दायित्व निर्वाह करना होगा।

5. गांव छोड़कर जाने के इच्छुक किसी भी काश्तकार को किसी भी स्थिति में ऐसा करने से रोका नहीं जा सकता है। केवल ऊपर दी गयी परिस्थितियों में उनके मवेशी तथा सम्पदा को ही जब्त किया जा सकता है।

6. ऊपर दिये गये नियमों के बावजूद खाम सुपरिन्टेंडेंट को अधिकार होगा कि वह–

(अ) 15 अप्रैल के बाद भी काश्तकार का त्यागपत्र स्वीकृत कर ले।

(आ) यदि काश्तकार किसी दूसरे सरकारी गांव में जाने का इच्छुक हो तो उसको शासन द्वारा निःशुल्क प्राप्त वस्तुओं की कीमत का भुगतान किये बगैर भी उन वस्तुओं के साथ गांव छोड़कर चले जाने की अनुमति दी जा सकती है''।

(सूचना श्रोत कुमायूँ आयुक्त कार्यालय)

इन नियमों व शर्तों के निर्धारित किये जाने के पूर्व संयुक्त सचिव, राजस्व परिषद, उत्तर पश्चिम प्रांत (जिसमें वर्तमान उत्तरप्रदेश भी सम्मिलित था) और कुमायूँ आयुक्त के बीच इस सम्बंध में पत्राचार हुआ। संयुक्त सचिव ने अपने पत्र दिनांक अगस्त 26, 1904 को कुमायूँ के आयुक्त को लिखा कि 'कसूरवार काश्तकारों को किसी भी हालत में उनके द्वारा देय धन की अदायगी के लिए समुचित कार्यवाही के बिना तराई छोड़कर जाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए'। इसी हेतु सन् 1906 में ऊपर दिए गए नियमों को निर्धारित किया गया।

पटवारी व कानूनगो की नियुक्ति आदि के नियम–

तराई–भाभर में पटवारी और कानूनगो राजस्व प्रशासन के अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी थे। उनको दूसरी जगहों में नियुक्त पटवारियों व कानूनगो से अधिक अधिकार

प्राप्त थे। इन्हें राजस्व अधिकार के साथ ही साथ पुलिस अधिकार भी प्राप्त थे। फौजदारी मामलों में कानूनगो को पुलिस इन्सपेक्टर तथा पटवारी को सब–इन्सपेक्टर के अधिकार प्राप्त थे।

तराई–भाभर के पटवारी और कानूनगो की नियुक्ति के नियम सर्वप्रथम सन् 1897 में निर्धारित किये गये, लेकिन उनको सन् 1906–07 से ही लागू किया गया। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण नियम नीचे दिये जा रहे हैं–

पटवारी

1. डिप्टी कमिश्नर पटवारियों की नियुक्ति करेगा।

2. डिप्टी कमिश्नर पात्र उम्मीदवारों की एक सूची रखेगा। नियुक्ति सिर्फ इस सूची के अनुसार ही की जायेगी। इस सूची के बाहर से नियुक्ति उसी दशा में की जायेगी, यदि रिक्तियों की संख्या सूची में दिये गये उम्मीदवारों की संख्या से अधिक हो। सूची के बाहर से नियुक्ति की जाने की दशा में नियुक्ति केवल अस्थाई ही होगी।

3. इस सूची में अपनी उम्मीदवारी दर्ज कराने के लिए अभ्यर्थी को नीचे दी गयी शर्ते पूरी करनी होंगी–

(अ) असिस्टेंट सर्जन से अच्छे स्वास्थ्य का प्रमाण पत्र।

(आ) वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल परीक्षा अथवा उससे कोई ऊँची परीक्षा उत्तीर्ण करने का प्रमाण पत्र।

(इ) पर्वतीय पटवारी स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने का प्रमाण पत्र।

(इ) 20 वर्ष से नीचे तथा 25 वर्ष से ऊपर की आयु वाले किसी अभ्यर्थी का नाम इस सूची में शामिल नहीं किया जायेगा।

4. उम्मीदारों की सूची में नाम अंकित कर लिये जाने के बाद अभ्यर्थी को रू० 500/– कीमत जमानत देनी होगी। इसके साथ ही उसको डिप्टी कमिश्नर के आदेशानुसार छः मास की प्रयोगात्मक दीक्षा प्राप्त करनी होगी।

5. नियुक्त कर लिये जाने पर पटवारी को अनिवार्यतः अपनी पट्टी में ही निवास करना होगा। विशेष परिस्थिति में उसको इससे छूट भी दी जा सकेगी। उसको सदा अपनी पट्टी में ही उपस्थित रहना पड़ेगा। केवल अपने कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए अथवा अपने उच्चाधिकारी की अनुमति से ही वह पट्टी से दूर रह सकता है।

http://uou.ac.in

6. (अ) कोई पटवारी अपनी पट्टी में किसी किस्म का व्यापार, धन कर्ज पर लेने या मांगने का कार्य डिप्टी कमिश्नर की आज्ञा के बिना नहीं कर सकता है। इसके साथ ही वह अपनी पट्टी में न तो किसी सम्पत्ति का मालिक हो सकता है, न खरीद सकता है और न ही खेती कर सकता है। इसके लिए भी उसको डिप्टी कमिश्नर से विशेष अनुमति प्राप्त करनी होगी।

(आ) यदि किसी पटवारी का ऐसे में तबादला हो जाये, जिसमें उसने किसी से कर्ज लिया हो अथवा उसके परिवार के किसी सदस्य की भूमि हो, या वह खेती करता हो तो उसको इस तथ्य की सूचना डिप्टी कमिश्नर को देनी होगी।

7. जिले को अनुदान की एक राशि उपलब्ध होगी, जिससे डिप्टी कमिश्नर अच्छा कार्य करने वाले पटवारियों को पारितोषिक दे सके।

8. यदि किसी पटवारी या सहायक पटवारी को अपना कर्तव्य पालन न करने का दोषी पाया जाये तो उसको अपनी स्थिति स्पष्ट करने का मौका दिया जाना चाहिए। फिर भी यदि वह दोषी पाया जाये तो उससे अधिकतम तीन मास के वेतन के बराबर जुर्माना वसूल किया जा सकता है अथवा अधिकतम छः मास के लिए निलम्बित रखा जा सकता है।

9. पटवारी को अपने पद से हटाने अथवा सेवामुक्त किये जाने के आदेश के खिलाफ कमिश्नर से अपील करने की छूट होगी। लेकिन यह अपील 60 दिनों के अंदर की जानी चाहिए। अपील पर कमिश्नर का निर्णय अंतिम होगा। पद या निष्कासन या सेवा मुक्त किये जाने विषयक अन्य सभी सजाओं के मामले में डिप्टी कमिश्नर का निर्णय अंतिम माना जायेगा।

10. सामान्यतया पटवारी 50 साल की आयु तक नौकरी में रहेगा। डिप्टी कमिश्नर को अधिकार होगा कि वह समय–समय पर इस सेवा अवधि में बढ़ोत्तरी कर सकेगा। यह बढ़ोत्तरियां एक बार में एक साल से अधिक की नहीं होगी, तथा 60 साल की आयु प्राप्त करने के बाद बढ़ोत्तरी नहीं दी जा सकेगी।''

(सूचना श्रोतः किच्छा तहसील)

कानूनगो

''1. नीचे दी गयी शर्तों को पूरा करने वाले अभ्यर्थी सुपरवाइजर कानूनगो या असिस्टेंट कानूनगो पद के पात्र होंगेः

(अ) उसको मिडिल स्कूल या उससे ऊपर कोई अन्य सरकार द्वारा निर्धारित परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए। सरकार विशेष परिस्थितियों में इससे छूट भी दे

सकेगी। यह विशेष छूट केवल उन्हीं सुपात्र पटवारियों को दी जायेगी, जिनके बारे में उच्चाधिकारी महसूस करें कि वे कानूनगो का कार्यपूर्ण दक्षता के साथ कर सकेंगे।

(आ) उसको पूर्णतया स्वस्थ होना चाहिए। इस हेतु उसको जिले के सिविल सर्जन से प्रमाण पत्र प्राप्त करना होगा।

(इ) उसका चरित्र उच्च हो तथा वह सम्मानित परिवार का सदस्य हो।

(ई) वह न्यूनतम तीन वर्षों से संयुक्त प्रदेश का निवासी हो।

2. कानूनगो के किसी पद के रिक्त हो जाने पर यदि वह रिक्ति पैतृक कानूनगो पद की हो तो डिप्टी कमिश्नर उसी परिवार के सुपात्र उम्मीदवार को कानूनगो पद पर नियुक्त करेगा। उस परिवार में किसी उम्मीदवार के सुलभ न होने पर किसी दूसरे पात्र अभ्यर्थी को उस पद पर नियुक्ति प्रदान की जा सकेगी। गैर पैतृक कानूनगो पद की रिक्त होने पर डिप्टी कमिश्नर उस पद पर किसी सुपात्र पटवारी को अथवा किसी दूसरे अभ्यर्थी को नियुक्त कर सकेगा।

3. किसी भी परिस्थिति में नियत आयु से कम के किसी अभ्यर्थी को कानूनगो पद की नियुक्ति नहीं दी जायेंगी।

4. पैतृक अथवा गैर पैतृक कानूनगो पद पर नियुक्त किसी भी अभ्यर्थी को एक वर्ष के सफल परीक्षण के बिना स्थायी नहीं किया जायेगा।

5. किसी कानूनगो द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन न कर पाने अथवा अभद्र व्यवहार करने की दशा में डिप्टी कमिश्नर कसूरवार कानूनगो पर अधिकतम तीन महीने के वेतन के बराबर जुर्माना अथवा तीन महीने की अवधि तक निलम्बित अथवा कुछ समय के लिए उसके वेतन में कटौती कर सकता है। डिप्टी कमिश्नर अपने विवेक पर कानूनगो को कहीं भी स्थानान्तरित कर सकता है। कमिश्नर अपने डिप्टी कमिश्नर से किसी कानूनगो द्वारा कर्त्तव्य का पालन न करने अथवा अभद्र व्यवहार करने आदि की शिकायत मिलने पर कसूरवार कानूनगो को पद से हटा सकता है अथवा उसे सेवामुक्त कर सकता है।

6. कमिश्नर द्वारा जारी किये गये ऐसे आदेश के खिलाफ राजस्व परिषद से अपील की जा सकती है, बशर्ते कि यह अपील आदेश जारी करने के 90 दिनों के अंदर कर दी जाये। छोटी सजाओं के बारे में डिप्टी कमिश्नर का आदेश अंतिम होगा''।

(सूचना श्रोत हल्द्वानी तहसील)

http://uou.ac.in

इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास 1826 ई० में किए गए। उस समय ट्रेल कुमायूँ का कमिश्नर था। उसके सुझावों पर एक घोषणा की गयी, जिसके अनुसार सभी थापलों (भाभर के उत्तरी छोर पर स्थित संकरी मैदानी पट्टी) में 'साल वनों' को काटने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसके अलावा वन संरक्षण के लिए कोई और कदम नहीं उठाये गये थे। जिसके कारण जंगलों का कटान जारी रहा, जो सन् 1855 से 1861 के बीच चरम सीमा पर पहुँच गया। उस समय रेलवे के स्लीपरों के लिए लकड़ी की बहुत जरूरत थी, जिसके फलस्वरूप लकड़ी के कई ठेकेदार इस अंचल में पहुँच गये। उनको अपनी मनमर्जी के अनुसार जंगलों को काटने की छूट दे दी गयी। इसके फलस्वरूप केवल जंगलों का विनाश ही नहीं हुआ, अपितु आवश्यकता से अधिक पेड़ों का कटान भी हो गया। ऐसे कई पेड़ों को ढुलाई की असुविधा के कारण जंगल में ही पड़े रहने दिया गया। भूमि में कटे–पड़े ऐसे वृक्षों की तायदात इतनी अधिक थी कि जंगलों का नियंत्रण कमिश्नर द्वारा ग्रहण कर लिये जाने के उपरांत कुछ वर्षों तक सरकारी कर्मचारियों का कार्य ऐसे पेड़ों की सफाई तक ही सीमित रहा। तत्कालीन कुमायूँ कमिश्नर मेजर राम्जे ने 1861 में स्थिति की गंभीरता को महसूस किया। उसने तत्काल वन सम्पदा के इस कदर तहस–नहस किए जाने पर रोक लगाने के लिए प्रभावी कदम उठाने का निर्णय लिया। इस हेतु उसने वन–संवर्धन के लिए कुछ स्थायी उपाय किये। सन् 1862 में मेजर राम्जे को कमिश्नर कुमायूँ के दायित्व के अलावा अरण्य–पाल का दायित्व भी दे दिया गया और वन अधिकारियों की नियुक्ति कर जंगल की सुरक्षा के उपाय किये गये। उसने काटे जाने के लिए उपयुक्त पेड़ों को चिह्नित करवाना शुरू किया। इसके साथ ही साथ आगे से जंगलों की सुरक्षा के लिए भी कदम उठाये गये।

सन् 1868 में वनों को वन विभाग के अन्तर्गत लाया गया। लेकिन वनों को राजकीय अधिकार में लेने की अधिसूचना सिंतम्बर 5, 1877 से पूर्व न निकाली जा सकी। उसके बाद जंगलों में आरक्षित क्षेत्रों का सीमांकन कर लिया गया। तराई–भाभर में जमींदारी गांवों को छोड़कर शेष सारे जंगलों की उपज का स्वामित्व सरकार ने ग्रहण कर लिया।

जंगलों के संरक्षण में सन् 1862 में कुमायूँ आयरन वर्क्स कम्पनी की स्थापना के फलस्वरूप बाधा उपस्थित हो गयी। इस कम्पनी के हित में वन नियमों में छूट देकर उस को ईधन की अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बेरोक–टोक जंगल से पेड़ों को काटने की सुविधा दी गयी। सन् 1878 में वन अधिनियम के स्वीकृत किए जाने के बाद सिविल और रिजर्व वनों को अलग कर दिया गया। इस अधिनियम के लागू होने के फलस्वरूप तराई–भाभर में कुछ वनों को रिजर्व घोषित कर उनको

वन विभाग के आधीन कर लिया गया। इसके अतिरिक्त वन संवर्धन के लिए नीचे दिए गए कुछ अन्य कदम उठाये गये :–

1. सरकार द्वारा कुमायूँ आयरन वर्क्स कम्पनी को पट्टे पर दिए गए वन की सुविधा को 1890 ई० में समाप्त कर दिया गया।

2. सन् 1899 में भाभर के खैर बहुल इलाके गडप्पू, बांकरा, गोला, सुखी और कैलाश खण्डों को रिजर्व घोषित कर दिया गया, ताकि इन वनों का पुनर्जीवन हो सके और यहां पर कत्था उत्पादन को बढ़ावा मिल सके।

3. सन् 1899 में ही स्वालदे, कोटखरा, सूरिया, बनबसा और मकोनियां खण्डों को संरक्षित घोषित किया गया।

चराई के नियम

तराई–भाभर कई सालों से चराई का क्षेत्र रहा है। सन् 1903 में पाया गया कि इस वजह से जंगलों को बड़ा नुकसान हुआ है। इस हानि से बचने के लिए तय किया गया कि चराई के लिए जंगलों में अलग से क्षेत्र निर्धारित किये जायें, जिससे शेष जंगल में पौधे पनप सकें। फलतः सन् 1909 में चराई के नियम और उस पर लिया जाने वाला शुल्क निर्धारित किया गया। इस विषय में महत्वपूर्ण नियम निम्नवत् थे :

''1. रिजर्व वनों में रहने वाले गांवों से चराई शुल्क वसूल किया जायेगा। यह कार्य वन प्रभाग करेगा। प्रभागीय वन अधिकारी को ऐसे गांववासियों के मवेशियों की गिनती करने तथा उनसे शुल्क वसूल करने का दायित्व सौंप दिया गया।

2. ऐसे रिजर्व वनों की बाहरी छोर तथा उससे 3.22 कि०मी० परिधि के अन्दर स्थित गांवों को भी चराई की सुविधा इस शर्त पर दे दी गयी कि उन्हें सम्मिलित रूप से चराई शुल्क देना पड़ेगा। यह चराई केवल उन्हीं वन खण्डों में होगी जो इसके लिए निर्धारित किये गए हों।

3. इस परिधि के बाहर स्थित गांवों के लोग भी ऐसे वन खण्डों में अपने मवेशियों को चराई के लिए ले जा सकते थे, बशर्ते कि वे इस हेतु तराई–भाभर के विशेष वन अधिकारी से अनुमति प्राप्त कर चुके हों।

4. विशेष वन अधिकारी को प्रतिवर्ष पहली अक्टूबर के पूर्व सभी गांवों की सूची तैयार करनी होती थी जो साझे तौर पर जंगलों में चुगाई करवाते थे।

http://ignou.ac.in

5. अनधिकृत गांवों के मवेशियों के ऐसे जंगलों में चराई करते हुए पाये जाने पर उनको वन अधिकारी पकड़ सकते थे। ऐसे मवेशियों के मालिकों के खिलाफ विशेष वन अधिकारी अदालतों में मुकदमा चला सकते थे।

6. साझा रूप से जंगल में चराई करने वाले गांवों के मवेशियों की गणना का दायित्व विशेष वन अधिकारी का था।

7. चराई के लिए उपलब्ध वन खण्ड में यदि साल वृक्ष हों तो वन विभाग को जंगल के उस भाग को आरक्षित घोषित करने का अधिकार था।''

वनों का व्यापारीकरण :–

इसी दौरान वनों से निरन्तर राजस्व की प्राप्ति के लिए मध्य हिमालयी क्षेत्र के वनों में कुछ योजनाएं प्रारंभ की गईं। इनके द्वारा प्रयास किया गया कि वनों से बिक्री के लिए प्रतिवर्ष उपज प्राप्त होती रहे। जाहिर है कि तराई –भाभर, जो वनों से आच्छादित था, भी हमारे शासकों की इस योजना के अर्न्तगत आया। वर्ष 1912 ई० से वर्किंग प्लान शुरू किए गए, जिनसे इस क्षेत्र के वनों को एक पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार काटा जाता रहा। इन योजनाओं के शुरू होने के साथ ही तराई–भाभर इलाके में ठेकेदारों और उनके मजदूरों ने बड़ी संख्या में आकर बसना शुरू किया। लेकिन ये निवासी स्थायी न होकर भ्रमणशील ही रहे।

तराई–भाभर के वनों की उपज के लिए बिक्री केन्द्र इस अंचल में सीमित ही थे। इनमें से भाभर क्षेत्र में रामनगर, हल्द्वानी, कालाढुंगी और टनकपुर थे तो तराई में, काशीपुर, बाजपुर, गदरपुर, लालकुआं, किच्छा, सितारगंज और खटीमा थे। इन केन्द्रों में इस अंचल के वनों की उपज का अधिकांश भाग बिक जाता था, जो यहां से होता हुआ मैदानी क्षेत्रों में बिक्री व उपयोग के लिए पहुँचता था। तराई–भाभर क्षेत्र के बाहर बरेली, मुरादाबाद, मेरठ और दिल्ली ऐसे केन्द्र थे, जहां पर यहां के वनों की उपज पहुंच जाया करती थी। इन केन्द्रों में खपत के लिए वनों की जिस उपज की अधिक मांग हुआ करती थी, उसका विवरण नीचे दिये अनुसार है–

1. साल, जिसका उपयोग रेलवे स्लीपरों और मकान बनाने के काम में अधिक होता था।

2. सैन, का इस्तेमाल बहुधा बरेली वुड वर्किंग इन्स्टीट्यूट तथा लाहौर की नार्थ वैस्टर्न रेलवे वर्कशाप में होता था।

3. शीशम को लट्ठों के रूप में बरेली और पीलीभीत भेजा जाता था, जहां इसका उपयोग फर्नीचर बनाने के काम में किया जाता था। इस किस्म के लट्ठों की मांग गन कैरियेज फैक्टरी, जबलपुर में भी अधिक थी।

4. दियासलाई तथा पैकिंग के लिए सेमल का उपयोग काफी अधिक होता था। इसको तराई–भाभर से वैस्ट इण्डिया मैचेज कम्पनी, क्लटरबकगंज, बरेली भेजा जाता था। इसके अलावा बरेली स्थित इण्डियन टरपैनटाइन एण्ड रोजीन कम्पनी को भी सेमल की प्रतिवर्ष 3240 घन मीटर आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त पैकिंग के लिए बक्से तैयार करने हेतु बरेली, अलीगढ़, कानपुर और मेरठ में सेमल के तख्तों की पर्याप्त मांग हुआ करती थी।

5. खैर के पेड़ों की मांग कत्था बनाने के लिए काफी थी। इसकी खपत गोंडा तथा पूर्वी जिलों में अधिक थी। बरेली (इज्जतनगर) की इण्डियन वुड प्रोडेक्ट कम्पनी के साथ प्रतिवर्ष न्यून्तः 0.99 मीटर मोटाई के छः हजार खैर वृक्षों की आपूर्ति करने का समझौता किया गया था। इससे यह कम्पनी कत्था बनाया करती थी।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, भाभर के वनों में तथा कुछ हद तक तराई वनों में भी मवेशी चराई किया करते थे। यहां से बुलन्दशहर, मेरठ तथा बरेली शहरों को घी बेचने के लिए भेजा जाता था। ये शहर अपनी घी की आवश्यकता के लिए प्रमुखतया तराई–भाभर पर ही आश्रित थे।

काश्तकारों को लकड़ी सुलभ करने के नियम

सन् 1936 में तराई–भाभर के काश्तकारों को सरकारी वनों से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निःशुल्क लकड़ी देने के बारे में कुछ नियम बनाये गये। इसके दो उद्देश्य थे। प्रथमतः इस प्रकार सरकार तराई में बसने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि करना चाहती थी और द्वितीयतः इसके साथ ही साथ वे इन वनों का वैज्ञानिक आधार पर प्रबन्ध करना चाहती थी। विषयक प्रमुख नियम नीचे दिये जा रहे हैं–

1. जंगल में कुछ खण्ड ऐसे निर्धारित थे, जिनका काश्तकार बेरोक–टोक इस्तेमाल कर सकते थे। काश्तकार ऐसे जंगलों से बिना चिह्न लगाए गए पेड़ों को अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु काट सकते थे।

2. जंगलों से लकड़ी काटने के लिए मांग पत्र केवल दो परिस्थितियों में ही स्वीकृत किये जा सकते थे–

(1) पक्के मकानों के निर्माण हेतु।

(2) नये काश्तकारों की व्यक्तिगत जरूरतों की पूर्ति हेतु।

3. तराई–भाभर क्षेत्रों के लिए प्रति 100 बीधा के पीछे अधिकतम लकड़ी नीचे दिये अनुसार ही स्वीकृत की जा सकती थी–

साल	0.099 घ०मी०
खैर	0.020 घ०मी० (प्रति 100 बीघा 6.56)
शीशम	0.013 घ०मी० (हेक्टेयर काश्त के लिए)
तुन	0.0054 घ०मी०
धौरी और कोकाट	0.60 घ०मी० (0.3 मीटर व्यास से अधिक)

(आ) तराई प्रति 100 बीघा काश्त पर मकानों, जिनमें नये मकान भी शामिल हों, पुराने मकानों की मरम्मत तथा मवेशियों के लिए छप्परों हेतु। यह लकड़ी कृषि औजरों के लिए भी निर्धारित है। अतः इस हेतु अलग से लकड़ी स्वीकृत नहीं की जायेगी।

साल	0.099 घ०मी०
खैर	0.020 घ०मी० (प्रति 100 बीघा)
शीशम	0.013 घ०मी० (6.56 हेक्टेयर काश्त के लिए)
तुन	0.0054 घ०मी०
धौरी और कोकाट	0.60 घ०मी० (न्यूनतम 0.07 मीटर तना)

(इ) ईंट व पत्थर के मकान : तराई या भाभर के काश्तकारों को अपने लिए ईंट या पत्थर के नये मकान बनाने या पुराने मकानों की मरम्मत के लिए आवश्यक लकड़ी हेतु तराई–भाभर स्टेट के सुपरिन्टन्डेंट के माध्यम से आवेदन करना होगा। उनकी संस्तुति के बिना कोई लकड़ी स्वीकृत नहीं की जायेगी। लकड़ी की स्वीकृति सामान्यतया खेती के अन्तर्गत भूमि के अनुसार दी जायेगी, तथापि विशेष परिस्थितियों पर भी विचार किया जा सकता हैः

साल 4.6 घ०मी० (छाल के अन्दर लट्ठे की माप के अनुसार)

http://uou.ac.in

हल्दू 2.3 घ०मी० (छाल के अन्दर लट्ठे की माप के अनुसार)प्रति 500 बीघा (32.8 हेक्टेयर)अतिरिक्त काश्त के लिए)

हल्दू 1.15 घ०मी० (छाल के अन्दर लट्ठे की माप के अनुसार)

साल 2.3 घ०मी० (छाल के अन्दर लट्ठे की माप के अनुसार)

(ई) नये वाशिन्दों के लिए काष्ठ–इस हेतु सभी आवेदन तराई–भाभर स्टेट के सुपरिन्टेंडेंट के माध्यम से किये जायें, जो उन पर भी संस्तुति देगा। ऐसे आवेदकों को अधिकार ऊपर 3 (अ) और 3 (आ) के अन्तर्गत दिये गये परिणाम से चौगुना ही स्वीकृत किया जा सकेगा। इसमें सुपरिन्टेंडेंट को प्रथम वर्ष में काश्त के अन्तर्गत ली जाने वाली भूमि के अनुमान के अनुसार अपनी संस्तुति देनी होगी।

युद्धोत्तर विकास

इन प्रयासों तथा जनसंख्या के कारण तराई–भाभर में निवासियों की तादाद बढ़ती चली गई। 20वीं सदी की शुरूवात तक यह बढ़ोत्तरी चलती रही। सन् 1918 ई० में इस भूभाग में इन्फ्ल्युएंजा विभीषिका के रूप में फैल गया। उसके दो साल बाद 1920 ई० में यहां पर हैजा महामारी के रूप में फैल गया। उस समय स्वास्थ्य सेवाओं के निपट अभाव के फलस्वरूप इन दोनों प्रकोपों के कारण यहां पर आबादी में काफी कमी आ गई। तराई–भाभर डैवलपमैण्ट कमेटी के सदस्य श्यामलाल वर्मा का सन् 1947 में कथन था कि तदुपरान्त यह इलाका काफी समय तक पुनः सरसब्ज न हो सका।

तराई में आबादी की कमी की वजह वहां पर डाकुओं का भय भी था। तराई एवं भाभर डैवलपमैण्ट कमेटी रिपोर्ट, 1947 के अनुसार भी डाकुओं के आतंक से वहां पर जनसंख्या कम होने लगी थी। मैदानी इलाकों से डाकू आकर वहां पर डकैतियां डालते थे। घने जंगल उनका छिपना आसान बना लेते थे। फलतः शासन कोशिश करने पर भी उनका कुछ बिगाड़ न सकता था। इस हालत में अंग्रेजों ने उनको वहां पर बसाना चाहा, जिससे वे डाका डालना छोड़कर खेती–बाड़ी में लग जाएं। इससे एक ओर तो वहां के निवासी डाकुओं के भय से मुक्त हो जाते और दूसरी ओर तराई–भाभर को आबाद करने में मदद मिलती। लेकिन डाकू इसके लिए तैयार नहीं थे। इन डाकुओं में उस समय का तराई का आतंक सुल्ताना डाकू भी होता था। उसके बारे में कहा जाता था कि वह अमीरों को लूटता था तो गरीबों की

http://ignou.ac.in

मदद भी करता था। साथ ही वह न तो महिलाओं पर स्वयं कोई अत्याचार करता था और न ही अपने साथियों को ऐसा करने देता था।

सन् 1943 ई० तक यह स्थिति बनी रही। तब दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के आसार दिखने लगे थे।जाहिर है कि युद्ध की समाप्ति पर सशस्त्र सेनाओं में बड़े पैमाने पर छटनी होती। फिर ऐसे सैनिकों को बसाने की समस्या उठ खड़ी होती। समस्या के हल के लिए ऐसे सैनिकों को तराई में बसाने का विचार आया। इस हेतु तराई–भाभर के तत्कालीन सुपरिन्टडेंट आई०डब्लू० रसेल ने एक प्रारंभिक रिपोर्ट तैयार भी की। लेकिन उस पर उस समय के भारत सरकार के सिंचाई सलाहाकार विलियम स्टेपी के विरोध के कारण आगे कार्यवाही न की जा सकी। स्टेपी का विचार था कि तराई में जल–निकासी बहुत कठिन है और उसके बिना वहां पर बड़े पैमाने पर आबादी को बसाना अत्यन्त कठिन भी होता।

इस विचार–मन्थन के चलते–चलाते विश्वयुद्ध समाप्त भी हो गया। अब सेना में कमी अवश्यम्भावी हो गई थी। इस तरह छटनी के लिए गए सैनिकों को बसाना सरकार का दायित्व था। अतः तराई–भाभर की भूमि की विस्तृत सर्वे कराई गई। उसके आधार पर राधाकान्त ने वहां पर भूतपूर्व सैनिकों को बसाने की योजना तैयार की। लेकिन सन् 1947 में देश की आजादी प्राप्ति तक इस योजना पर कोई कार्यवाही न की जा सकी। उसके बाद बाजपुर, काशीपुर और कालाढूंगी के आस–पास बस्तियां बसाई गई।

विश्वयुद्ध के दौरान खेती की अनदेखी के फलस्वरूप अनाज की जो कमी पड़ी उसको दूर करने क अन्तर्गत भी तराई–भाभर को आबाद करना जरूरी हो गया। उस समय अवश्यम्भावी भुखमरी से बचने के लिए केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारें भूमि के चप्पे–चप्पे को खेती के अन्तर्गत लाने की कोशिशों में लगीं थीं। देश इस समस्या से जूझ रहा था कि अंग्रेजों को भारत को आजाद करना पड़ा। इस आजादी के साथ ही सारे देश में साम्प्रदायिक दंगों की जो लहर आई, उसके कारण बड़े स्तर पर आबादी की अदला–बदली चल पड़ी। अब अधिक अन्न उपजाने के साथ ही पश्चिम तथा पूर्वी पाकिस्तान से आये विस्थापितों को बसाने की समस्या भी थी। उनमें से काफी लोगों को तराई–भाभर में बसाया गया। इस तरह तराई–भाभर से काफी बड़े पैमाने पर जंगलों को काट कर वहां पर कई बस्तियां बसाई गई। यहीं पर इस इलाके का कायाकल्प भी हो गया।

इस उथल–पुथल के फलस्वरूप नैनीताल जिले के तराई–भाभर अंचल में नीचे दिए गए 15 वर्गों के निवासी स्थायी तौर पर बसने लगे हैं–

1. जन–जातियां, जिनमें थारू और बंक्सा प्रमुख हैं।

http://uou.ac.in

2. उत्तर प्रदेश के पर्वतीय भू–भाग के निवासी।

3. सन् 1947 के पूर्व बसने वाले पंजाबी।

4. पंजाबी शरणार्थी।

5. ऊपर 3 और 4 में दिए गए पंजाबियों के रिश्तेदार जो उनके बाद वहाँ पर आ कर बस गए।

6. पूर्वी पाकिस्तान से सन् 1947 के बाद आने वाले शरणार्थी।

7. पूर्वी पाकिस्तान में सन् 1963–64 में अशान्त राजनैतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप आने वाले बंगाली शरणार्थी।

8. म्यानमार (तत्कालीन बर्मा) से विस्थापित।

9. भूतपूर्व सैनिक।

10. कृषि स्नातक।

11. राजनैतिक पीड़ित तथा स्वतंत्रता सेनानी, जो प्रमुखतया पूर्वी उत्तर प्रदेश के हैं।

12. सन् 1971 के बाद आने वाले बंगलादेशी।

13. राजनैतिक, फिल्मी सितारे, उच्च शासकीय पदाधिकारी, व्यापारी, उद्योगपति आदि भूस्वामी, जिनकी तराई में लम्बी–चौड़ी भूसम्पत्तियां हैंः लेकिन निवास अन्यत्र करते हैं।

14. जाट।

15. राय सिख।

16. वन वासी– गोठिया, गूजर एवं टौंग्या कृषक।

17. उत्तराखण्ड स्थापना के पष्चात् बसने वाले उद्योगपति आदि।

आज तराई–भाभर उत्तराखण्ड के अनाज के गोदाम के रूप में जाना जाता है। औद्योगिक विकास यहां बड़ी द्रुत गति से हो रहा हैं किन्तु इस विकास के कारण जल और वायु प्रदूषण के साथ जहां तराई भाभर में बड़े–बड़े कृषि फार्म, वन आधारित उद्योग और आलीशान कोठियां नजर आती हैं, वहीं यहां के मूल निवासी थारू और बुक्सा तथ वनवासी गूजर और गोठिया व्यथित होने के साथ ही साथ प्रताड़ित जीवन व्यतीत कर रहे हैं। विडम्बना यह है कि वे अपने ही इलाके में अजनवी हो गये हैं और दीन–हीन जीवन व्यतीत करने को बाध्य कर दिये गये हैं। कुछ बड़े–बड़े किसानों ने थारू और बुक्सा जनजातियों के सीधेपन का फायदा उठाकर उनकी जमीन पर जबरदस्ती अधिकार कर लिया है और पुराने भू–स्वामी भूमिहीन होने के कारण अब कृषि मजदूरों के रूप में कार्य कर रहे हैं।

http://uou.ac.in

यही स्थिति वनवासी गूजरों और गोठियों की भी है। आजादी से पूर्व तराई–भाभर में ये लोग शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। ये सम्पन्न भी थे और उनके जीवन में कोई संघर्ष न था। मूल रूप से पशु–पालक होने के कारण उनकी आय का मुख्य स्रोत दूध बेचना है। लेकिन जनसंख्या में वृद्धि और तेजी से समाप्त होते वनों के कारण उनका व्यवसाय तो क्या उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। एक ओर जहां वनों के विनाश ने उन पर वज्रपात किया है तो दूसरी ओर वे उनसे दूध खरीदने वाले बनियों की धन लोलुपता के शिकार हो गये हें। दुर्भाग्यवश आजादी के इतने वर्षों के बाद भी उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं आया है। यह मात्र इस कबीले के लोगों की व्यथा ही नहीं है, उनकी उपेक्षा के फलस्वरूप यह गुजरात की आणंद (आनन्द) डेरी की भांति देश का एक बड़ा दुग्ध–उत्पादक क्षेत्र भी बन सकता था, खेदहै कि उस संभावना को भी गंवा दिया गया है।

खत्ते

कुमाऊँ के पहाड़ों के निवासी काफी लम्बे अर्से से जाड़ों के महीनों में तराई में आते रहे हैं। इस प्रकार तराई के जंगलों में जो बस्तियां बन गई हैं, उन्हीं को 'खत्ता' या 'गोठ' कहा जाता है। वे प्रमुखतया जाड़ों की भयंकर शीत से बचने के लिए अपने जानवरों सहित यहां पर आकर रहने लगते हैं। इसलिए उनको 'घमतप्पू' (धूप सेंकने वाले) भी कहा जाता है। यहां पर चराई की सुविधा और घास की बहुतायत होने से जानवर पालने में आसानी रहती है। यहां पर रहते हुए वे दूध से घी या खोया बना कर समीपस्थ बस्तियों में बेचकर कुछ पैसा भी कमा लेते हैं। अंग्रेजी शासन काल से खत्ता वाले खेतिहर मजदूरी या जंगल में मजदूरी भी करने लगे हैं।

यद्यपि शुरू में सभी घमतप्पू गर्मी आने पर वापिस चले जाते थे; लेकिन शनैः शनैः उनमें से कुछ ने सारे समय यहां निवास शुरू कर दिया। फलतः कुछ गोठ स्थायी हो गये तो शेष अस्थायी। वन विभाग के रिकार्ड में भी इन खत्तों को स्थायी अथवा अस्थायी दिखाया गया है। वन विभाग के अनुसार 33 खत्ते स्थायी और 51 अस्थायी खत्ते हैं।

घमतप्पुओं का पहाड़ों और तराई–भाभर के बीच इस सालाना आवागमन चक्र की ऐतिहासिकता के बारे में प्रामाणिक तौर पर कुछ ज्ञात नहीं। कुछ गोठ वालों की मान्यता है कि कुमाऊँ में चंद वंश के शासन काल के पूर्व से ही वे जाड़ों में तराई–भाभर में आते रहे हैं। इस धारण के लिए कोई अभिलेखीय आधार नहीं है।

http://uou.ac.in

इतना जरूर है कि तराई–भाभर वन विभाग के सन् 1890 ई0 के एक प्रलेख में घमतप्पुओं द्वारा जंगल में खत्ता या गोठ में रहने की शर्तों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही सन् 1909 ई0 में अंग्रेजों ने तराई–भाभर के जंगलों में मवेशियों को चराने तथा वहां से घास–लकड़ी ले जाने के जो नियम बनाए, उनमें इनका जिक्र जरूर मिलता है। इन सभी प्रमाणों के आधार पर निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि तराई–भाभर के वनों में खत्ते काफी पुराने समय से विद्यमान रहे हैं।

तराई–भाभर में इस तरह हर वर्ष पहुंचने वाले ये प्रवासी प्रमुखतया अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ जिलों के बारामण्डल, पाली–पछाऊँ, काली कुमाऊँ और फल्दाकोट इलाकों के निवासी हुआ करते हैं। ये ऐसे अंचलों से आते हैं जो समुद्र तल से काफी अधिक या सामान्य से अधिक ऊंचाई पर हुआ करते हैं। जाहिर है कि इन गांवों में जाड़ों में काफी ठण्ड पड़ा करती है। वैसे जाड़ों में पहाड़ों में खेती में काम लगभग नगण्य सा ही होता है। खेती इस अंचल में आजीविका का मुख्य पेशा होने से स्पष्ट है कि उन दिनों यहां के निवासियों के पास कोई काम नहीं होता। इसके अलावा तब बर्फ व पाले के कारण हरे चारे का भी अभाव रहता है, जिससे उन दिनों यहां पर जानवरों को पालना भी कठिन हो जाता है। अतः ये लोग जाड़ों में तराई–भाभर के जंगलों में अपने गोठों में चले जाते थे।

लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि एक गांव के सारे मनुष्य व मवेशी तराई–भाभर में पहुंच जाते थे। गांवों के गरीब तथा निर्बल वर्ग के लोग ही जाड़ों में गोठों में चले जाते थे। परन्तु यह भी न समझा जाये कि एक परिवार जो एक साल तराई–भाभर में आ गया, वह सदा ऐसे ही आता रहेगा। फिर एक ही परिवार के सभी लोगों का आना भी जरूरी नहीं। बल्कि बहुधा होता यही था कि परिवार के चंद लोग अपने मकानों और अन्य सम्पत्ति की सुरक्षा के खातिर गांवों में ही रह जाते थे। फिर भी आवश्यक नहीं कि जाड़ों में गोठों में आकर रहने वाले सभी 'घमतप्पू' गर्मी आने पर अपने गांवों को लौट जाते थे। इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ गोठ या खत्ते स्थायी हैं तो अन्य अस्थायी।

सन् 1958–59 में बौर गोठ में केवल 22 परिवार आये, जिनके मवेशियों की कुल संख्या 294 थी। उनकी चराई के लिए उन्होंने शुल्क के तौर पर सरकार को रू0 212.56 का भुगतान किया। उनके पांच साल बाद, अर्थात् सन् 1963–64 में वहां 23 परिवार पहुंचे। उनमें से 15 सन् 1958–59 में भी आये थे।

खत्तों के बारे में कोई प्रलेख उपलब्ध न होने के कारण उनके विषय में निश्चित रूपेण तो कुछ नहीं कहा जा सकता लेकिन अंग्रेजी शासन के अंतर्गत इस भू–भाग के आ जाने के बाद वे यहां पर आबादी की बढ़ोत्तरी के प्रयास में थे। इस दृष्टिकोण से लगता है कि उन्होंने धमतप्पुओं को खत्तों में आकर निवास करने को

प्रोत्साहित किया। यह तराई–भाभर को आबाद करने की उनकी नीति के अनुरूप ही था क्योंकि 'घमतप्पुओं' की बदौलत जनता की दूध–घी की आवश्यकता की आसानी से पूर्ति हो जाती थी और गोठ वालों को भी रोजी मिल जाती थी। जंगलों में उस समय जानवरों के लिए चारे की कोई कमी नहीं थी। इसके अतिरिक्त उस समय की दुग्ध व्यवसाय करने वाली जानी–मानी दो फर्मो एडवार्ड केवंटर और हैल्थ कैमिकल्स भी खत्तों से दूध खरीदने लग गई थीं। लगता है कि इन्हीं कारणों से कुछ ''घमतप्पुओं'' ने वर्ष भर यहीं बने रहना शुरू किया जिसके फलस्वरूप कुछ गोठ स्थायी हो गये।

उस समय तराई के घने जंगल अंग्रेज शासकों के लिए एक विकट समस्या भी थे। डाकू उन्हें अपने छिपने का अड्डा बनाये हुए थे। उनके अलावा चोर उचक्के भी वहां छिप जाया करते थे। ये जंगल इतने घने थे कि उनमें इन असामाजिक तत्वों को ढूंढ पाना असंभव था। इसके साथ ही उनमें खूंखार जंगली जानवर भी बड़ी संख्या में थे। यह अपराधियों के खिलाफ कार्यवाही को और अधिक कठिन बना देते थे। इस दृष्टिकोण से तराई–भाभर के जंगलों में खत्तों की मौजूदगी के महत्व पर कुमाऊँ के तत्कालीन कमिश्नर जनरल हेनरी रामजे ने भाभर के बारे में मई 1884 की अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि ''जब मैं पहली बार कुमाऊँ आया तो भाभर में डाकुओं के विशाल गिरोहों ने तहलका मचा रखा था। जंगल सुनसान थे, जिनमें हिंसक जन्तुओं की भरमार थी। सड़कों का बुरा हाल था। चारों ओर भय का माहौल था। ये जंगल विद्रोहियों और अपराधियों के लिए आदर्श शरणस्थली थे।'' इस परिस्थिति के निराकरण के लिए जंगलों में जगह–जगह पर शिविर स्थापित कर असामाजिक तत्वों की हलचल पर निरन्तर निगाह रखना जरूरी था। इस हेतु खत्तों का काफी महत्व था। अतः गोठों के रूप में जंगलों में बस्तियों को प्रोत्साहित किया गया। उन्हीं के बल पर तत्कालीन अंग्रेज शासकों ने अपराधियों की गतिविधियों पर रोक लगाई तथा जंगलों की रक्षा की। उस समय तक खत्तों के बाबत नियम नहीं बने थे। घमतप्पुओं की इच्छा के अनुसार उन्हें अपनी बस्तियां बनाने दी गईं। इसको उन्होंने अंग्रेजों की कृपा समझा और फलतः वे उनके प्रति स्वामिभक्त बने रहे।

इस तरह तराई–भाभर के जंगलों में गोठों का अस्तित्व बरकरार ही नहीं रहा, अपितु उनकी संख्या में वृद्धि भी हुई। लेकिन अंग्रेजों ने इन गोठों को केवल अपनी स्वार्थ–साधना का हथकण्डा ही बनाया। उनके जीवन को सुखी बनाने और इस प्रकार उनके विकास के लिए कोई प्रयास नहीं किये गये। इसके फलस्वरूप चरागाहों में अन्धाधुन्ध चराई होती रही। फलतः चारे की बेहतर जातियां विलुप्त हो गई। रही–सही कसर जंगली जानवरों ने पूरी कर डाली। उन्होंने कन्दमूल की ढूंढ में चरागाहों को खोद डाला। लावारिस छूटे मवेशियों के कारण पशुओं की बीमारियां

प्रकोप बन कर फैलने लगी। पशुओं की नस्ल सुधार के कोई उपाय न किये गये। जिससे उनकी उत्पादकता में कमी आने लगी। सड़कों की कमी के कारण खत्तों से दूध, आदि विक्रय केन्द्रों तक पहुंचाना मुश्किल था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी खत्तों की स्थिति में अपेक्षित सुधार न हो सका। अधिक अन्न उपजाओ अभियान तथा भूतपूर्व सैनिकों व विस्थापितों को बसाने के लिए काफी बड़े क्षेत्र में जंगलों को काट दिया गया। जंगल न रहे तो गोठ भी कहां से रहते फलतः इन विलुप्त हुए वनों के साथ ही कुछ गोठ भी अस्तित्व में न रह सके। वर्तमान में तराई–भाभर में 84 खत्ते हैं जो लगभग 2000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैले हैं। उनमें से वन विभाग के 1973 ई. के सर्वेक्षण के अनुसार 33 स्थायी और 51 अस्थायी हैं। वन विभाग द्वारा सन् 1973 में किये गये सर्वे के अनुसार स्थायी खत्तों में कुल मिलाकर 551 परिवार थे। उनके 10539 मवेशी थे, जिमनें से 5165 दुधारू थे। अस्थायी गोठों में 1113 परिवार निवास कर रहे थे। उनके मवेशियों की तादात 6381 थी, जिनमें से 1497 दूध देनेवाले थे।

37 साल बीत जाने के बाद भी वन विभाग ने 1973 से इन खत्तों का कोई सर्वेक्षण नहीं करवाया है। लगभग चार दशकों में गोठों की हालत में बड़ा बदलाव आ गया है।

आजादी मिलने के शुरू के सालों में भूमि पर जनंसख्या का दबाव अधिक न था। फलतः लोग अपने लिए उपलब्ध भूमि में ही सीमित रहते थे, जिसके कारण न तो वन भूमि पर अवैध कब्जे होते थे और न ही वनों का अंधाधुंध उपयोग होता था। इससे चरागाहों तथा चारा लेने पर कोई रोक–टोक नहीं थी। लेकिन यह सुखद स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चली। एक तो रिजर्व वनों में ही फार्म बन गये। दूसरे जंगलों की सीमा पर मनुष्यों के साथ ही कृषि अन्तर्गत भूमि के क्षेत्रफल में विस्तार होने लगा। जनसंख्या वृद्धि के साथ ही कृषि अन्तर्गत भूमि के क्षेत्रफल में विस्तार होने लगा तो उसी मात्रा में वन भूमि कम होती गई। वन भूमि के क्षेत्रफल, में कमी के कारण वैसे ही चरागाहों के क्षेत्रफल में कमी आ रही थी, फिर पशुओं की बढ़ी हुई तादाद रहे–सहे चरागाहों का तो सत्यानाश ही किये दे रही थी। इसके ऊपर राष्ट्रीय विकास की जरूरतों की पूर्ति के लिए वनों के काटे जाने तथा नैसर्गिक वनों की जगह पर वाणिज्यिक वनों के लगाये जाने से स्थिति विकट बनती चली गई।

तराई–भाभर में जंगलों को काट कर खेती शुरू किये जाने से यहां पर रिहायिश अब पूर्व की भांति संकटपूर्ण न रह कर अत्यन्त लाभदायक हो गई है। इसके कारण यहां पर मनुष्यों तथा पशुओं की जनसंख्या में कई गुना वृद्धि हो गई है। इन नये भू–स्वामियों और गोठियों के हित परस्पर विरोधी हैं। इस क्षेत्र के इन नव–आगन्तुकों के अलावा वन विभाग गोठियों की परेशानी का कारण बना हुआ है।

इन वनों के बीच उनके खत्ते कुछ सदियों से मौजूद हैं। कुछ साल पहले तराई–भाभर वन प्रभाग की जो पैमायिश कराई गई, उसमें इन खत्तों को नियमित नहीं किया गया। इसके विपरीत उत्तर प्रदेश सरकार की राजाज्ञा संख्या 25 (3)/ चौदहवां–बी–66 दिनांक 13.6.1969 द्वारा सुस्पष्ट किया गया कि गोठियों का खत्ते की भूमि पर कोई अधिकार नहीं है। गोठिये इसको अपने प्रति अन्याय ही समझते हैं क्योंकि वे सदियों से इन खत्तों में हैं, तथापि उनका उस भूमि पर कोई अधिकार नहीं, जबकि अवैध कब्जा करने वाले अपनी ताकत अथवा राजनैतिक पहुंच के बूते थोड़े ही समय में उस भूमि के असली मालिक करार कर दिये जाते हैं।

आबादी में बढ़ोत्तरी और रहन–सहन के स्तर में सुधार के कारण यहां पर दूध की मांग बढ़ती ही चली जा रही है, जबकि आपूर्ति इतनी नहीं है। फलतः दुग्ध व्यवसाय लाभकर बन गया है। दुग्ध उत्पादक सहकारी संघ, लालकुआं के प्रयासों की बदौलत दूध की आपूर्ति दूर–दराज के क्षेत्रों में भी की जा रही है। इस विशेष परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए कतिपय धनाढ्य लोगों ने इन खत्तों में अपने नौकर–चाकरों की देख–रेख में दुधारू पशु रखने शुरू कर दिये हैं। गोठों में पशु–पालन आसान होने की वजह से वे ऐसा करते हैं। गोठियों का भूमि पर कोई अधिकार न होने के कारण वे ऐसे लोगों का विरोध नहीं कर सकते हैं। दूसरी ओर यदि कभी खत्तों को नियमित किया गया तो भूमि पर इन नये पशु–पालकों का भी उतना ही अधिकार माना जायेगा, जितना गोठियों का जो कि अनुचित व अन्यायपूर्ण ही होगा।

खत्ता निवासियों ने स्वयं को दुग्ध सहकारी समिति में संगठित कर लालकुआं दुग्ध सहकारी संघ की स्थापना की, जिससे दुग्ध व्यवसाय को बेहतर ढंग से चलाया जा सके और बिचौलियों के शोषण से बचा जा सके। दुग्ध संघ ने अपने स्तर पर अपने सदस्यों से दूध को इकट्ठा कर उसके विपणन की व्यवस्था के अलावा दुग्ध उत्पादन को बढ़ाने तथा सदस्यों के जीवन–स्तर में सुधार के कई कार्य किये हैं। फिर भी यहां पर दुग्ध व्यवसाय के विकास की जितनी संभावनायें थीं, उनका भरपूर उपयोग न किये जाने के फलस्वरूप न तो दूध का व्यवसाय उतना फैल पाया है और न ही खत्ता निवासियों को संतोष है।

तराई भाभर के गूजर

गूजर भारत के गड़रिया कबीले के लोग हैं। इतिहासकार डब्ल्यू क्रूक का मत है कि ''गुजर'' नाम संस्कृत शब्द ''गूजर'' से निकला है जो आज के गुजरात राज्य का मूल नाम था। कहा जाता है कि गुज्जर मूलतः गो–पालक थे और उनको

''गोचर'' कहा जाता था। उनका आदि स्थान गुजरात और काठियाबाड़ माना जाता है। कालान्तर में इन ''गोचरों'' को ही ''गुज्जर'' या ''गूजर''नाम से जाना जाने लगा। लगता है कि उनकी आजीविका का साधन पशु–पालन ही था। गायों का दूध कम होने तथा उससे कम घी निकलने के कारण उन्होंने भैंसे भी पालनी शुरू कर दी। गुजरते समय के साथ ये ''गोचर'' भैंस–पालक ही बन कर रह गये हैं।

गूजर स्वतः को महाभारत काल के नन्द राजा का वंशज मानते हैं। महाभारत की पौराणिक कथा के अनुसार द्वापर में भगवान विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण का बचपन में लालन–पालन नन्द राजा के घर पर ही हुआ था। अतः उनको कृष्ण का पोषक पिता भी माना जताा है। गूजर भारत के विभिन्न भागों में घुमन्तु जीवन बिता रहे हैं। कहीं पर वे हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं तो कहीं इस्लाम और सिख धर्म के।

गूजरों के प्रारम्भिक इतिहास के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है। इतिहासविद् स्मिथ का कथन है कि ''संभवतया उनका श्वेत हूणों से खून का रिश्ता था'' और इस तरह वे भारत में बाहर से आये थे। हूण नामक घुमन्तु कबीला प्राचीन समय में बोल्गा और ओक्सस नदी की घाटियों में फैला था। बोल्गा घाटी के हूणों ने डैन्यूब नदी तक पूर्वी योरोप को अपने कब्जे में कर दिया। लेकिन इस साम्राज्य का जितनी जल्दी अभ्युदय हुआ, उतने ही थोड़े समय में यह लोप भी हो गया।

ओक्सस घाटी में फैले हूणों को 'श्वेत हूण' कहा जाता था। इन हूणों ने काबुल के कुशान साम्राज्य पर आक्रमण किये तथा पांचवी सदी में भारत में प्रवेश किया। यहां पर उन्होंने गुप्त साम्राज्य को परास्त किया। उनके नायक तोरमान ने 500 ई0 तक मालवा प्रदेश में अपनी सत्ता कायम रखी। सन् 510 ई0 में उसकी मृत्यु पर उसके बेटे मिहिरकुल को गद्दी मिली। वह भारत में हूण वंश का सबसे शक्तिशाली राजा बना। उसकी राजधानी सकला (आज का सियालकोट) थी। सन् 540 में उसकी मृत्यु के बाद हूण साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया। फिर चन्द हूण उत्तर–पश्चिमी भारत के कुछ क्षेत्रों में सातवीं सदी की समाप्ति तक शासक बने रहे। कालान्तर में हूण हिन्दू हो गये। फलतः उनका अलग अस्तित्व समाप्त हो गया।

इतिहास में गूजरों के सबसे पुराने राज्य के रूप में पांचवी सदी में राजस्थान में उनके राज्य का उल्लेख मिलता हैं; इस राज्य की राजधानी भीलमल (जिसको श्रीमल भी कहते हैं) थी। इन गूजरों ने अपनी सत्ता की पराकाष्ठा में कन्नौज पर भी अधिकार कर लिया। कन्नौज के शासक के तौर पर गूजर उत्तरी भारत की प्रमुख ताकत बन गये। इतिहासकार स्मिथ के अनुसार नौवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक गूजर कन्नौज के अधिपति बने रहे। इतिहास प्रसिद्ध राजा भोज इसी वंश का

राजा था। गूजरों ने राजस्थान में भीलमल से अपने राज्य को गुजरात में भी फैलाया। वहां पर भड़ौंच का राज्य उनके आधीन था।

गूजरों की आनुवंशिकता के बारे में इतिहासकारों के भिन्न–भिन्न मत हैं। उनके श्वेत हूण वंशज होने तथा कालान्तर में हिन्दू हो जाने का जिक्र इसके पूर्व आ चुका है। ए0एच0 बिंगले गूजरों को कुशान या यूची या तो चारी कबीले का वंशज मानता है, जब कि डी इब्बट्सन और एम0ए0 शेरिंग का कथन है कि वे राजपूत थे। बेडेन पावेल का मत इन सबसे भिन्न हैं उसका कहना है कि गूजर मूलतः एक कबीले के सदस्य थे। बाद में वे राजपूतों और दूसरी जातियों के सम्पर्क में आये तथा देश के विभिन्न भागों में फैल गये। क्रूक के मतानुसार गूजर पहले हिन्दू थे; लेकिन समय–समय पर उनसे इस्लाम धर्म ग्रहण करवाया गया। अवध के गूजरों में प्रचलित धारणा के अनुसार तैमूरलंग ने जिस समय दिल्ली को चौपट किया, उसी समय गूजरों को भी सामूहिक रूप से इस्लाम ग्रहण करने को बाध्य किया। एक मान्यता यह भी है कि औरंगजेब के शासनकाल तक गूजर हिन्दू थे तथा उसी समय उनको जबरन मुसलमान बनाया गया।

गूजर शुरू में पश्चिमी भारत के निवासी थे। कालान्तर में वे सारे उत्तर–पश्चिमी भारत में फैल गये। मुसलमान गूजर प्रमुखतया जम्मू, हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश में मिलते हैं। भारत में अंग्रेजी शासन के फैलने के साथ जम्मू के मुसलमान गूजर कश्मीर में भी फैल गये। इस हेतु उन्हें महाराजा कश्मीर द्वारा प्रोत्साहित किया गया। जाड़ों में गूजर अपनी भैंसों के साथ जंगलों के बाहरी छोर पर रहा करते हैं और गर्मियों में ऊँचाई पर बर्फ पिघलने के साथ हरियाली छा जाने पर वे वहां पहुंच जाते हैं।

हिमाचल प्रदेश के अधितर गूजर जम्मू से आये हैं। अमीर हसन का कहना है कि, ''.....वास्तव में उन्हें अभी भी जम्मू गूजर कहा जाता है।'' इस विषय में गूजरों में प्रचलित किंवदन्ती भी विचारणीय है, जिसके अनुसार लगभग 300 साल पहले हिमाचल प्रदेश में सिरमौर के राजा की शादी जम्मू राज्य की राजकुमारी से तय हुई। लेकिन राजकुमारी ने शादी की यह शर्त लगाई कि उसके साथ उसके गूजर भी जायेंगे। राजा को यह शर्त माननी पड़ी। फलतः जम्मू गूजरों का दहेज के तौर पर हिमाचल प्रदेश में प्रवेश हो गया। अमीर हसन के अनुसार ही हिमाचल प्रदेश से ये गूजर उत्तर प्रदेश के उत्तर–पश्चिमी इलाके में फैल गये। वन विभागीय अधिकारियों के अनुसार गूजर लगभग सौ साल से उत्तराखण्ड की तराई के जंगलों में रह रहे हैं।

हिमाचल प्रदेश में इन गुजरों को जनजाति का दर्जा दिया गया है तो जम्मू व कश्मीर में उहें पिछड़ी जाति करार किया गया है। इस तरह उन्हें विभिन्न कानूनों

में जनजातियों व पिछड़ी जातियों को प्राप्त सुविधायें मिली हुई हैं। ऊपर दिये गये विवरण से साफ है कि कुमाऊँ की तराई में रह रहे गूजर भी उन्हीं में से हैं। इसके अलावा उनका पिछड़ापन और कबीले की विशेषतायें भी साफ हैं। फिर भी उनको यहां न तो जनजाति घोषित किया गया है और न उन्हें पिछड़ी जातियों में शामिल किया गया है। इस तरह यह वर्ग शासकीय तौर पर तो उपेक्षित है ही, और न किसी सामाजिक संस्था ने आज तक उनकी विषम परिस्थितियों को ज्ञात करने की कोशिश की है।

उत्तराखण्ड की तराई में गूजर हिमाचल प्रदेश से आये। इसके दो कारण बतलाये जाते हैं– प्रथमतः, गूजर पशु–पालक होने के कारण उनको अपनी भैसों के लिए हरे चारे वाले लम्बे–चौड़े चरागाहों की आवश्यकता होती है। लगता है कि हिमाचल प्रदेश में चरागाहों की तंगी महसूस कर वे चरागाहों की ढूंढ़ में यहां तराई में पहुंच गये। द्वितीयतः, गूजर घुमन्तु तो है ही। इसी तरह उनका तराई में पदार्पण हो गया। यहां पर उस समय हरे चारे और विस्तृत चरागाहों की कोई कमी नहीं थी। पानी भी भरपूर था। जाड़ों में यहां का मौसम सुहावना पाकर उन्होंने इसी अंचल को अपना जाड़ों का घर बना लिया। गर्मियों में वे तत्कालीन अल्मोड़ा गढ़वाल, और टिहरी जिलों के हिमांक रेखा पर पाये जाने वाले विस्तृत बुग्याल चरागाहों में पहुंच जाते थे। सन् 1962 के चीन आक्रमण के बाद गूजरों का पर्वतीय बुग्यालों में जाना बन्द हो गया है लेकिन ऐसा नहीं कि इसके साथ ही उनका घूमन्तु जीवन समाप्त हो चला हो। अभी भी तराई के वनों में अपनी भैंसों के लिए घूमते–फिरते रहते हैं। तराई केन्द्रीय, तराई पूर्वी और तराई पश्चिमी वन प्रभागों में वे अधिकतर रहते हैं। कुल मिलाकर इस समय उनके 600 परिवार हैं। जंगलों में उनके निवास के कारण उन्हें ''वन गूजर'' भी कहा जाता है।

तराई के गूजर सीधे–सादे हैं। वे अपने में ही मस्त रहते हैं और किसी से सरोकार रखने की कोई चाह नहीं रखते। संभवतया यह उनके बनवासी जीवन के कारण भी है। अपनी भैंसों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपना डेरा डालते हुए वे इन जंगलों में घूमते–फिरते हैं। धर्म से वे बेशक मुसलमान हैं, लेकिन तराई वनों के बाहर अपनी मुसलमान बिरादरी से रिश्ता गांठने की उनको कोई चाह नहीं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दूसरे हिन्दू गूजरों से भी उनका कोई सम्पर्क नहीं। जम्मू के मुसलमान गूजरों से उनके सम्बन्ध लगभग समाप्ति पर हैं। निस्संदेह हिमाचल के गूजरों से कभी–कभार उनके ब्याह–शादी के रिश्ते कायम हो जाते हैं। लेकिन ऐसे रिश्तों की संख्या भी अब घटती जा रही है।

घुमन्तु होने के कारण गूजर प्रकृति के अत्यन्त करीब होते हैं। फलतः वे बड़ा सादगी पूर्ण जीवन बिताते हैं। उनकी व्यक्तिगत सम्पदा मात्र उनकी भैंसें और मकान होते हैं। मकान को वे ''डेरा'' कहते हैं, जो उनके घुमन्तु होने के कारण

कच्चा होता है। वैसे भी वन विभाग इनको पक्के मकान बनाने की अनुमति नहीं देता है। घने जंगल में जहां पर खुली जगह मिले, ये अपना डेरा अथवा झोपड़ी डाल देते हैं। लेकिन कोशिश इनकी यही रहती है कि ये पानी के स्रोत के समीप हो, यदि ऐसा स्थान न मिल पाये तो हैण्डपम्प लगा देते हैं। डेरे बहुधा झुण्ड में होते हैं। वैसे ये पास–पास ही होते हैं, लेकिन कभी–कभार इनमें एक से चार किलोमीटर का फासला तक पाया जाता है।

गूजरों के डेरे भारत के सामान्य गांवों से भिन्न होते हैं। एक डेरे में पांच–छः परिवार से अधिक नहीं होते हैं। इनके डेरों की स्थिति ऐसी होती है कि उनके पशुओं को दूसरे डेरों के चरागाहों में न जाना पड़े। इस वजह से ये डेरे कभी–कभी काफी फासले पर भी होते हैं। डेरों का निर्माण सामूहिक रूप से किया जाता है। इसमें सामान्यतया 10–15 दिन का समय लगता है। एक गूजर के डेरे को बनाने में सारे गूजर योग देते हैं; लेकिन उसके एवज में कुछ लेंगे नहीं। अपने साथ गूजरों के डेरों के बनाने में हिस्सा लेना हर गूजर अपना सामाजिक दायित्व समझता है। गूजर सफाई प्रिय होते हैं। झोपड़ी के अन्दर पुताई करके सफाई रखी जाती है।

एक जमाना था, जब गूजर अपनी यायावर जिन्दगी में मस्त थे। प्रकृति की खुली गोद में वे शिशु की भांति स्वच्छन्द जीवन बिता रहे थे। लेकिन अब वे दिन लद गये हैं। चरागाहों की कमी और उस पर लगने वाले नित्य नये–नये प्रतिबन्धों के कारण जहां उनकी आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो गई है, स्वच्छन्दता भी जाती रही है। उनके समक्ष सबसे बड़ी समस्या यह आ गई कि उनका पिथौरागढ़ जिले में प्रवेष प्रतिबन्धित हो गया है जिससे उनके सामने चारागाह का संकट विषालकाय हो गया है। जिन्दगी के तौर–तरीकों में बदलाव वह जरूरी समझने लगे हैं। नये जमाने में सतत् बढ़ते सम्पर्क ने भी उनकी इस कामना को हवा दी है। वह बदलाव चाहते हैं, लेकिन बिरादरी की रूढ़िवादिता, शिक्षा के निपट अभाव और शासन द्वारा उनकी स्थिति में सुधार के लिए कुछ भी न किये जाने के कारण उनकी हालत बदतर होती चली जा रही है। यह कुमाऊँ के गूजरों का दुर्भाग्य ही है कि किसी स्वयं सेवी संस्था का ध्यान उनकी ओर नहीं गया है, जिससे देश की आजादी भी उनके लिये निष्प्रयोजन बन गई है। उनके सम्पर्क में शासकीय एजेंसियों में केवल वन विभागीय कर्मचारी आते हैं। वह भी गूजरों के अनुसर ''हक–पानी'' की जोर–जबरदस्ती और बिना बात के जुल्म से उनके दुःख का ही कारण है। कदाचित यह भी सही है कि गूजरों का शोषण दूध के व्यापारी या वे दलाल भी करते हैं जिनके माध्यम से वे दूध का व्यापार करते हैं।

इसमें बदलाव जरूरी है। उनकी इस स्थिति का जारी रहना केवल उनके लिए ही नहीं, अपितु सारे देश के लिए दुखदायी बन सकता है। ऐसी स्थिति में यह न भूला जाये कि नक्सलवाद वन वासियों के असन्तोष पर ही पनपा है। तराई में

आतंकवाद के दौर में आतंकवादियों द्वारा गूजरों के डेरो का उपयोग अपनी शरण स्थली के तौर पर करने की खबरें थीं। हो सकता है कि आतंकवादियों को गूजरों का यह सहयोग बन्दूक की नाल के दम पर रहा हो; लेकिन भविष्य में सदा ऐसी ही स्थिति बने रहने की कोई गारंटी नहीं।

अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि इनके उन्नयन के लिए फौरन उपाय किये जायें। एतदर्थ सर्वप्रथम आवश्यकता सरकारी एजेंसियों द्वारा उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण रूख अपनाने की है। वन विभाग को उनकी जायज मांगों की पूर्ति में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। उनके साथ सहयोग से वे भी वनों का नुकसान करने के बजाय उनके रक्षक बन जायेंगे। उनके एवं उनके मवेशियों के लिए दोनों के मध्य परस्पर सौहार्द, स्नेह, सहयोग अत्यधिक आवश्यकीय है। दुग्ध व्यवसाय को बढ़ावा देने के लिए पशुपालन एवं सहकारी दोनों विभागों को सचेष्ट होना है। अशिक्षा की कालिख को हटाने के लिए विद्यालयों की आवश्यकता है। उनकी बस्तियों की विशेषता के आधार पर ये सारी सुविधायें सचल हो सकती हैं। गूजर पिछड़े ही नहीं, बल्कि जनजाति भी हैं। एतदर्थ उन्हें अविलम्ब अनुसूचित जनजाति करार दिया जाना चाहिए।

तराई के आदिवासी थारू

तराई जब तक सघन वनों से ढकी रही, उसमें खूंखार जंगली जानवरों की बहुतायत थी तो मच्छरों की भी भरमार थी। दोनों परिस्थितियां इस अंचल को मनुष्य के रहने के लिए दुरूह बनाये रहीं। फलतः यहां पर आबादी काफी कम थी। अल्मोड़ा जिले के दुर्गम पर्वतीय इलाकों से जाड़ों में यहां पर ''घमतप्पुओं'' के आकर बसने और इस प्रकार स्थापित ''गोठों'' और ''खत्तों'' का विवरण इसके पूर्व आ चुका है। खैर, वे केवल मौसमी वाशिन्दे ही हुआ करते थे। जाड़े आये तो अपने जानवरों सहित तराई में पहुंच गये और गर्मियों की शुरूआत पर फिर लौट चले अपने गांवों को।

लेकिन थारू और बुक्सा आदिवासियों जिन्हें 1967 में जनजाति घोषित किया गया है के लिए तराई की धरा स्थायी शरण थी, जहां उनके अनुसार वे राजस्थान से आये थे। वैसे उनका दावा है कि वे राजस्थान के राजपूतों के वंशज हैं। तराई अंचल में प्रचलित धारणा के अनुसार तेरहवीं–चौदहवीं सदी में राजस्थान पर आक्रमणकारियों ने धावे बोले। उनके सामने राजपूतों को हार खानी पड़ी। रानियों ने आतातायियों के चंगुल में फंस जाने के बजाय अपने विश्वस्त सेवकों के साथ वहां से भाग जाने में ही अपना भला देखा। तराई के सघन वनों में उन्हें शरण मिल गई। अपने अनुचरों से पैदा उनकी सन्तान ही ये आदिवसी हैं। इतिहासविद्

एच0आर0 नेविल का कथन है कि उनकी चमार सेवकों की सन्तान थारू हैं तो लुहारों की सन्तान बुक्सा।

थारूओं की मान्यता है कि वे राजस्थान के सिसौदिया राजपूतों के वंशज हैं तथा जयमल, फतेहसिंह और तारणसिंह उनके पूर्वज थे। विद्वान क्रूक ''थारू'' शब्द के विवेचन के आधार पर थारू कबीले के पूर्व इतिहास के बारे में अटकलें लगाते हैं। उनका यह कथन है कि ''थारू'' शब्द का अर्थ ''पियक्कड़'' होता है। उनकी जाति को यह नाम मैदानी इलाके के एक क्षत्रिय राजा ने दिया, जो थारूओं की शराब पीने की क्षमता से भौचक्का रह गया था। इसके विपरीत नेस्फील्ड का विचार है कि ''थार'' शब्द का अर्थ स्थानीय बोली में वन निवासी होता है। तराई के जंगलों के निवासी होने के कारण उनको ''थारू'' नाम दिया गया।

थारू कबीले के राजपूत वंशज होने की यह अवधारणा किसी ठोस आधार पर नहीं है नृशंसविद् उनके चेहरे–मोहरे को मंगोलों के समान ठहराते हैं तथा मानते हैं कि उनके पूर्वज मंगाल रहे होंगे। इस दिशा में सबसे पहला प्रयास लखनऊ विश्वविद्यालय के मानव–विज्ञानविद् डा0 डी0एन0 मजूमदार ने सन 1941 को संयुक्त प्रात (अब उत्तर प्रदेश) की जनगणना के दौरान किया था। थारूओं की शारीरिक बनावट तथा उनके रक्त समूह के अध्ययन के आधार पर उनका मत था कि थारू मंगोल जाति के वंशज हैं। इस लेखक ने डा0 बी0एस0 पांगती के साथ किये गये व्यापक सर्वेक्षण के बाद पाया कि थारूओं के शरीर की बनावट मंगोल जाति से मिलती–जुलती है। यह मत डा0 मजूमदार के मत से मेल खाता है। इससे लगता है कि थारू राजपूत होने के बजाय मंगोल वंशज ही हैं। वर्तमान में थारू तराई के खटीमा तथा सितारगंज खण्ड में निवास करते हैं।

बुक्सा जनजाति

कुमाऊँ की तराई में बुक्सा– बहुल इलाके को ''बुक्सार'' कहते हैं। बुक्सार में पश्चिमी तराई के गदरपुर, बाजपुर, काशीपुर और रामनगर ब्लाक आते हैं। लेकिन पहले का बुक्सा अब केवल बाजपुर और गदरपुर ब्लाकों तक सीमित होकर रह गया है। वैसे तराई के रूद्रपुर ब्लाक में भी कुछ बुक्सा बसते हैं, लेकिन उन्हें जनगणना में बुक्साओं में शामिल नहीं किया गया है।

थारू जनजाति की भांति बुक्साओं के प्राचीन इतिहास के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। बुक्साओं की आम धारणा है कि वे राजस्थान के किसी राजपूत राजा के वंशज हैं तथा राज–घराने की किसी रानी से उनकी उत्पत्ति हुई है। बुक्साओं के मध्य कल्याण कार्य करने वाले अमीर हसन का कथन है कि, ''बाजुपर के बुक्साओं की मान्यता है कि उनका पूर्वज राजस्थान का वीर राजा जगतदेव था। वह राजा

दुर्गा का इस कदर जबरदस्त भक्त था कि उसने देवी–पूजन में अपने सिर की बलि ही दे डाली।'' उनका कथन है कि वे ही राजस्थान से दुर्गादेवी को तराई में लाये जो अब काशीपुर में स्थापित है। वहां पर दुर्गापूजा मौके पर वे पूजा के लिए रस्मी तौर पर जिस नारियल के भेंट करते रहे हैं, वह प्रतीक रूप में राजा जगतदेव का सिर ही है।

कुछ बुक्साओं में प्रचलित धारणा के अनुसार जगतदेव के दो बेटे थे– चित्तौड़ तथा नन्दोड़ या अंधर। थारू चित्तौड़ के वंशज हैं तो बुक्सा अंधर के; कुछ का कहना है कि अंधर जगतदेव का बेटा न होकर भाई था। अंधर को अपना पूर्वज मानने वाले बुक्सा खेत में हल नहीं चलाते। वे केवल खेत में बीज छिटक देते हैं; वे निरामिषाहारी होते हैं। कुछ बुक्साओं का मत है कि वे पंवार राजपूत हैं। और उनका पूर्वज उदयजीत धारा नगरी का था। उनके अनुसार उदयजीत राजा जगतदेव का भाई था, जिससे मतभेद होने के कारण उसको घर से भगा दिया गया था। वह सुरक्षित स्थान की ढूंढ में अपने साथियों सहित नैनीताल जिला स्थित बनबसा पहुंचा। कुमाऊँ के राजा ने अपने दुश्मनों के खिलाफ उसकी मदद मांगी। इसके बदले में राजा ने उदयजीत को तराई का सामन्त बना दिया। ''दि ट्राइब्ज एंड कास्ट्स आफ नार्थ–वेस्टर्न प्राविन्सेज एंड अवध'' पुस्तक के लेखक डब्ल्यू, क्रूक का कहना है कि कई बुक्साओं का मानना है कि उनमें से कुछ दक्षिण से आये और दूसरे दिल्ली से। इन्हें दक्षिण से मराठों ने भगा दिया था।

इन विभिन्न धारणाओं के निराकरण के ध्येय से इस लेखक ने चिकित्साधिकारी डा0 बी0एस0 पांगती की मदद से थारू तथा बुक्साओं का मानव–वैज्ञानिक अध्ययन किया। इनके शरीर की बनावट से साफ जाहिर होता है कि बुक्सा राजस्थान के राजाओं के वंशज नहीं हैं; क्योंकि मानव–विज्ञान के आधार पर उनके चेहरे–मोहरे, रंग–रूप और शरीर की बनावट का राजस्थानियों से कोई साम्य नहीं है; जबकि इन्हीं बातों में वे मंगोल जाति से काफी हद तक मिलते–जुलते हैं। अतः इस अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि बुक्सा जाति के पूर्वज मंगोल रहे होंगे।

कृषि पूर्व से ही बुक्साओं की आजीविका का प्रमख साधन रहा है। इनमें से लगभग 90 प्रतिशत बुक्सा खेती करते हैं। पहले खेती की कोई कमी भी नहीं थी। जितनी भूमि वे जोत सकते थे, उनकी हो जाती थी। एक जगह भूमि की उपज कम पड़ गई तो वे दूसरी जगह गांव बसाकर रहने लगते थे। वहां भी जितनी जमीन की काश्त वे कर सकते थे, उसके मालिक बन जाते थे। लेकिन आज स्थिति एकदम विपरीत है। सन् 1951 के रिकार्ड के अनुसार थारू और बुक्साओं के स्वामित्व में कुल भूमि 250,000 हैक्टेयर थी, जो अब घट कर मात्रा 30,000 हैक्टेयर रह गई है। यह परिवर्तन आदिवासियों की भूमि उनके नये पड़ोसियों द्वारा अनुचित तरीकों से

हड़प लिये जाने के परिणामस्वरूप आया। आदिवासियों का भोलापन और शिक्षा की निहायत कमी के कारण ही आज वे अपनी अधिकांश भूमि से हाथ धो चुके हैं इसमें जहां शराब के प्रति उनकी कमजोरी का नाजायज फायदा उठाकर उनकी जमीन हड़प ली गई है, वहीं उनके भीरू स्वभाव के कारण भी आज वे अपनी अधिकांश भूमि से बेदखल हो गये हैं। शासन के निर्देश हैं कि आदिवासियों की जमीन की खरीद–फरोख्त को शासन की विशेष स्वीकृति के बिना सरकारी रिर्काड में न लाया जाये। इसके फलस्वरूप शासकीय रिकार्ड में वे अभी तक भूमि के मालिक तो बने हैं, लेकिन उनकी भूमि वास्तव में दूसरों के कब्जे में चली गई है। स्थिति यहां तक है कि जिस भूमि के कल तक स्वामी थे, उसी में वे आज खेतिहर मजदूर के तौर पर काम करते हुए मिलेंगे।

दया–दिल आदिवासियों ने देश के विभाजन के फलस्वरूप अपने घरों से बेदखल हुए तराई में प्रवेश करने वालों की व्यथा को समझते हुए उन्हें शरण दी और यही दयाद्रता उनके अनुसार अपनी जमीन से उनकी बेदखली का मूल कारण बनी है। शासन द्वारा भूमि का यह हस्तांतरण मान्य न होने से इसको शपथ–पत्रों के जरिये किया गया है। इन हलफनामों में आदिवासियों द्वारा भूमि को उनके जबरदस्ती बने मालिकों को दान, बन्धक या पट्टे पर भूमि देना स्वीकार किया गया है। आदिवासियें को इस तरह कागजी तौर पर भी अपनी जमीन का स्वामित्व छोड़ने के कारण जिन तौर–तरीको का इस्तेमाल किया गया है, उनमें से कुछ उनके अनुसार निम्नांकित हैं–

1. बहुधा रात में और कभी–कभार दिन–दहाड़े आदिवासियों के पशुओं को भगाकर ले जाया गया, जिससे वे आतंकित और परेशान हो जायें।

2. उनके जानवरों को जंगलात की भूमि पर चरने नहीं दिया गया, जबकि वे पूर्व से ऐसा करते आ रहे थे। इसमें कभी–कभार वन विभागीय कर्मचारियों की मिलीभगत भी रही है।

3. उनके खेतों पर कब्जा कर लिया गया और उल्टे उनके विरूद्ध झूठे मुकदमे दायर कर दिये गये।

4. कुछ धौंस–पट्टी दिखलाने वाले लोगों ने तो बिना किसी कारण सीधे आदिवासियों की परती भूमि पर ट्रैक्टर चला कर उसको हथिया लिया और डरा–धमका कर आदिवासियों का मुंह बन्द कर दिया।

इस तरह डरा–धमका कर आदिवासियों की भूमि हडप ली गई। लेकिन कुछ ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने शारीरिक बल के बजाय धन बल पर उनकी भूमि पर कब्जा कर लिया। ऐसे लोगों में बनिये और बंजारे अधिक थे। वे थारूओं व

बुक्साओं को अपना माल उधार पर बेचकर उनको अपने कर्ज के भंवर में फंसाते गये। आदिवासी के शिक्षित न होने का पूरा फायदा भी उन्होंने खूब उठाया। बहुधा उधार में आने वाला धन वास्तविक से कई गुना अधिक दर्ज होता। उसके ऊपर ब्याज की दरें इतनी ऊँची थी कि आदिवासी चाहने पर भी ऋण से उऋण न हो सके। फलतः शपथ–पत्र के जरिये बन्धक के तौर पर उनकी जमीन को हथिया लिया गया। उत्तर प्रदेश सरकार के जमींदारी उन्मूलन एवं भूमि–सुधार अधिनियम, 1961 के अन्तर्गत भूमि के इस हस्तांतरण को जिलाधीश की विशेष अनुमति के बिना शासकीय अभिलेखों मे दर्ज तो नहीं किया जा सकता है, लेकिन वास्तव में आदिवासी अपनी भूमि से कुछ दशकों से बेदखल है।

थारूओं और बुक्साओं की खर्चीली आदत रही है। ब्याह–शादी, तीज–त्यौहार, आदि मौकों पर दिल खोलकर खर्च करना उनका तरीका रहा है। अपनी आय से अधिक खर्च करेंगे तो कर्ज के भंवर में फंसेंगे ही। उनकी इस आदत के कारण उनसे महाजनी करने वाले लोग पहले से रहे हैं, जिनका तरीका कर्ज को कई गुना दर्शाना और अत्यधिक ऊँची ब्याज की दरें उनसे ऐंठना रहा है। यहां पर सन् 1950 तक खाम सुपरिण्टेंडेंट के अन्तर्गत प्रबंध की व्यवस्था थी। खाम प्रशासन को आदिवासी की इस आदत तथा कुछ लोगों द्वारा उनसे अनाप–शनाप पैसा ऐंठने का ज्ञान था। इसीलिए यदा–कदा खाम प्रशासन ऐसे मामलों की जांच कर कर्ज पर ब्याज की दरें कम करके उसकी अदायगी के लिए किश्त निर्धारित कर लिया करता था। इससे आदिवासियों को कर्ज की मार से तनिक राहत मिल जाती थी।

तराई में जंगलों में कटान और नई बस्तियों के उभर आने के कारण, स्थिति और भी विकट हो गई है। यह इलाका अन्न की खान के तौर पर विख्यात हो चला है। हाल के दशकों में यहां पर उद्योगों के भी उभर आने के फलस्वरूप यहां की वैभव–सम्पन्नता को चार चांद लग गये हैं। लेकिन यह सुखद परिवर्तन इन कबीले के लोगों के लिए और अधिक दुखदायी बन गया है। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप यहां पर भूमि जो पहले कौड़ी के दाम भी नहीं बिकती थी, अब अत्यन्त महंगी हो गई है। शासकीय अभिलेखों के अनुसार थारू और बुक्सा यहां की काफी अधिक भूमि के स्वामी हैं उनका यह स्वामित्व ही उनके पशुबल और धन बल के धनियों की चपेट में आने का कारण बना। कई लोगों ने कर्जा देने का धंधा ही इस उद्देश्य से किया है कि कर्ज के बदले बन्धक के रूप में आदिवासी भूमि हड़प ली जाये। शुरू में आदिवासियों के पास इतनी अधिक भूमि थी कि उन्हें जरा–जरा सी बात पर भूमि को बन्धक रखाने में कोई तकलीफ नहीं होती थी। कहा तो यहां तक जाता है कि इन आदिवासियों ने शराब की एक बोतल पर भी अपनी भूमि का टुकड़ा गिरवी रख दिया।

इस प्रवृत्ति के चलते आदिवासी जब अत्यधिक ऋण–भार से दब गये तो उत्तर प्रदेश शासन ने भूमिहीन खेतिहर मजदूर ऋण मुक्ति अधिनियम, 1975 लागू किया, जिसके अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और अनुसूचित जनजातियों को इस किस्म के गैर कानूनी ऋणों से मुक्त कर दिया गया। इसके साथ ही इन ऋणों को प्राप्त करने के लिए गिरवी रखी गई सम्पदा को भी मुक्त करार दे दिया गया। लेकिन थारूओं और बुक्साओं को इस अधिनियम से भी कोई लाभ नहीं पहुंचा। शासकीय अभिलेख के अनुसार वे अभी तक लम्बी–चौड़ी भू–सम्पदा के स्वामी बने हैं। यह अधिनियम तो भूमिहीनों के लिए है। फिर उनको इससे कैसे लाभान्वित किया जाता? इस हालत में शासन ने उनके लाभ के लिए ऋण सहकारी समितियों की स्थापना करने की कोशिश की। लेकिन अशिक्षा और अज्ञान के कारण वे इन कल्याणकारी कार्यक्रमों का लाभ भी नहीं उठा सके।

फलतः आदिवासियों की स्थिति बद से बदतर होती चली गई है। यदाकदा आदिवासियों की इस दयनीय दशा के बारे में आवाज उठाई जाती रही। उससे प्रभावित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने समाज–कल्याण विभाग के अन्तर्गत इस स्थिति का जायजा लेने के लिए एक अध्ययन दल गठित करने का निर्णय लिया। दल ने सन् 1978 में राज्य सरकार को अपनी रिपोर्ट सौंप दी। उसमें उल्लेख है कि तराई में नये बसने वाले 1300 परिवारों ने अदिवासियों की भूमि पर नियम विरूद्ध कब्जा कर रखा है। इस तथ्य के उजागर होने पर शासन को चाहिए था कि इस गैर–कानूनी कार्यवाही को समाप्त कर आदिवासियों को उनकी भूमि का अधिकार सौंप देता। लेकिन शासन इस अवैज्ञानिक कार्यवाही करने वालों का बाल भी बांका नहीं कर पाया है।

इन तत्वों ने राजनीति की इस कमजोरी का खूब फायदा उठाया है। फलतः आज घोर समाजवादी एवं गरीब व पिछड़ों का हिमायती होने का दावा करने वाले राजनीतिज्ञ भी तराई के आदिवासियों पर होने वाले इस घोर जुल्म के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठाते हैं। आदिवासियों में चेतना की कमी भी इस कुचक्र को यथावत् रखे है। उनके पारस्परिक सामाजिक संगठन नये परिवेश में निष्प्रभावी बनकर रह गये हैं। उनकी जगह कोई नया राजनैतिक संगठन वे खड़ा नहीं कर पाये हैं। नतीजा यही है कि अपने मतदाताओं की काफी बड़ी संख्या होने पर भी चुनाव के मौके पर वे अपनी शक्ति का सार्थक तौर से उपयोग नहीं कर सकते। उल्टे वे मतदान में भी अपने आक्रान्ताओं के इशारे पर ही काम करते हैं। परिणामतः वे जाने–अनजाने ही अपने ऊपर जुल्म ढहाने वालों को और भी अधिक सशक्त बनाये हुए हैं।

तराई भाभर का कुछ क्षेत्र अब नैनीताल जिले के विभाजन द्वारा नवनिर्मित जिला उधम सिंह नगर में आ गया हैं।

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

अध्याय– नौ

स्वतंत्रता संग्राम में उत्तराखण्ड की भूमिका

–डा0 अजय सिंह रावत
(फोटो संकलन – डा0 अजय सिंह रावत)

प्रत्येक जाति या देश के स्वतंत्रता–संग्राम का इतिहास उसकी सर्वोच्च निधि होती है। उसमें संचित देशभक्तों की सेवा, त्याग और बलिदान की रोमांचकारी कहानियां उस जाति या देश के बुरे या भले दिनों में उसके उद्धार और उत्थान के लिये प्रेरणा का उत्कृष्ट स्रोत बनी रहती है।

भारतवर्ष में स्वतंत्रता के लिये सन् 1857 में प्रथम संग्राम हुआ। इसका प्रभाव उत्तराखण्ड पर भी पड़ा। खान बहादुर खां (बरेली के नवाब) की सेना ने नैनीताल पर अधिकार करने के लिए कई बार हल्द्वानी पर आक्रमण किया, लेकिन अंग्रेजों की शक्तिशाली सेना ने उन्हें हरा दिया। उत्तराखण्ड में गोरखों के अत्याचारों की स्मृति, रामजे के महान् व्यक्तित्व, अंग्रेजों की सुधार नीति, तत्कालीन उत्तराखण्ड के राजनीतिक तथा सामाजिक पिछड़ेपन एवं टिहरी के राजा की ब्रिटिश सरकार समर्थित नीति के कारण यहां प्रथम स्वतंत्रता संग्राम असफल ही रहा। केवल काली कुमाऊँ के वीर नेता कालू महरा ने वहां अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष हेतु एक गुप्त सैनिक संगठन की स्थापना की, लेकिन राजभक्तों द्वारा इसकी सूचना अंग्रेजों को दिये जाने के कारण उन्होंने वहां छापा मारकर कालू महरा के गुप्त सैनिक संगठन को समाप्त कर दिया। कालू मेहरा के अतिरिक्त, आनन्द सिंह फर्त्याल, बिशना सिंह करायत, माधो सिंह, नूर सिंह तथा खुशा सिंह आदि ने भी सेनानियों का साथ दिया। कालू मेहरा काफी सम्पन्न घर से थे और राजसी ठाट–बाट से रहते थे। (स्थानीय निवासियों के अनुसार) उनके रूहेला नवाब खान बहादुर खां व टिहरी नरेश से अच्छे सम्बन्ध थे। उन्हें घुड़सवारी का अत्यधिक शौक था। कालू महरा तथा उनके साथियों ने लोहाघाट स्थित अंग्रेजों की बैरकों में 1857 में धावा बोलकर उन्हें भगा दिया और उनकी बैरकों में आग लगा दी। उस समय आन्दोलनकारियों ने बरमदेव थाने पर भी हमला किया था। कालू महरा के बारे में कहा जाता है कि वह आन्दोलनकारियों के पास रहा तथा इसी दौरान आनन्द सिंह फर्त्याल एवं बिशना सिंह को गिरफ्तार कर फांसी दे दी गई। कालू महरा के बारे में भी प्रचलित है कि उसे भी बाद में फांसी दे दी गई।

1857 के संदर्भ में यह तथ्य भी उजागर हुआ है कि अल्मोड़ा में स्थित सेना की आर्टीलरी यूनिट में भी बगावत की तैयारियां प्रारम्भ हो गई थी और उसी दौरान नाना साहब की उत्तराखण्ड आने की सम्भावनाओं से अनेक व्यक्तियों को नैनीताल,

अल्मोड़ा तथा श्रीनगर में फांसी दी गई। नाना साहब के जोगी वेश में उत्तरकाशी आवास की चर्चा आज तक उत्तराखण्ड में की जाती है।

1857 के स्वतंत्रता संग्राम का उत्तराखण्ड पर एक प्रभाव यह हुआ कि जो अंग्रेज स्विट्जरलैण्ड की भांति स्वतंत्र व्यवसाय के आधार पर यहां बस गये थे, उन्हें अपनी सुरक्षा का भय उत्पन्न होने लगा।

सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् काफी लम्बी अवधि तक उत्तराखण्ड में कोई राजनीतिक घटना नहीं घटी। इस अवधि में अल्मोड़ा, नैनीताल और रानीखेत अंग्रेजों के ग्रीष्मकालीन निवास के रूप में विकसित होने लगे। सन् 1870 में अल्मोड़ा में 'डिबेटिंग क्लब' की स्थापना की गई। प्रान्त के लाट साहब ने क्लब के उद्देश्यों से प्रसन्न होकर उसके कार्यकर्त्ताओं को क्लब के कार्यों का विवरण प्रकाशित करवाने के लिए एक प्रेस खेलने की सलाह दी। अतः सन् 1871 में प्रेस की स्थापना कर 'अल्मोड़ा अखबार' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह संयुक्त प्रान्त का प्रथम हिन्दी अखबार माना जाता है। प्रारम्भ में यह बुद्धिबल्लभ पंत के संपादकत्व में निकला, फिर मुंशी सदानन्द सनवाल सन् 1913 तक इसके सम्पादक रहे। अल्मोड़ा अखबार सन् 1913 तक स्थानीय सामाजिक समाचारों का पत्र रहा। सर्वप्रथम सन् 1883 में अल्मोड़ा में बुद्धिबल्लभ पंत की अध्यक्षता में इलबर्ट बिल के समर्थन में एक सभा हुई।

देहरादून में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने का प्रमुख श्रेय आर्य समाज को हैं। सन् 1897 में स्वामी दयानन्द हरिद्वार के कुम्भ के मेले के अवसर पर पाखण्ड खन्डनी पताका फहराई। देहरादून के तत्कालीन प्रमुख व्यक्ति महन्त नारायणदास, दरोगालाल सिंह आदि हरिद्वार गये और वहां स्वामी जी के सारगर्भित भाषणों को सुनकर प्रभावित हुए। उस समय देहरादून में ईसाई व मुस्लिम धर्म का व्यापक प्रभाव था। देहरादून के कुछ भद्र हिन्दू पुरूष अपना धर्म परिवर्तित कर रहे थे। उन्हें धर्म परिवर्तन से रोकने के लिए स्वामी दयानन्द को बैलगाड़ी में बिठाकर देहरादून लाया गया। स्वामी जी के प्रभाव से लोग धर्म परिवर्तन से बच गये। प्रसिद्ध क्रांतिकारी रास बिहारी बोस ने फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट, देहरादून में एक कर्मचारी के रूप में नौकरी कर वहां गुप्त रूप से क्रांतिकारी संगठनों की स्थापना की। यहां टैगोर विला में क्रांतिकारियों की सभा होती थी। यहीं लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंकने की योजना बनी और निश्चित तिथि पर रास बिहारी बोस व बसन्त कुमार देहरादून से दिल्ली पहुंचे। उन्होंने चांदनी चौक में स्थित एक मकान की छत से लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंका, किन्तु हार्डिंग बच निकले। बम फेंकने के पश्चात् रास बिहारी बोस अपने क्रांतिकारी साथियों सहित पुनः देहरादून आये और गुप्त रूप से एक सभा आयोजित की गई जिसमें लॉर्ड हार्डिंग के बच निकलने पर शोक प्रकट किया गया।

http://uou.ac.in

इसके बाद जब रास बिहारी बोस को प्रतीत हुआ कि उनको संदेह की नजरों से देखा जा रहा है, तो वे वहां से फरार हो गये।

सन् 1903 में अल्मोड़ा में गोविन्दबल्लभ पंत तथा हरगोविन्द पंत के प्रयत्नों से 'हैप्पी क्लब' की स्थापना हुई। इसका प्रमुख उद्देश्य नवयुवकों में राजनीतिक चेतना का संचार करना था। इसकी सदस्य संख्या सीमित रखी गई तथा इसकी अधिकांश बैठकें शहर से बाहर किसी एकांत स्थान पर होती थी।

सन् 1905 में बंगाल विभाजन के विरोध में अल्मोड़ा के नवयुवकों ने जनता को संगठित कर सभायें आयोजित की तथा जनता को ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों से अवगत कराया। धीरे–धीरे उत्तराखड का राजनीतिक वातावरण गर्म होने लगा।

'गढ़वाल यूनियन' की ओर से सनृ 1905 में देहरादून से 'गढ़वाली' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्र प्रारम्भ में पाक्षिक था और 1913 से साप्ताहिक बना दिया गया। इस पत्र के माध्यम से गढ़वाल में सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ।

सन् 1905 से 1911 तक उत्तराखण्ड में कोई विशेष राजनीतिक घटना नहीं घटी। सन् 1913 में 'अल्मोड़ा' अखबार' बद्रीदत्त पाण्डे के सम्पादकत्व में आ जाने के कारण वह एक विशुद्ध राष्ट्रीय पत्रिका के रूप में परिवर्तित हो गया। उसकी मांग अब तीस गुना बढ़ गई। सन् 1913 में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अमेरिका भ्रमण के पश्चात् अल्मोड़ा पहुंचे। वहां उन्होंने शुद्ध साहित्य समिति की स्थापना कर जनसाधारण में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की। सन् 1914 में मोहन जोशी, चिरंजीलाल, हेमचन्द्र व बद्रीदत्त पाण्डे आदि नेताओं ने अल्मोड़ा में होमरूल लीग की एक शाखा स्थापित की। इसी समय स्वामी विचारानन्द सरस्वती ने इलाहाबाद से आकर देहरादून को अपना क्षेत्र निर्धारित किया। 1918 में उन्होंने देहरादून में 'होम रूल लीग' की एक शाखा स्थापित की। सन् 1916 में कुमाऊँ कमिश्नरी की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार–विमर्श हेतु नैनीताल में कुमाऊँ परिषद की स्थापना की गई थी।

सन् 1917 में अल्मोड़ा व नैनीताल में स्वराज्य सभायें आयोजित की गईं, जिसमें जनसाधारण को स्वतंत्रता के महत्व से अवगत कराया गया, नैनीतालवासियों ने नन्दादेवी के मन्दिर में तिरंगा झण्डा फहराया और तत्पश्चात् इलाहाबाद बैंक के समीप गोविन्दबल्लभ पंत की अध्यक्षता में एक सभा हुई।

कुमाऊँ परिषद तथा स्वतंत्रता संग्राम

डा0 शेखर पाठक के अनुसार सन् 1916 से 1926 तक कुमाऊँ परिषद् का इतिहास ही बड़ी सीमा तक उत्तराखण्ड में स्थानीय आन्दोलनों तथा राष्ट्रीय संग्राम का इतिहास भी है। कुमाऊँ परिषद् की प्रथम कल्पना 'अल्मोड़ा अखबार' ने 31 मार्च 1908 के अंक में की थी, तब पत्र द्वारा यह स्पष्ट किया गया था कि पर्वतीय क्षेत्रों के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक हालत सुधारने के लिए एक संगठन का होना आवश्यक है। इसी प्रकार 1911 में इलाहाबाद के समाचार पत्र लीडर के 28 मई के अंक में बद्री दत्त पाण्डे ने उत्तराखण्ड में किसी महत्वपूर्ण राजनीतिक संगठन के अभाव के बारे में लिखते हुए यहां की जनता को उसकी उदासीनता और रूढ़िवादिता के लिए फटकारा था। वे सन् 1908 में इस समाचारपत्र के सह सम्पादक के रूप में कार्य कर चुके थे।

डा0 हीरा सिंह भाकुनी का मानना है कि स्थानीय स्तर पर जिस संगठन के गठन की बात सन् 1908 में उठ रही थी, उसकी स्थापना कुमाऊँ की प्रारम्भिक जागृति का प्रतिफल था। कुमाऊँ परिषद् की स्थापना सितम्बर 1916 में हरगोविन्द पंत, गांविन्द बल्लभ पंत, बद्री दत्त पाण्डे, इन्द्रलाल साह, मोहन सिंह दरमवाल, चन्द्रलाल साह, प्रेम बल्लभ पाण्डे, मोहन जोशी, लक्ष्मी दत्त शास्त्री आदि के प्रयासों के फलस्वरूप हुई। इस परिषद का मुख्य उद्देश्य उत्तराखण्ड के तत्काल राजनैतिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों का हल ढूंढ़ना था। प्रारम्भ में इसमें प्रत्येक विचारधारा के लोग सम्मिलित थे, जिसमें सरकार परस्त भी थे। सन् 1919 के पश्चात् कुमाऊँ परिषद् का नेतृत्व गरम दलीय विचारधारा के हाथों में चला गया।

कुमाऊँ परिषद का पहला अधिवेशन अल्मोड़ा में सितम्बर 1917 में हुआ। इसकी अध्यक्षता अवकाश प्राप्त डिप्टी कलैक्टर जयदत्त जोशी ने की। पहले अधिवेशन से ही परिषद में दो स्पष्ट विचारधाराएं अभिव्यक्त होने लगी। एक ओर सरकार परस्त अनुनय विनय से सुधारों को लाना चाहते थे और दूसरी ओर थे तिलक प्रभावित राष्ट्रवादी युवक जिन पर होम रूल लीग का गहरा असर हुआ था।

प्रथम युद्ध के प्रारम्भिक वर्ष सन् 1914 में जब तिलक 6 साल की सजा काटने के बाद रिहा हुए तो उन्होंने अपने साथियों के सहयोग से होम रूल लीग की स्थापना 28 अप्रैल 1916 में की। तत्पश्चात् सितम्बर 1916 में ऐनी बेसेन्ट ने भी होम रूल लीग की स्थापना कर डाली। फलस्वरूप होम रूल लीग की लोकप्रियता के कारण ब्रिटिश शासक चिन्तित होने लगे। उत्तराखण्ड भी इस देशव्यापी लहर से अछूता न रहा। एक दिन बद्री दत्त पाण्डे 'डिबेटिंग क्लब' प्रेस में कुछ लिखने में व्यस्त थे कि उनके पास मोहन जोशी तथा चिरंजीलाल ने आकर अनुरोध किया कि

http://uou.ac.in

अल्मोड़ा में भी होमरूल लीग की स्थापना होनी चाहिए। बद्री दत्त पाण्डे जैसे तैयार बैठे थे और उन्होंने तुरन्त अपने साथियों के साथ होम रूल लीग की स्थापना कर डाली। होमरूल लीग के अन्य संस्थापकों में मोहन जोशी, चिरंजीलाल, हेम चन्द्र जोशी, मोहन सिंह मेहता, गुरूदास साह आदि थे।

डा0 भाकुनी का मानना है कि बदरी दत्त पाण्डे तिलक से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने एनीबेसेन्ट पर व्यंग्य करते हुए लिखा कि ''हमने छली बुढ़िया बसन्ती की होमरूल लीग नहीं खोली है वरन लोकमान्य तिलक वाली लीग की स्थापना की है।'' बद्रीदत्त, तिलक से प्रथम बार सन् 1905 में बनारस कांग्रेस में मिले थे। सन् 1916 में उन्हें पुनः लखनऊ कांग्रेस में मिलने का अवसर मिला। सन् 1917 में जब वे कलकत्ता कांग्रेस में गये तो उन्होंने तिलक से कहा, ''महाराज मैं कुमाऊँ पर्वत से आया हूं। एक बार अल्मोड़ा आकर हम लोगों को उत्साहित कीजिए।'' जब बद्रीदत्त ने उनके चरण छुए और चरण रज माथे पर लगाई तो उन्हीं के शब्दों में, ''बदन मे बिजली सी कौंध गई।'' चौथी बार उन्होंने तिलक को अमृतसर कांग्रेस में देखा तथा घोषणा की कि तिलक के चार दर्शनों के उपरान्त मानो उनकी चार धाम की यात्रा पूर्ण हो गई है।

कुमाऊँ परिषद् का द्वितीय अधिवेशन 24–25 दिसम्बर 1918 को हल्द्वानी में हुआ। अधिवेशन के सभापति तारा दत्त गैरोला थे। उन्होंने बेगार से मुक्ति और जंगलात के अधिकार (परिशिष्ट 1 में विस्तारित वर्णन किया गया है) जनता को लौटाने सम्बन्धी प्रस्ताव रखे। इससे पूर्व नवम्बर 1917 को बीरोंखाल, 28 अप्रैल 1918 को बेरीनाग, मई तथा अक्टूबर 1918 में चमोली तथा गंगोली में बेगार प्रथा का प्रत्यक्ष रूप से विरोध किया गया। कुली उतार, कुली बेगार तथा कुली बर्दायश को कम्पनी सरकार ने 'द रेग्यूलेशन ऑफ द गवर्नमेंट आफ फोर्ट विलियम, खण्ड–II, में इस प्रकार परिभाषित किया हैः

जब ब्रिटिश अधिकारी पर्वतीय क्षेत्र में दौरे पर आते थे तो स्थानीय जनता के लिए अनिवार्य था कि वे उनके लिए निःशुल्क कुलियों की व्यवस्था करें। इस प्रथा को कुली उतार कहा जाता था। यह व्यवस्था न केवल अधिकारियों के लिए होती वरन् उनके साथियों और कर्मचारियों के लिए भी की जाती थी। इस सुविधा का लाभ ब्रिटिश पर्यटक भी लेते थे।

इसी प्रकार दौरे में आये हुए अंग्रेज अधिकारियों के लिए भी स्थानीय जनता को निःशुल्क कार्य करना आदेशात्मक था अथवा बेगार देनी पड़ती थी जिसे कुली बेगार की संज्ञा दी गई थी। सार्वजनिक कार्यों के लिए भी पर्वतीय जनता को बेगार देनी पड़ती थी। कुली बर्दायश के अन्तर्गत जब अंग्रेज अधिकारी पर्वतीय क्षेत्र में दौरे में आते थे तो ग्रामीणों द्वारा उन्हें निःशुल्क राशन देना पड़ता था। एक बार जब

सोमेश्वर पट्टी के लोगों ने मुफ्त राशन देने में अपनी असमर्थता जाहिर की तो सर हैनरी रामजे जैसे लोकप्रिय अधिकारी ने भी उन्हें 500 रूपये का अर्थ दण्ड लगाया था।

दिल्ली में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन में उत्तराखण्ड का प्रतिनिधित्व 60 से अधिक लोगों ने किया, जिनमें अधिकतर कुमाऊँ परिषद् के सदस्य थे। इसी वर्ष बद्री दत्त पाण्डे कलकत्ता गये और उन्होंने गांधी जी को बेगार के बारे में अवगत कराया। गांधी जी के पास समय का अभाव था किन्तु उन्होंने आश्वासन दिया कि ''जब मौका लगेगा, कुमाऊँ अवश्य आऊंगा।''

सन् 1918 में 48 वर्षों के प्रकाशन के पश्चात् अल्मोड़ा अखबार के प्रकाशन को शासन विरोधी रूख अपनाने के कारण बन्द कर दिया गया, वैसे भी बद्री दत्त पाण्डे के आने के पश्चात् सन् 1913 से ही अल्मोड़ा अखबार शासन की नजरों को खटकने लगा था। अल्मोड़ा अखबार के होली अंक सन् 1918 में बद्रीदत्त पाण्डे ने एक गजल लिखकर तत्कालीन अल्मोड़ा जिले के डिप्टी कमिश्नर लोमस के काले कारनामों पर कुठाराघात किया। फलतः अल्मोड़ा अखबार पर 1000 रूपये का जुर्माना कर दिया गया। जमानत न देने पर अल्मोड़ा अखबार का प्रकाशन बन्द हो गया और 1918 में 'शाक्ति–साप्ताहिक' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। यह भी एक पूर्णतया राष्ट्रीय पत्रिका थी। 15 अक्टूबर 1918 को बद्री दत्त पाण्डे ने गुरूदास साह, मोहन सिंह मेहता, हरिकृष्ण पंत तथा हरगोविन्द पंत आदि की सहायता से देशभक्त प्रेस की स्थापना कर 'शक्ति' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यह विशुद्ध राष्ट्रवादी पत्रकारिता की शुरूआत थी, जिसमें कुली बेगार प्रथा के उन्मूलन के प्रस्ताव को पारित किया गया। (परिशिष्ट– 2 में विस्तृत वर्णन)

सन 1919 में रौलट एक्ट के पास हो जाने पर कुमाऊँ परिषद के नेतृत्व में रौलेट एक्ट का विरोध किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान कांग्रेस अंग्रेजी सरकार को सहयोग दे रही थी किन्तु सन् 1919 में परिस्थितियों में परिवर्तन आने लगा। भारतीयों के विरोध के बावजूद भी सन् 1919 में रौलेट एक्ट पारित किया गया। इस एक्ट के अनुसार अंग्रेजी सरकार को राजनैतिक आन्दोलनों तथा राजद्रोहात्मक कार्यों के सन्देह पर बिना मुकदमा चलाये किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करने का अधिकार था। इसके द्वारा सरकार को दमन तथा नियंत्रण के विशेष अधिकार प्राप्त हो गये थे जो भारतीयों के लिए खुली चुनौती थी। सभी भारतीय नेताओं ने इसका विरोध किया तथा गांधी जी ने इसके विरूद्ध आन्दोलन चलाने के लिए 1919 में सत्याग्रह लीग की स्थापना की।

31 अगस्त 1919 कुमाऊँ परिषद् की रामगढ़ जिला नैनीताल शाखा की बैठक आहूत की गई। इसमें गोविन्द बल्लभ पंत व अन्य नेताओं के व्याख्यान हुए।

तत्पश्चात् 7 अक्टूबर 1919 को मझेड़ा नैनीताल शाखा की बैठक आयोजित हुई। चोरगलिया हल्द्वानी में इस एक्ट के विरोध में उत्तेजक तथा सारगर्भित भाषण दिये गये। 6 अप्रैल 1919 को काशीपुर में रौलेट एक्ट के विरोध में हड़ताल हुई और श्री गोविन्द बल्लभ पंत ने रौलेट एक्ट के दोषों पर प्रकाश डालते हुए उसे रद्द करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास करवाया। अल्मोड़ा नगर में इस एक्ट के विरोध में 7 अप्रैल 1919 को हड़ताल हुई और जुलूस निकाला गया तथ 14 अप्रैल को गांधी जी की गिरफ्तारी के विरोध में भी जुलूस निकाला गया। देहरादून में ज्योतिस्वरूप के मकान 'ज्योतिसदन' में इस एक्ट के विरोध में सभा आयोजित कर उत्तेजित तथा विश्लेषक व्याख्यान दिये गये।

कुमाऊँ परिषद् का तीसरा अधिवेशन 22 से 24 अक्टूबर 1919 को कोटद्वार में सम्पन्न हुआ। इसके अध्यक्ष रायबहादुर बद्री दत्त जोशी और स्वागताध्यक्ष तारा दत्त गैरोला थे। अधिवेशन में कई लोगों ने भाग लिया, जिनमें प्रमुख थे बद्री दत्त पाण्डे, गोविन्द बल्लभ पंत, मोहन सिंह मेहता, इन्द्र लाल साह, जय लाल साह, राम दत्त ज्योतिर्विद, दुर्गा दत्त पंत, प्रताप सिंह, बद्री दत्त जोशी, प्रेम बल्लभ पांडे, भोला दत्त पाण्डे, मोहन जोशी, मुकुंदी लाल, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, गिरिजा प्रसाद नैथानी, धनी राम मिश्र, विश्वम्भर दत्त चदोला, मथुरा दत्त नैथाणी आदि। गढ़वाल जिले के प्रतिनिधियों की इतनी अधिक भागीदारी किसी और अधिवेशन में नहीं हुई। अधिकांश समय बेगार तथा वनों के विषयों पर केद्रित रहा। कुल प्रतिनिधि संख्या 500 से अधिक थी।

अध्यक्ष बद्री दत्त जोशी ने घोषणा की कि कुली उतार और जंगलात के प्रश्न सबसे ज्वलन्त हैं। इससे हमारे प्रान्त के सम्मान को ठेस पहुंचती है और गरीब किसानों को कष्ट सहने पड़ते हैं। जंगलात सम्बन्धी पहला प्रस्ताव प्रेम बल्लभ पाण्डे ने रखा और कुली उतार सम्बन्धित प्रस्ताव मथुरा दत्त नैथाणी ने प्रस्तुत किया।

इस अधिवेशन में बद्री दत्त पाण्डे के पहुंचने से पूर्व अल्मोड़ा जिला प्रशासन की ओर से कोटद्वार के दारोगा बालादत्त के पास तार द्वारा सूचना भेजी जा चुकी थी कि तीन राजनैतिक कार्यकर्त्ता, बद्री दत्त पाण्डे, चिरंजी लाल और निरंजन प्रसाद कोटद्वार पहुंच रहे हैं। इन पर कड़ी निगरानी रखना। दरोगा तार लेकर जब बद्री दत्त पाण्डे के पास गया तो वह असमंजस में पड़ गया क्योंकि वह उनका गुरू भाई निकला, जिसने कनखल में उनके पिता से दीक्षा ली थी। उसने बद्री दत्त पर कोई कार्यवाही नहीं की वरन् उन्हें दस रूपये गुरू दक्षिणा के रूप में भेंट किये।

कोटद्वार अधिवेशन गुरू परम्परा के साथ–साथ हिन्दू–मुस्लिम एकता के लिए भी याद किया जाता है। बद्री दत्त पाण्डे हिन्दू–मुस्लिम एकता के कुमाऊँ में प्रणेता के रूप में जाने जाते थे। दिनांक 23 को तारा दत्त गैरोला जब कुली उतार समस्या

पर प्रकाश डाल रहे थे तभी कोटद्वार के मुसलमान भाईयों ने पंडाल में आकर सभी नेताओं को माल्यार्पण कर, सुपारी व इलाइचियां बांटकर उनका स्वागत किया। इस सम्मान से बद्री दत्त भावुक हो गा उठे, ''मिल गये गये हैं हम तुम तो मन्दिर और मस्जिद एक हैं।''

24 तारीख को भी अधिवेशन की कार्यवाही हुई, किन्तु राष्ट्रीय कांग्रेस में जाने वाले कार्यकर्त्ता 23 की शाम को ही अमृतसर कांग्रेस के लिए रवाना हो गये। कुमाऊँ से लगभग 100 कार्यकर्त्ता अमृतसर कांग्रेस में सम्मिलित हुए। अमृतसर कांग्रेस में भाग लेने वाले उत्तराखण्ड के सदस्य थे मुकुन्दी लाल, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, बद्री दत्त पाण्डे, हरगोविन्द पंत, मोहन सिंह मेहता आदि। जलियावाला बाग में आयोजित सभा में 26 दिसम्बर 1919 को भाषण देने वालों में बद्री दत्त पाण्डे भी एक थे।

अमृतसर कांग्रेस के बाद के महीने सक्रियता पूर्ण थे और कुमाऊँ परिषद् ने इस बीच ग्रामीण क्षेत्रों में संगठन का अद्भुत कार्य किया। कई स्थानों पर परिषद् की शाखाएं खुली और कुमाऊँ गढ़वाल के उन इलाकों में भी जो इसके स्पर्श से वंचित थे, वहां भी परिषद् पहुंच गई। इसी बीच सन् 1920 में मोती लाल नेहरू अल्मोड़ा आये। उनके सभापतित्व में बृहद् सभा हुई और विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई।

इसी दौरान कुमाऊँ परिषद ने सुधार आन्दोलनों, विशेष रूप से नायक सुधार आन्दोलन की ओर ध्यान केन्द्रित किया। परिषद् के प्रयासों से 'नायक सुधार समिति' की स्थापना की गई। इस समिति की पहली बैठक नवम्बर 1919 में नैनीताल में सम्पन्न हुई। बैठक में निर्णय लिया गया कि नायक कन्याओं के शिक्षण हेतु एक पृथक विद्यालय खोला जाए तथा उनकी आर्थिक सहायता के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था की जाए।

कुमाऊँ परिषद् का चौथा अधिवेशन 21–23 दिसम्बर, 1920 में काशीपुर में हर गोविन्द पंत की अध्यक्षता में हुआ। अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन की चर्चा की गई तथा जंगलात समस्या एवं बेगार प्रथा को समाप्त करने के प्रस्ताव रखे गये। अधिवेशन की समाप्ति के बाद बद्री दत्त पाण्डे के नेतृत्व में एक शिष्ट मंडल गांधी जी से मिलने तथा नागपुर कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए रवाना हुआ। कुमाऊँ के नेताओं का मुख्य उद्देश्य गांधी जी को आमंत्रित करना था। नागपुर में ही शिष्ट मंडल की मुलाकात स्वामी सत्यदेव से हुई और उन्हें भी कुली बेगार आन्दोलन के लिए बागेश्वर आमंत्रित किया गया।

नागपुर कांग्रेस से लौटने के बाद कुली बेगार विरोधी पहली महत्वपूर्ण घटना

ग्रामीण क्षेत्र चामी (कत्यूर) में हुई। 1 जनवरी 1921 को चामी गांव के निवासियों ने हरू मन्दिर में एक सभा की, जिसमें कत्यूर क्षेत्र के लगभग 400 ग्रामीण कार्यकर्त्ता एवं नेताओं ने शिरकत की। सभा में कुली उतार न देने की शपथ ली गई तथा बागेश्वर में उत्तरायणी के पर्व पर सम्पूर्ण पर्वतीय जनता को इस आन्दोलन में सम्मलित होने का निर्णय लिया गया।

बागेश्वर में कुली बेगार का अंत

सन् 1921 से पूर्व भी कुली प्रथा समाप्त करने के कई प्रयास किये गये थे जिनकी परिणति बागेश्वर में बेगार की अन्त्येष्टि के रूप में हुई। कमिश्नर ट्रेल ने जो कि उत्तराखण्ड के लोगों का हिमायती था, उसने सन् 1822 में इस प्रथा को हटाने तथा खच्चर सेना को विकसित करने का प्रयास किया। किन्तु यह प्रथा समाप्त न की जा सकी। सन् 1840 में सर्वप्रथम लोहाघाट के आसपास के ग्रामीणों ने अपने उत्पादों को लोहाघाट छावनी में बेचना बंद कर दिया क्योंकि उनसे जबर्दस्ती बर्दायश ली जाती थी। साथ ही उन्होंने सैनिक सामग्री को ले जाने से भी मना कर दिया। सन् 1844 में अंग्रेज यात्री पिलग्रिम को सोमेश्वर से अल्मोड़ा के बीच पर्याप्त कुली नहीं मिले। सन् 1850 में जब बिशाड़ (पिथौरागढ़) के बेगार मुक्त ग्रामीणों से बेगार ली गयी तो उन्होंने सशक्त विरोध किया और अपने को बेगार मुक्त कराया। सन् 1857 में कुली उपलब्ध कराना अत्यधिक कठिन हो गया और कमिश्नर रामजे को जेल के कैदियों को इस काम में लगाना पड़ा। उसी दौरान खत्याड़ी (अल्मोड़ा) के ग्रामीणों ने इस प्रथा के विरूद्ध आवाज उठाई थी। सन् 1903 में जब लार्ड कर्जन अल्मोड़ा होते हुए गढ़वाल को जा रहे थे तो गिवाड़ के गौरी दत्त बिष्ट तथा टोटाशिलिंग के महन्त नारायण दास ने लार्ड कर्जन से जंगलात व कुली बेगार के सम्बन्ध में चर्चा की।

कुमाऊँ परिषद के काशीपुर अधिवेशन में ही यह निर्णय लिया गया था कि उत्तरायण के मेले में जब पहाड़ के कोने–कोने से जनता एकत्रित होगी तो उनके मध्य बेगार विरोधी प्रचार अधिक सफल होगा। नागपुर कांग्रेस से लौटने के पश्चात् 10 जनवरी 1921 को चिरंजीलाल साह, बद्रीदत्त पाण्डे, हरगोविन्द पंत सहित कुमाऊँ परिषद् के लगभग 50 कार्यकर्त्ता बागेश्वर पहुंचे। रास्ते में कारवां बढ़ता गया और भारत माता की जय, महात्मा गांधी की जय, बन्दे मातरम् आदि के नारे जन समूह लगाता रहा। 12 जनवरी को दो बजे बागेश्वर में जलूस निकला। लाल कपड़े के बड़े बैनर में जिसमें 'कुली उतार बंद करो' लिखा था, पूरे बाजार कत्यूर बाजार से ढुंग बाजार तक में घुमाया गया। जलूस में भी लोग कुली उतार विरोधी नारे लगा रहे थे। अंत में जलूस की परिणति एक विशाल सभा के रूप में हुई जिसमें

http://uou.ac.in

10 हजार से अधिक लोग उपस्थित थे। सबसे पहले बद्रीदत्त पाण्डे ने व्याख्यान दिया और उसके बाद हरगोविन्द पंत ने अपने भाषण में स्पष्ट किया कि कुली बेगार न्याय संगत नहीं है और इसकी पुष्टि उच्च न्यायालय ने भी की है। 13 जनवरी, संक्रांति के दिन दोपहर एक बजे के आसपास सरयू नदी के किनारे पर आमसभा आयोजित की गई। इसी समय कुछ मालगुजारों ने अपने गांव के कुली रजिस्टरों को सरयू में डुबो दिया। 14 जनवरी 1921 को बद्री दत्त पाण्डे ने अत्यधिक उत्तेजना पूर्ण भाषण देते हुए समीप में स्थित बागनाथ मंदिर की ओर संकेत करते हुए जनता को शपथ लेने का आह्वान किया। सभी लोगों ने एक स्वर में कहा हम कुली नहीं बनेंगे और कुली रजिस्टर पुनः सरयू में फेंक दिये गये। तत्पश्चात् सरयू को साक्षी मानकर सभी ने शपथ ली कि अब जबरन कभी कुली नहीं बनेंगे। इसे असहयोग की पहली ईंट और रक्त हीन क्रांति के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। जिस समय बागेश्वर में कुली उतार, कुली बेगार, कुली बर्दायश नामक कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिये जनता उत्तेजित थी उस समय डिप्टी कमिश्नर डायबिल जनता को गोलियों से भून देना चाहता था। लेकिन तब कूर्मांचल केसरी बद्रीदत्त पाण्डे ने दहाड़ते हुए जो शब्द कहे वे स्मरणीय हैं– ''कमिश्नर साहब कितनी गोलियां चलाओगे तुम? चलाओ, पर यह समझ लो कि जनता की चट्टान उनसे नहीं टूटेगी, तुम्हारी गोलियां खत्म हो जायेंगी और तुम असहाय खड़े रह जाओगे। यहां चालीस हजार बहादुर हैं, ये सब लाशों के ढेर हो जायेंगें, किन्तु इनमें से एक भी पीछे नहीं हटेगा।'' अपनी शक्ति सीमित देखकर डिप्टी कमिश्नर ने गोली चलाने का निर्णय वापस ले लिया। 15 जनवरी जिस दिन अंग्रेज अधिकारियों को यहां से वापस लौटना था, उन्हें कुली नहीं मिले और यह भी स्पष्ट हो गया कि यदि आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार किया गया या कोई कार्यवाही की गई तो बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो जायेगा। 15 जनवरी को ही हरगोविन्द पंत, बद्री दत्त पाण्डे और मोहन सिंह मेहता आदि अल्मोड़ा वापस आ गये।

बागेश्वर की सफलता के बाद यह आन्दोलन व्यापक रूप से पूरे उत्तराखण्ड में फैल गया। 20 जनवरी को हर गोविन्द पंत ने आन्दोलन की खबर सी0वाई0 चिन्तामणि को दी और 23 जनवरी को एक विशाल सभा बगवाली पोखर में सम्बोधित की। 24 जनवरी को अल्मोड़ा में नारायण तेवाड़ी देवाल में बद्री दत्त पाण्डे की अध्यक्षता में एक सभा की गई। इसी दिन बागेश्वर की सफलता को लेकर पिथौरागढ़ में आम सभा आयोजित की गई। 24 तथा 25 को सत्यदेव ने हल्द्वानी में सभा सम्बोधित की और 25 को ही सोमेश्वर में हरिकृष्ण पाण्डे की अध्यक्षता में कुली बेगार न देने के निर्णय पर अटल रहने के लिए सभा की गई। 27 जनवरी को पाटिया के शिव मंदिर में मेचौड़, दीनापानी, मथौली, माटी, स्यूनराकोट तथा अन्य गांवों के निवासियों ने बेगार बन्द करने की प्रतिज्ञा की। सभा की अध्यक्षता जगन्नाथ पाण्डे ने की और मुख्य वक्ता थे बद्रीदत्त पाण्डे। 28 जनवरी को

चिलियानौला (रानीखेत), हरगोविन्द पंत की अध्यक्षता में और हवलबाग में गुंसाई सिंह की अध्यक्षता में आयोजित सभाओं में बद्रीदत्त पाण्डे ने बागेश्वर में लिये निर्णय पर अटल रहने हेतु कहा। 30 जनवरी को पेटसाल अथवा चितई में हुई सभा में जनता ने गोलू देवता को और 31 जनवरी को सानी उडियार की सभा में ओली नाग देवता को साक्षी मानकर कुली उतार न देने की शपथ ली गई।

30 जनवरी 1921 को ही जिला गढ़वाल की सबसे महत्वपूर्ण सभा चमेठा खाल में हुई। सभा की अध्यक्षता मुकुन्दीलाल ने की। इसमें बदलपुर तथा कौडिया पट्टियों के एक हजार से अधिक लोग उपस्थित थे। खन्द्वारी के ईश्वरीदत्त ध्यानी और बंदरवणी के मंगत राम ने मालगुजारी से त्याग पत्र दे दिया जिससे सम्पूर्ण गढ़वाल में सनसनी फैल गई। गढ़वाल के ऊपरी भाग में अनुसूया प्रसाद बहुगुणा कुली बेगार के विरोध में गांव–गांव में सभा कर जनता को चैतन्य कर रहे थे। इन घटनाओं की खबर पाकर उत्तराखण्ड से बाहर अध्ययनरत छात्रों को पहाड़ लौटने की प्रेरणा मिली और वे भी इस अभियान में जुट गये। 31 जनवरी को आन्दोलनकारियों को शान्ति निकेतन से सेंट एन्ड्रूस और बस्तर से हेम चन्द्र जोशी के सन्देश मिले। जनवरी के अन्तिम सप्ताह में हरगोविन्द पंत ने पाली क्षेत्र में इतना अधिक जन सम्पर्क किया कि पाली की नौ पट्टियों में आन्दोलन फैल गया। सल्ट क्षेत्र के शेर सिंह मनराल, कृष्णानंद, धरम सिंह तथा ज्वाला दत्त आदि उनके सक्रिय सहयोगी थे।

31 जनवरी को ही हरिकृष्ण पाण्डे के नेतृत्व में राष्ट्रीय दल नाम से आन्दोलनकारियों के एक समूह ने बाजे–गाजे के साथ अल्मोड़ा जिले के गांवों का दौरा किया तथा 4 फरवरी को बागेश्वर में एक विराट सभा का आयोजन किया गया। उधर लैन्सडाउन के पास स्थित महर गांव में तहसीलदार के आगमन पर जब पांच गांव के लोग बर्दायश पर बुलाये गये, तो उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। 6 फरवरी को नारायण तेवाड़ी देवाल (अल्मोड़ा) में 10 हजार लोगों की एक सभा आयोजित की गई।

मार्च 1921 में बेगार आन्दोलन की अनुगूंज सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में सुनाई देने लगी। सरकार को अब स्थिति सुधरने की आशा नहीं रही और दमन प्रारम्भ हो गया। फलतः मार्च 1921 में मनमोहन सिंह मेहता को गिरफ्तार कर लिया गया। यह ब्रिटिश कालीन कुमाऊँ कमिश्नरी के स्वतंत्रता सेनानियों की प्रथम राजनीतिक गिरफ्तारी थी। इस गिरफ्तारी में उन्हें नौ माह के कठोर कारावास की सजा तथा एक सौ रूपया जुर्माना हुआ। सन् 1941 में व्यक्तिगत सत्याग्रह के दौरान भी उन्हें गिरफ्तार किया गया और आठ माह की सजा तथा 50 रूपया जुर्माना हुआ। सन् 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन पर 275 रूपये का

सामूहिक जुर्माना किया गया परन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण उन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया।

सन् 1926 में कुमाऊँ परिषद् को कांग्रेस में सम्मिलित किया गया। यह सही कहा जाता है कि सन् 1916 से सन् 1926 के मध्य कुमाऊँ परिषद् का इतिहास ही कुमाऊँ कमिश्नरी में राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है। कुमाऊँ परिषद ने कुली उतार, कुली बेगार, कुली बर्दायाश, जंगलात, लाइसन्स, नयाबाद, बन्दोबस्त आदि विषयों के विरूद्ध आवाज उठाई और आन्दोलन किया।

किसी भी आन्दोलन की सफलता उसके नेतृत्व पर निर्भर करती है। बीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय आन्दोलन के समय उत्तराखण्ड के राजनीतिक वातावरण में एक साथ ऐसे कई नेताओं का आविर्भाव हुआ जिन्होंने निजी स्वार्थों को तिलांजलि देकर त्याग व बलिदान की भावना से भारतवर्ष के स्वतंत्रता संग्राम के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इनमें से कुछ महान् नेताओं को रात–दिन राष्ट्रीय कार्यों में व्यस्त रहकर अल्पायु में ही मौत का ग्रास बनना पड़ा। इन सभी नेताओं के प्रेरणादायक व्यक्तित्व ने जनसाधारण के हृदय में देशसेवा की ज्वाला प्रज्वलित कर दी और भारतवर्ष की स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त कर दिखाया। इनमें देशभक्त मोहन जोशी, भारत माता का सच्चा सपूत रामसिंह धौनी, भारत रत्न गोविन्दबल्लभ पन्त, कूर्मांचल केसरी बद्रीदत्त पाण्डे, लोकनायक हरगोविन्द पंत, अमर शहीद श्री देव 'सुमन', मोहन सिंह मेहता, विद्रोही सैनिक नेता वीरचन्द्र सिंह गढ़वाली, अनुसूया प्रसाद बहुगुणा, नरदेव शास्त्री, गोरखा वीर खड़क बहादुर, महावीर त्यागी, विचारानन्द सरस्वती, मास्टर रामस्वरूप, सुश्री सरला बहन, सत्याग्रही सैनिक ज्योतिराम काण्डपाल, काली कुमाऊँ का शेर हर्ष देव ओली, खुशी राम, शांति लाल त्रिवेदी, इन्द्रसिंह नयाल, बैरिस्टर, मुकुन्दी लाल, आदि के नाम उल्लेखनीय है।

यद्यपि कुमाऊँ कमिश्नरी के अल्मोड़ा–नैनीताल जिलों में सन् 1919 तक काफी राजनीतिक चेतना आ चुकी थी। लेकिन ब्रिटिश गढ़वाल में बीसंवी शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों तक सामाजिक सुधारों तथा सांस्कृतिक विकास का समय रहा। उस काल में वहां रायबहादुर तारादत्त गैरोला, चन्द्रमोहन रतूड़ी, धनीराम शर्मा, गिरजा दत्त, जोधसिंह नेगी, पातीराम परमार, कुलानन्द बड़थवाल, विश्वम्भर दत्त चन्दोला जैसे महत्वपूर्ण व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। ये सभी लोग गोखले मनोवृत्ति के थे, इन्होंने समाचार पत्रों तथा सभाओं के माध्यम से ब्रिटिश गढ़वाल में सामाजिक चेतना उत्पन्न की। सन् 1919 में बैरिस्टर मुकुन्दी लाल के इंग्लैंड से वापस आ जाने से ब्रिटिश गढ़वाल का राजनीतिक वातावरण गर्म होने लगा। ब्रिटिश गढ़वाल के दो प्रमुख नेताओं–मुकुन्दी लाल तथा अनुसूया प्रसाद ने सन् 1919 में अमृतसर में रौलेट एक्ट के विरोध में हुए कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेकर ब्रिटिश गढ़वाल में राजनीतिक जागृति उत्पन्न की। उन्होंने कुली बेगार, कुली उतार,

कुली बर्दायश जैसी कुत्सित प्रथा जिससे कि जनता में भारी क्षोभ व्याप्त था, को असहयोग आन्दोलन का शस्त्र बनाकर ब्रिटिश गढ़वाल में भी ब्रिटिश शासन के विरूद्ध आन्दोलन को जन्म दे दिया।

देश में घटित राजनीतिक घटनाओं से देहरादून काफी प्रभावित हुआ। सन् 1916 में महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका से देहरादून आये, वहां उन्होंने राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत भाषण दिये जिससे वहां की जनता काफी प्रभावित हुई। असहयोग आन्दोलन के प्रस्ताव पास होते ही वहां के एक दर्जन वकीलों ने वकालत छोड़ दी और विद्यार्थियों ने स्कूलों व कालेजों का बहिष्कार किया। ठाकुर चन्दन सिंह ने विद्यार्थियों के लिए एक राष्ट्रीय स्कूल की स्थापना की, जो कई वर्षों तक सफलतापूर्वक चलता रहा। इसी बीच एक घटना घटी। जवाहर लाल नेहरू मसूरी के सेवोय होटल में ठहरे थे, उसी होटल में अफगानिस्तान का एक शिष्ट मंडल भी ठहरा हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने इन दोनों के साथ ठहरने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और नेहरूजी को चौबीस घंटे के अन्दर वहां से चले जाने का नोटिस जारी किया। सरकार द्वारा नेहरू पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाने का देहरादून के नेताओं ने विरोध किया। उन्होंने सन् 1920 में एक राजनीतिक अधिवेशन सम्पन्न कराया और पंडित जवाहर लाल नेहरू को उसका अध्यक्ष बनाया। देहरादून में असहयोग आन्दोलन तीव्र गति से चलने लगा। उस समय चकराता में चार गोरा पल्टन तैनात थीं, जिनके लिये देहरादून से बैलगाड़ियों द्वारा सामान पहुंचाया जाता था। सन् 1921 में पंडित मुकन्दराम के नेतृत्व में बैलगाड़ियों द्वारा गोरों का सामान न ढोने का आन्दोलन चला। फलस्वरूप गोरे सैनिकों की चकराता छावनी में सामान पहुंचना कठिन हो गया। सन् 1922 में स्वामी विचारानन्द सरस्वती ने देहरादून से 'अभय' नामक साप्ताहिक राष्ट्रीय पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

सन् 1922 से 1929 की अवधि में कुमाऊँ कमिश्नरी में सरकार द्वारा वनों में प्रजा के अधिकारों पर लगाये गये प्रतिबन्धों के विरूद्ध जन–आन्दोलन हुए। जनता ने जंगलों में आग लगाकर और तार–बाढ़ तोड़कर अपना असन्तोष प्रकट किया। सन् 1929 में महात्मा गांधी ने हल्द्वानी, ताकुला (नैनीताल), भवाली, ताड़ीखेत, अल्मोड़ा, बागेश्वर और कौसानी की यात्रा कर जनता में खादी–प्रचार, स्वावलम्बन और राष्ट्रीय भावना का प्रचार किया, फलस्वरूप जनता में जागृति आई। गाँधी जी ताकुला 1929 तथा 1931 में आए। उनकी पहली यात्रा का उद्देष्य कॉंग्रेस पार्टी के लिए पैसा एकत्रित करना तथा श्री गोविन्द लाल साह द्वारा दान दी भूमि पर गाँधी धाम की नींव डालना था। 1931 में गाँधी जी पुनः पधारे ताकुला स्थित गाँधी धाम के उद्घाटन हेतु। गोविन्द लाल साह जी के पौत्र एडवोकेट महेष लाल साह ने बताया कि गाँधी जी को यद्यपि राजभवन में रहने के लिए आमंत्रित किया गया था, किन्तु उन्होंने ताकुला रहना पसन्द किया।

1930 का वर्ष उत्तराखण्ड के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रथम 23 अप्रैल 1930 को प्रसिद्ध पेशावर काण्ड जिसमें गढ़वाल के सैनिकों ने एक महान् आदर्श का प्रदर्शन किया। भारत के अन्य प्रान्तों के समान सीमान्त प्रान्तों में भी जनता उद्वेलित थी। खान अब्दुल गफ्फार खां (सीमान्त गांधी) ने पठानों (खुदाई खिदमतगार) को ऐसे ढंग से संगठित किया था कि सामन्त लोग भी अंग्रेजी सरकार का विरोध करने लगे थे। उन्हीं दिनों अप्रैल 1930 में 2/18 गढ़वाल राइफल्स पेशावर की हरि सिंह लाइन्स में तैनात थी। शहर के शाही बाग क्षेत्र में कांग्रेस के नेतृत्व में जनता ने नमक कानून भंग किया और गढ़वाली सैनिकों ने उनके साथ नाता जोड़ लिया। 23 अप्रैल 1930 को उत्तेजित भीड़ ने मोटर साइकिल पर सवार एक अंग्रेज पर पैट्रोल छिड़ककर आग लगा दी; किन्तु गढ़वाली सैनिकों ने घटना की अनदेखी कर दी।

तत्पश्चात् पेशावर के किस्सा खानी बाजार में जहां पुलिस चौकी के सामने हजारों की संख्या में पठान खड़े थे, गढ़वाल सैनिकों के अंग्रेज कमाण्डर रिकेड ने उन्हें आदेश दिया कि भीड़ पर तीन राउण्ड फायर करो। किन्तु दूसरी ओर चन्द्र सिंह गढ़वाली ने अदम्य साहस का परिचय देते हुए कहा, ''गढ़वाली सीज फायर।'' पूछे जाने पर वीर चन्द्र सिंह गढ़वाली ने उत्तर दिया,'' हम भारत की रक्षा हेतु सेना में भरती हुए थे न कि निहत्थे भाइयों पर गोली चलाने को।'' गढ़वाली सैनिकों द्वारा निहत्थे भारतीयों पर गोली न चलाकर अद्भुत साहस के साथ देशभक्ति का महान् प्रदर्शन किया।

पेशावर की घटना का देश में तथा उत्तराखण्ड में असाधारण असर हुआ। चन्द्र सिंह गढ़वाली, हरक सिंह धपोला, नारायण सिंह गुंसाई, केशर सिंह रावत, भोला सिंह बटेला, महेन्द्र सिंह नेगी अदि ने निर्भीक साहस का परिचय दिया। गोलियां गढ़वाली सैनिकों द्वारा न तो जनता की ओर दागी गई और न ही अधिकारियों की ओर। यह असाधारण आत्म संयम का अद्भुत क्षण रहा होगा और अहिंसा की इससे बड़ी मिसाल सामरिक इतिहास में नहीं हो सकती। आजाद हिन्द फौज के जनरल मोहन सिंह का मानना है कि ''चन्द्र सिंह गढ़वाली और उनके साथियों द्वारा ब्रिटिश फौजी आदेश की अवमानना सब बगावतों से भिन्न और सबसे असाधारण थी। उनके द्वारा जन चेतना के प्रसार ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान गढ़वाली सैनिकों को आजाद हिन्द फौज में जाने के लिए प्रेरित किया था।''

जौनसार बाबर के अमर शहीद वीर केसरी चन्द भी नेताजी सुभाष चन्द्र बोस से प्रेरित होकर 1942 में आजाद हिन्द फौज में भर्ती हो गये। इम्फाल के मोर्चे पर पुल उड़ाने के प्रयास के दौरान इन्हें ब्रिटिश फौज द्वारा पकड़ लिया गया। इनके

ऊपर ब्रिटिश राज्य के विरूद्ध षडयन्त्र करने का आरोप लगाया गया तथा 3 फरवरी 1945 को इन्हें मृत्यु दण्ड की सजा सुना दी गई। 3 मई 1945 को मात्र 24 वर्ष, 6 माह की आयु में इस देशभक्त को प्रातः दिल्ली जेल में फाँसी दी गई। इनके द्वारा भारत माता की सेवा में किया गया योगदान अविस्मरणीय है। उनके त्याग और बलिदान को जीवित रखने हेतु आज भी रामताल तहसील, चकराता में उनकी याद में अप्रैल माह के नवरात्र के दिनों में मेला आयोजित किया जाता है।

दूसरी घटना थी नमक आन्दोलन जिसने उत्तराखण्ड को उद्वेलित किया। 24 दिन की डांडी यात्रा जो 12 मार्च 1930 को प्रारम्भ हुई थी और 24 दिनों के उपरान्त 6 अप्रैल को गांधी जी ने नमक बनाकर नमक कानून भंग किया। डांडी यात्रा में कुमाऊँ से ज्योति राम कांडपाल भी थे जो कि गांधी जी के साथ जेल गये। इस यात्रा से उत्तराखण्ड से भैरव दत्त जोशी और गोरखा वीर खड़क बहादुर भी थे। ज्योति राम काण्डपाल जी ने अध्यापक पद से इस्तीफा दिया और सीधे साबरमती आश्रम जाकर डांडी यात्रा में भाग लिया ; तभी गांधी जी के आदेशानुसार सरोजनी नायडू के नेतृत्व में गुजरात में 'धरासाणा' नामक स्थान के नमक डिपो पर धरना देने वाले उत्तराखण्ड के वे एकमात्र स्वयंसेवक थे। वहां उन्हें कठोर यंत्रणा तथा जेल की सजा हुई। तत्पश्चात् गांधी जी ने उन्हें कुमाऊँ में आश्रम स्थापित कर स्वतंत्रता आन्दोलन चलाने के लिए अनुरोध किया। तद्नुसार उन्होंने देघाट में 'उद्योग मन्दिर आश्रम' की स्थापना की और कताई–बुनाई कार्य चलाया। गांधी जी इस कार्य के लिए उन्हें एक सौ रूपये माहवार भेजने लगे किन्तु ज्योति राम जी ने 50 रूपये वापस कर दिये, यह कहकर कि 50 रूपये प्रति माह से ही मेरा खर्चा चल जाता है। इस महान स्वतंत्रता सेनानी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान पुनः एक साल की सख्त जेल, 200 रूपया जुर्माना तथा कुर्की भी हुई। सम्पूर्ण देश की तरह पर्वतीय क्षेत्र में भी आन्दोलन का दौर प्रारम्भ हो गया। कुमाऊँनियों से प्रभावित होकर गांधी जी ने सक्रिय कार्यकर्त्ता शान्ति लाल त्रिवेदी को भेजा। उनके प्रयासों से कौसानी के पास चनौदा में गांधी आश्रम की स्थापना की गई। डा0 हीरा सिंह भाकुनी के अनुसार चनौदा का यही आश्रम व उसके आसपास के गांव, सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में जागृति के प्रमुख केन्द्र बने रहे।

नैनीताल में 27 मई 1930 को 6 हजार लोगों की उपस्थिति में बदरी दत्त पाण्डे द्वारो प्रभावशाली व्याख्यान दिया गया तथा नमक बेचा गया। इससे पूर्व 21 मई को गोविन्द बल्लभ पन्त, हर्ष देव ओली, इन्द्र सिंह नयाल के नेतृत्व में मालरोड में जलूस निकाला गया। 23 मई को गोविन्द बल्लभ पन्त ने मल्लीताल रामलीला मैदान में घोषणा की कि 25 तारीख को नमक बनाया जायेगा। परन्तु दूसरे ही दिन उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इसकी प्रतिक्रिया में इन्द्रसिंह नयाल ने सभा आयोजित कर नमक बनाकर बेचा। फलतः उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। गोविन्द बल्लभ पन्त व इन्द्र सिंह नयाल की गिरफ्तारी के फलस्वरूप बदरी दत्त पाण्डे व कृष्णानन्द जोशी नैनीताल आये और उन्होंने नेतृत्व की कमान सम्भाली। मल्ला सालम पट्टी के ग्राम पिराली के चन्दन सिंह भी इनके साथ थे। इन्द्र सिंह

नयाल जब अल्मोड़ा पढ़ते थे वे तभी 'शुद्ध साहित्य समिति' के सदस्य थे। 1921 में असहयोग आन्दोलन के दौरान उन्होंने इलाहाबाद में कांग्रेस स्वयंसेवक दल के सदस्य के रूप में सक्रियता से भाग लिया। 1942 में उन्होंने एक प्रसिद्ध वकील के रूप में गिरफ्तार व फरार सेनानियों की मुफ्त पैरवी की। सन् 1929 में जब गांधी जी कुमाऊँ आये तो वे भी अल्मोड़ा, कौसानी और बागेश्वर में उनके साथ रहे।

नैनीताल की तरह अल्मोड़ा में भी नमक सत्याग्रह हुआ, किन्तु यहां नमक सत्याग्रह ने शीघ्र ही झण्डा सत्याग्रह का रूप धारण कर लिया। 4 मई 1930 को नवयुवकों ने राष्ट्रीय ध्वज लेकर जुलूस निकाला तथा उसके पश्चात् नन्दादेवी मन्दिर प्रांगण में मोहन जोशी की अध्यक्षता में विराट सभा हुई। शान्ति लाल त्रिवेदी ने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का प्रतिज्ञा पत्र पढ़ा और जनता ने इसमें सहर्ष हस्ताक्षर किये। तत्पश्चात् 25 मई 1930 को सर्वसम्मति से अल्मोड़ा नगरपालिका भवन (वर्तमान महिला चिकित्सालय) में राष्ट्रीय झण्डा फहराने का निर्णय लिया गया। 26 मई को अल्मोड़ा में जुलूस निकला और नन्दा देवी प्रांगण में शान्ति लाल त्रिवेदी की अध्यक्षता में सभा हुई। तत्पश्चात् नगरपालिका भवन पर राष्ट्रीय ध्वज फहराने का प्रस्ताव फिर पारित हुआ और 150 सत्याग्रही मोहन जोशी तथा शान्तिलाल त्रिवेदी के नेतृत्व में नगरपालिका भवन पहुंचे। शहर में धारा 144 लागू हुई थी और नगर पालिका भवन को 80 गोरखा सैनिकों ने घेरा हुआ था। शान्ति लाल सत्याग्रहियों को रणनीति समझा ही रहे थे कि गोरखा सैनिक मशीन गनों सहित आ पहुंचे। जिला प्रशासन ने जुलूस को अवैध घोषित किया तथा 5 मिनट में तितर बितर हो जाने का आदेश दिया। मोहन जोशी ने स्वयं सेवकों को सम्बोधित करते हुए कहा कि जो लोग गोली खाने को तैयार हैं वे रूकें, बाकी चले जायें। इस उद्‌बोधन के पश्चात् मोहन जोशी तथा शान्ति लाल त्रिवेदी के साथ केवल 5 सत्याग्रही– गंगा सिंह बिष्ट, पद्‌मादत्त तिवाड़ी, लाला हरिराम, रवीन्द्र प्रसाद अग्रवाल तथा भुवन चन्द्र– वहां पर रहे। मोहन जोशी तिरंगे को हाथ में लेकर ''झण्डा ऊँचा रहे हमारा....इसकी शान न जाने पाये, चाहे जान भले ही जाये,'' गाते हुए चलने लगे। उनके साथ शान्तिलाल त्रिवेदी व अन्य सत्याग्रही आगे बढ़े ही थे कि गोरखा सैनिकों ने लाठी भांजनी तथा झण्डे से खींचतान प्रारम्भ कर दी। लाठीचार्ज के लक्ष्य मोहन जोशी और शान्ति लाल त्रिवेदी थे। इसी बीच मोहन जोशी की रीढ़ की हड्‌डी पर घातक चोट लगी और वे जमीन पर गिर गये। शान्ति लाल भी चोटिल हुए और उनकी तीसरी पसली टूट गई। किन्तु कातिलाना चोटों और अस्पताल पहुंचाये जाने पर भी सत्याग्रहियों का उत्साह कम नहीं हुआ। उन्होंने नगरपालिका को नोटिस दे दिया कि यदि 27 जून तक नगरपालिका में झण्डा नहीं फहराया गया तो वे डांडियों में आकर स्वयं झण्डा फहरा देंगे। जनता में आक्रोश और उत्साह दोनों था तथा महिलाओं ने अनेक जुलूस निकाले।। तत्पश्चात् बदरी दत्त पाण्डे के नेतृत्व में राम नामी पहने और झण्डे हाथ में लिए ऐतिहासिक

सत्याग्रह हुआ और अल्मोड़ा नगरपालिका के अध्यक्ष ओकले ने निश्चित तिथि से दो दिन पूर्व ही झण्डा फहरा दिया। यह कुमाऊँ में सत्याग्रह की अभूतपूर्व विजय थी। इस घटना से मोहन जोशी के राजनीतिक कद में वृद्धि हुई तथा उनका व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रूप से उभर कर जनता के समक्ष आया। किन्तु इसकी उनको बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। रीढ़ में कातिलाना हमले के कारण वे 1933 से 4 अक्टूबर 1940 तक विक्षिप्त और बीमार रहे। गांधी जी ने उनकी प्रशंसा में कहा था कि वे भारतीय ईसाई समुदाय के उत्कृष्टतम पुरूषों में से एक हैं।''

डा0 शेखर पाठक के अनुसार सन् 1930 का सविनय अवज्ञा आन्दोलन सर्वव्यापी था। ऐसा प्रतीत होता था कि सम्पूर्ण जनता विद्रोही हो गई है; सत्याग्रहियों को गिरफ्तार करने के लिए सरकार के पास न तो साधन थे और न ही कर्मचारी। कुमाऊँ के जेलों में इतनी अधिक जगह न थी। पौड़ी, चमोली, बागेश्वर, पिथौरागढ़, काशीपुर, हल्द्वानी, रानीखेत, श्रीनगर में सत्याग्रह हुए, तिरंगा फहराया गया, विदेशी कपड़ों की होली जलायी गयी तथा नमक बनाया गया। हवलबाग, मनान, सोमेश्वर, कपकोट, नन्द प्रयाग, जैहरीखाल, दोगड्डा जैसे कस्बों में भी इसका प्रभाव इतना ही गहरा था। 28 अगस्त 1930 को जयानन्द भारती तथा साथियों ने जैहरीखाल राजकीय स्कूल में झण्डा फहराया जिसके लिए उन्हें सजा हुई। इसके अतिरिक्त अनेक शहरों में शराब की दुकानों पर धरने हुए।

सन् 1930 के सत्याग्रह में अल्मोड़ा जनपद के चार शास्त्री जेल गये, सालम के दुर्गा दत्त पाण्डे, सल्ट के गंगादत्त, पिथौरागढ़ के कृष्णानन्द तथा कपकोट के टीका राम। सालम में एडीद्यो के मन्दिर में प्रताप सिंह के नेतृत्व में जुलस निकला। जोहार तथा दारमा–ब्यांस में भी सभाएं हुई और तो और घाटी के अन्तिम गांव मिलम में भगत सिंह पांगती के प्रयत्नों से तिरंगा फहराया गया। झण्डा जुलूस निकाला गया और सभा हुई। पिथौरागढ़ में प्रयाग दत्त पंत की गिरफ्तारी हुई और उनकी सम्पत्ति कुर्क कर ली गई।

सल्ट में सविनय अवज्ञा आन्दोलन सर्वाधिक हिस्सेदारी वाला था; पूरे सल्ट में 65 में से मात्र 4 गांव ऐसे रहे जिनके माल गुजारों ने इस्तीफा नहीं दिया। प्रत्येक गांव में तिरंगा फहराया गया तथा झण्डा जुलूस और प्रार्थना सभा नियमित कार्यक्रम में तब्दील हो गये। स्थानीय जनता ने अदालत में मुकदमे ले जाने बन्द कर दिये और पटवारी को नाली देना भी बन्द कर दिया गया। सल्ट के 404 ग्रामीण मोहान के पानोद जंगल में सत्याग्रह करने गये। इन्हें पीटा गया और स्वयं मजिस्ट्रेट गोविन्द राम काला ने इस दमन का नेतृत्व किया। लोगों की हिम्मत अजमाने हेतु उन्होंने पूछा कि गांधी के चेले कितने हैं?'' वहां उपस्थित सभी ग्रामीणों ने हाथ उठा दिये। उन सबको गिरफ्तार कर लिया गया किन्तु 404 सत्याग्रहियों का प्रबन्ध न कर सकने के कारण, केवल 58 को ही काशीपुर अदालत ले जाया

गया और फिर मुरादाबाद जेल भेज दिया गया। 12 जून 1930 को बदरी दत्त पाण्डे व कुंवर आनन्द सिंह रानीखेत पहुंचे। शहरी और ग्रामीण भ्रमण के बाद वहां उन्होंने सत्याग्रहियों को जो कि विदेशी वस्त्र तथा शराब की दुकानों पर पिकेटिंग कर रहे थे, प्रेरित किया।

अनेक स्थानों पर सविनय अवज्ञा ने जंगलात आन्दोलन का स्वरूप धारण कर लिया। लोहाघाट, चम्पावत, सोमेश्वर, द्वाराहाट, आदि क्षेत्रों में जंगल सत्याग्रह चलाये गये। सन् 1923 में पहली बार गिरफ्तार हर्षदेव ओली, 12 अगस्त 1930 को पुनः गिरफ्तार हुए और उन्हें कठोर कारावास की सजा हुई। कोटाबाग, पाटकोट क्षेत्र में भी जंगल सत्याग्रह हुए तथा गिरफ्तारियां दीं गई। अनेक स्थानों पर जंगलों की नीलामी का विरोध हुआ और सैकड़ों ग्रामीणों ने जो कि जाड़ों में तराई–भाभर के जंगलों में काम करने जाते थे, इस बार काम में जाने से इंकार कर दिया। इसी क्रम में डा0 शेखर पाठक के अनुसार कर बन्दी के अन्तर्गत काश्तकारों ने मालगुजारी देने से इंकार कर दिया था। इस प्रकार जंगल और जमीन के मुद्दों ने सन् 1930 के आन्दोलन को ग्रामीण क्षेत्रों में सघन रूप से फैला दिया।

सरकारी नौकरियों तथा पदों से भी लोगों ने इस्तीफा देना शुरू कर दिया। सैकड़ों मालगुजारों, थोकदारों तथा शिक्षकों ने त्यागपत्र दे दिये। सल्ट में पुरूषोत्तम उपाध्याय ने प्रधानाध्यापक तथा लक्ष्मण सिंह अधिकारी ने सहायक अध्यापक के पद से इस्तीफा दे दिया। महिलाएं तथा बच्चे भी पीछे न रहे और नैनीताल, अल्मोड़ा तथा देहरादून में स्कूली बच्चों की गिरफ्तारियाँ हुई। अनेक स्थानों पर बच्चों ने बानर सेनाएं भी स्थापित की। इन दिनों गढ़वाल में दोगड्डा नामक स्थान राष्ट्रीय आन्दोलन का गढ़ बन गया था। सन् 1930 में दोगड्डा में विशाल कुमाऊँ कान्फेरेंस आयोजित की गई, जिसमें सभी महत्वपूर्ण नेता और कार्यकर्त्ताओं ने असाधारण सक्रियता से भागीदरी दिखाई। गोविन्द बल्लभ पंत ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। एम0एन0 रॉय के देहरादून आने से वहां युवाओं में क्रांतिकारी विचारधारा का भी प्रसार होने लगा।

महिलाओं की सक्रियता के परिणामस्वरूप, जनवरी 1931 में बागेश्वर में एक महिला सम्मेलन का आयेाजन हुआ। इस सम्मेलन में मुख्य रूप से विदेशी कपड़ों तथा नशीले पदार्थों का विरोध और खादी के प्रचार का निर्णय लिया गया। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार हेतु कुन्ती वर्मा के नेतृत्व में महिलाओं का एक दल हल्द्वानी गया, जहां उन्होंने दुकानों में धरना दिया। इस विरोध के कारण कुन्ती वर्मा, मंगला देवी, जीवन्ती देवी, भागरथी देवी, पद्मा देवी, धनी देवी आदि को गिरफ्तार किया गया। यह उत्तराखण्ड मे महिला सत्याग्रहियों की पहली गिरफ्तारी थी।

अल्मोड़ा झण्डा सत्याग्रह की प्रतिक्रिया में स्थानीय समाज भी चैतन्य हो चुका था और श्रीमती हरगोविन्द पन्त व श्रीमती बची देवी के नेतृत्व में एक सौ से अधिक महिलाओं का संगठन स्थापित हो चुका था। नैनीताल में भी बिमला देवी, जानकी देवी साह, भागीरथी देवी, पद्मा देवी, सावित्री देवी, शकुन्तला देवी आदि महिलाएं आन्दोलन में सक्रिय हो गई।

सन् 1929 से 1933 की अवधि में भारवर्ष में क्रांतिकारी आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर थे। अखिल भारतीय क्रांतिकारी संगठनो में उत्तराखण्ड भी पीछे नहीं रहा। भवानीसिंह, इन्द्रसिंह गढ़वाली, बच्चुलाल (तीनों गढ़वाल से थे) ने चन्द्रशेखर आजाद, शम्भूनाथ आजाद, रोशन लाल द्वारा, स्थापित क्रांतिकारी संगठनों में सक्रिय भाग लिया। भवानीसिंह 'गडोदिया स्टोर डकैती' में भाग लेकर चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में क्रांतिकारी दल को पिस्तौल की ट्रेनिंग देने के लिये दोगड्डा आये। इन्द्रसिंह ने हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातांत्रिक संघ' 'नौजवान भारत सभा' तथा सन् 1933 मद्रास बम काण्ड में भाग लिया और पकड़े जाने पर अंडमान में 20 वर्ष के कालापानी की सजा पाई। बच्चूलाल ने 'ऊटी बैंक डकैती' में भाग लिया और पकड़े जाने पर अठारह वर्ष की सजा पाई।

शिल्पकार सुधार आन्दोलन

सन् 1932 से 1934 के मध्य कुमाऊँ कमिश्नरी में अछूतोद्धार कार्यक्रम अपनाया गया। इससे पूर्व कुमाऊँ में सन् 1905 में **कुमाऊँ में टम्टा सुधारणी सभा** का जन्म हो चुका था। आगे यही संस्था समस्त कुमाऊँ के शिल्पकारों की स्थिति बदलने हेतु प्रतिबद्ध शिल्पकार सभा में परिवर्तित हो गई। सन् 1912 तथा 1913 में 'अल्मोड़ा अखबार' और 'गढ़वाली' जैसे पत्रों ने शिल्पकारों के संदर्भ में लिखना आरम्भ कर दिया। जिसके फलस्वरूप श्री कृष्ण टम्टा नगर पालिका अल्मोड़ा के सदस्य निर्वाचित हुए। हालांकि, इससे पूर्व कमिश्नर रैमजे ने कुमाऊँ वासी हीरा टम्टा को शिक्षित देखकर अंग्रेजी दफ्तर में नौकरी दी थी। उस समय बराबरी की कुर्सी में देख ब्राह्मणों को बुरा लगा था। श्री कृष्ण टम्टा के नगरपालिका सदस्य निर्वाचित होने पर कुछ उच्च जाति के लोगों ने इसे अपने सम्मान पर चोट माना और नगर पालिका की बैठकों का बहिष्कार करने की बात कही। अल्मोड़ा अखबार ने खुलकर इस संकुचित विचारधारा का विरोध करते हुए खेद व्यक्त किया। इसी दौरान समाचारपत्र 'गढ़वाली' ने लिखा, ''हमें चाहिए कि हीन जातियों से सदबर्ताव करें, अन्तर को घटाएं, उनकी सामाजिक उन्नति में उत्साह दिखाएं, उन्हें समाज का मुख्य अंग बनायें।'' डा0 मुहम्मद अनवर अन्सारी के अनुसार, इस चेतना को बढ़ाने के पीछे सन् 1911 की एक घटना मुख्य कारक

http://uou.ac.in

रही। इस वर्ष अल्मोड़ा में जार्ज पंचम के राजतिलक पर आयोजन हुए। इसमें दलितों के प्रवेश को लेकर विवाद उत्पन्न हुआ। इसकी स्मृति बाद तक शिल्पकारों के मन में छाई रही। सन् 1935 में हरि टम्टा ने लिखा, ''1911 में जार्ज पंचम का राजतिलक हुआ था लेकिन मुझे और मेरे भाईयों को हिन्दुस्तान की इस खुशी में हिस्सा लेने का हक हासिल न हुआ। मुझे अब तक याद है कि लोगों ने तो यहां तक कह दिया था कि अगर ''मुझ'' जैसे दरबार में शामिल हुए तो बलवा हो जायेगा। मैं अपने उन भाईयों की ऐसी बातों के लिए लाख–लाख शुक्र गुजार हूं कि उन्होंने मुझे और मेरे भाईयों को सोते से जगा दिया। इन्हीं बातों के बदौलत मेरे दिल में इस बात की लौ लगी थी कि मैं अपने भाईयों को दुनिया की नजरों में इतना ऊँचा उठा दूं कि लोग उन्हें हिकारत की निगाहों से नहीं बल्कि मुहब्बत और बराबरी की नजरों से देखें।''

सन् 1930 में नैनीताल के सुनकिया गावं में लाला लाजपत राय का आगमन हुआ और खुशीराम के नेतृत्व में शिल्पकारों द्वारा जनेऊ धारण करने तथा आर्य नाम स्वीकार करने का आन्दोलन हुआ। लाला लाजपत राय के पधारने से दलितों में जन्म ले रही जागृति तेजी से विकसित हुई। ईसाई बनने को उत्सुक भाभर पट्टी के शिल्पकार जनेऊ धारण कर आर्य बन गये। इस आन्दोलन में नैनीताल के वकील चन्द्र लाल साह, लाला इन्द्र लाल साह तथा अल्मोड़ा के हरि राम टम्टा ने भी शिरकत की थी। सर्वप्रथम सन् 1906 में उत्तराखण्ड के मूल निवासियों को शिल्पकार नाम देने का प्रयास किया गया। सरकारी रिकार्ड में शिल्पकार नाम लिखने का आवेदन किया तथा अथक प्रयासों के फलस्वरूप सन् 1921 में इस जाति को शिल्पकार लिखा गया और सन् 1932 में मान्यता प्राप्त हुई। शिल्पकार नेता खुशीराम जी का सम्पर्क आर्य समाज के प्रचारक राम प्रसाद जी से हुआ और खुशी राम जी को आशा की किरण दिखाई दी। सर्वप्रथम संगठन बनाने का विचार आया तथा सन् 1908 की एक रात्रि को 10 लोगों की एक समिति बनाई गई। इस समिति ने सम्पूर्ण कुमाऊँ का दौरा कर जनता को उत्साहित किया। एक लम्बे युग की दासता से खुशीराम जी ने मानसिक रूप से इन्हें मुक्त किया। खुशीराम जी घर–घर गये और लोगों में उत्साह पैदा किया। इसके परिणामस्वरूप उन्हें अपना घर त्यागना पड़ा तथा अपने पिता की उस जमाने की लाखों की ठेकेदारी से हाथ धोना पड़ा। शिल्पकारों का जनेऊ ग्रहण करना एवं सवर्णों की दासता से मुक्त होना, वर्ण व्यवस्था पर सीधा प्रहार था जिसे कुमाऊँ का सवर्ण समाज सहन न कर सका। सन् 1934 में जब कट्टर रूढ़िवादियों का विरोध कुछ कम हुआ, तब खुशी राम जी को स्वतंत्रता आन्दोलन के विषय में सोचने का समय मिला। सन् 1934 के बाद खुशीराम जी के सहयोग से कुमाऊँ के शिल्पकार आन्दोलन को राष्ट्रीय धारा से जोड़ दिया गया।

खुशीराम जी समाज सुधारक, आर्य समाजी पंडित के नाम से विख्यात पं0 बच्ची राम आर्य से अत्यधिक प्रभावित हुए। पंडित जी जनपद अल्मोड़ा के सुदूरवर्ती ग्राम पाली के निवासी थे और धर्म के ठेकेदारों के विरोध के बावजूद जनेऊ धारण की। खुशीराम जी ने उन्हें अल्मोड़ा जनपद में सामाजिक परिवर्तन की जिम्मेदारी सौंपी। सन् 1931 में उन्होंने कुमाऊँ शिल्पकार सुधारिणी सभा का अल्मोड़ा जनपद में गठन किया। जनता को जागरूक करने का उनका प्रयास सफल भी रहा। जनेऊ आन्दोलन के साथ उन्होंने भूमि आन्दोलन में भी भाग लिया और भूमिहीन शिल्पकारों को भूमि दिलाई। सन् 1942 मे भारत छोड़ो आन्दोलन व अंग्रेजी सरकार के विरोध में शक्ति में छपे लेखों के कारण 25 जून 1942 को उन्हें गिरफ्तार कर अल्मोड़ा, बरेली व इलाहाबाद जेलों में 1½ वर्ष नजरबंद रखा। सन् 1942 में ही तल्ला सालम के नौगांव में जन्मे महान् क्रान्तिकारी मर्च राम जी 25 अगस्त 1942 को धामद्यो गोली काण्ड के बाद सरकारी कारिन्दों से छीनी गई बन्दूकों को अपने मकान में छिपाकर फरार हो गये। 28 अगस्त 1942 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया तथा 4½ वर्ष की कठोर सजा, 100 रूपये का जुर्माना न भरने पर 6 माह का कठोर कारावास व 10 बेतों की सजा दी गई।

कुमाऊँ की टम्टा सुधारणी सभा (1905) का व्यापक शिल्पकार सभा का रूपान्तरण सन् 1913 में हुआ। सन् 1925 में इसके तत्वाधान में हरि टम्टा, खुशीराम तथा बचीराम आदि के संयुक्त प्रयास से पहली बार बृहद् शिल्पकार सम्मेलन का आयोजन किया गया अल्मोड़ा के ड्योली गांव में, जिसमें शिल्पकारों के अनेक प्रस्ताव पारित किये गये। इस सम्मेलन में हजारों शिल्पकारों ने भाग लिया। इसका आयोजन ड्योली गांव में इसलिए हुआ क्योंकि नन्दा देवी मंदिर के प्रांगण में इसके आयोजन में कुछ लोगों को आपत्ति थी। ब्रिटिश गढ़वाल में भी इसी दौरान सन् 1925 में एक सार्वजनिक सभा हुई जिसमें दलित जातियों के उत्थान हेतु अनेक प्रस्ताव पारित किये गये। सभा के अध्यक्ष तारा दत्त गैरोला ने दलित जातियों में किसी एक को उनके अधिकारों की रक्षा हेतु डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में सदस्य मनोनीत होने की बात कही। सभा की सम्पूर्ण कार्यवाही 'गढ़वाली पत्र' में प्रकाशित हुई। इस आयोजन की खबर तेजी से कुमाऊँ में फैली और अगले अनेक सालों तक ब्राह्मणों तथा अन्य सवर्णों ने इसकी प्रतिक्रिया में क्रूरता का प्रदर्शन किया। शिल्पकारों ने इसकी शिकायत बाद में कुमाऊँ परिषद् के अध्यक्ष तारा दत्त गैरोला से भी की थी। दुर्भाग्य से शिल्पकारों को बेगार उन्मूलन आन्दोलन तथा वन आन्दोलनों में पूर्वाग्रह से ग्रसित नेताओं ने शामिल न होने दिया। इसके कारण वे बाद तक राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा में आने से वंचित रहे।

डा0 अन्सारी के अनुसार सन् 1929 में गांधी जी के कुमाऊँ आगमन से अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिला। वैसे कुमाऊँ में सवर्ण राष्ट्रवादियों का रूझान

http://uou.ac.in

इस ओर पहले से हो चुका था। सवर्णों द्वारा हल चलाना, संयुक्त भोजों का आयोजन करना आदि इस क्रम में थे। यद्यपि कुछ सवर्णों ने इस उदारता का विरोध भी किया किन्तु आम जनता उस विरोध के प्रति उदासीन रहीं। कदाचित असमंजस की इस स्थिति में डा0 अन्सारी का मानना है कि कुछ शिल्पकार नेताओं का औपनिवेशिक सरकार के समर्थन में जाना अस्वाभाविक न था। यदि उनके प्रति उदारता और सहयोग की भावना व्यक्त की गई होती तो वे साइमन कमीशन के समर्थन में कदापि नहीं जाते। इस समय देश में अन्यत्र भी दलितों तथा सवर्ण तालुकेदारों आदि ने भी साइमन कमीशन को समर्थन दिया था। दूसरी ओर प्रारम्भ में अंग्रेजों ने सवर्णों को ही अपनी राजनीति तथा प्रशासन में स्थान दिया था। किन्तु पुनर्जागरण, स्थानीय आन्दोलनों आदि के प्रभाव से कुमाऊँ में उनके शुभ चिंतक घटने लगे। तब अपनी कूटनीतिक जाल में उन्होंने शिल्पकारों को लेने का प्रयास किया।। सन् 1930 में दूसरा सम्मेलन हुआ। 'कुमाऊँ कुमुद' ने तब लिखा था कि ''जब तक हम दलितों को ससम्मान अपने समाज में शामिल नहीं करेंगे, तब तक हमारे तथा हमारे कार्यों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं हो सकती।'' इस तरह सन् 1930 का शिल्पकार सम्मेलन घोर उपेक्षा से जनित था। इसके प्रस्तावों में मांग की गई थी कि वायसराय की गोलमेज सभा में कुमाऊँ के शिल्पकारों को प्रतिनिधित्व मिले। शिल्पकारों को जमीन दी जाय इनकी बटालियन बनाई जाये, राष्ट्र की शान्ति के लिए सविनय अवज्ञा की निन्दा की जाये, शिल्पकार सिरतानो के हित में कानून बने तथा शिक्षा के लिए सुपरवाईजर उन्हीं में से लिया जाए। 8 जून 1932 को प्रान्तीय लाट मैलकम हेली को दिये अनिनन्दन पत्र में भी सवर्णों द्वारा उत्पीड़ित किये जाने तथा शिल्पकारों की दयनीय सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का जिक्र किया गया था और सरकार से सन् 1930 के सम्मेलन में उठाई मांगें प्रस्तुत की गईं थी।

राष्ट्रवादी खुशीराम ने सन् 1933 में मजखाली (अल्मोड़ा जिले) में एक सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें शिल्पकारों के पक्ष में अनेक प्रस्ताव पारित किये गये। सन् 1934 से सन् 1940 तक अखिल भारतीय दलित संस्था के उपाध्यक्ष के रूप में हरि टम्टा कुमाऊँ के दलितों के लिए सक्रिय रूप से काम करते रहे। उनका प्रान्त में अन्यत्र भी बहुत स्वागत हुआ तथा उनके कार्यों को सराहा गया। इसी बीच आम शिल्पकार डोला पालकी आन्दोलन में सक्रिय रहे और तमाम दिक्कतों के बाद अन्ततः सफलता पा सके और सन् 1939 में इस सम्बन्ध में समझौता हुआ। जनवरी 1941 में बागेश्वर के मेले में शिल्पकार सम्मेलन हुआ। इसमें पुनः पुरानी मांगों को दोहराया गया। हरि टम्टा ने भूमि स्वामित्व हेतु कुछ सफलता भी प्राप्त की, जब अंग्रेजी सरकार द्वारा हरिनगर (कत्यूर), नरसिंह डांडा (पिथौरागढ़) तथा लोहाघाट में शिल्पकार बस्तियां स्थापित की गई। दूसरे विश्व युद्ध के बाद सन् 1946 में बागेश्वर में पुनः विराट सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें पूना पैक्ट का विरोध, जंगलात

की भूमि शिल्पकारों को देने, जिला परिषद में शिल्पकारों के स्थानों को सुरक्षित रखने, सरकारी नौकरियों में 25 प्रतिशत स्थान तथा शिल्पकारों की नयी बस्तियों में मार्ग तथा पानी आदि की सुविधाएं देने की मांग की गई। सन् 1946 के प्रान्तीय कौन्सिल के चुनावों में कांग्रेस द्वारा समर्थित खुशीराम के मुकाबले राम प्रसाद टम्टा को सफलता मिली। इसके साथ ही हरि टम्टा गौंडा से निर्विरोध काउन्सिल हेतु चुने गये थे। वे सन् 1945 से सन् 1952 तक अल्मोड़ा नगर पालिका के अध्यक्ष भी रहे। खुशीराम तथा जयानन्द भारती भी अन्त तक अत्यन्त सक्रिय नेता बने रहे।

डा0 अन्सारी के अनुसार, कुमाऊँ के दलित नेता– हरि टम्टा, खुशीराम बच्चीराम आर्य तथा राम प्रसाद टम्टा आदि ने डा0 अम्बेदकर की धर्म परिवर्तन की नीति का विरोध किया था और आर्य समाज आन्दोलन को अधिक महत्व दिया। यद्यपि दलित आन्दोलन में राष्ट्रवादी तथा सरकार समर्थक दोनों प्रकार के तत्व थे लेकिन दोनों शिल्पकारों के हित की लड़ाई अपनी–अपनी तरह से लड़ते रहे। उनकी विशेषताएं और कमजोरियां सामाजिक विकास की तत्कालीन प्रक्रिया से जुड़ी थी।

सन् 1932 में बद्रीदत्त जोशी एडवोकेट की अध्यक्षता में कुमाऊँ समाज सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसमें समाज में व्याप्त कठोर जाति व्यवस्था की निन्दा की गई और दलित वर्ग की उत्पत्ति अन्य वर्णों के समान मानी गई। सन् 1932–33 में गढ़वाल में दलित्तोथान हेतु विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन किया गया। 11–12 दिसम्बर 1932 को मुकन्दीलाल बैरिस्टर के सभापतित्व में तथा 18 दिसम्बर 1932 को जीवानन्द वकील के सभापतित्व में सम्मेलन हुए। बैरिस्टर मुकन्दीलाल ने कहा, ''अछूत जातियों को अपने शिल्पीय पेशे नहीं छोड़ने चाहिए व सवर्णों को शिल्पकारों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। उन्हें डोला डांडी के इस्तेमाल से नहीं रोकना चाहिए।'' संयुक्त प्रान्त की अस्पृश्यता विरोधी समिति, जिसके चेयरमैन हृदयनाथ कुंजरू थे ने, गढ़वाल के लिए अध्यक्ष मुकुन्दी लाल को चुना। गढ़वाल की अस्पृश्यता विरोधिनी समिति के प्रस्ताव निम्न थे–

- डोला–पालकी की समस्या समाप्त करना।
- प्रत्येक दलित जो 21 वर्ष से अधिक हो, उसे मत देने का अधिकार।
- काउंसिल में एक दलित सदस्य भेजना।
- गढ़वाल के मठ, मन्दिर, जलाशय जो सार्वजनिक स्थान पर हों उन्हें दलितों हेतु खोलना।
- पूना पैक्ट का समर्थन।

- बद्रीनाथ मन्दिर दलितों के लिए खोलना।
- शिल्पकार बैंक की स्थापना।
- शिल्पकारों की फौज में भरती, उन्हें भूमि दिये जाने तथा सामाजिक कुरीतियों पर प्रतिबन्ध।
- शिल्पकारों को मुसलमानों की तरह नगरपालिका, जिला परिषद् आदि में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त होना।

गढ़वाल में दलितों की महत्वपूर्ण व बड़ी सभा का आयोजन श्रीनगर में 4–5 सितम्बर 1935 में किया गया। इसकी अध्यक्षता सी0एच0 चौफिन ने की। 3000 लोगों की उपस्थिति में 'शिल्पकार सभा' नामक संगठन की स्थापना के साथ यह निर्णय लिया गया कि बन्दोबस्ती कागजों में परम्परागत शब्द के स्थान पर शिल्पकार शब्द प्रयोग में लाया जायेगा। शिल्पकार उत्तराखण्ड के प्राचीन समाज के प्रतिनिधि हैं तथा यहां की पारम्परिक लोक संस्कृति के निर्माता और संरक्षक भी। औपनिवेशिक युग में 50 से अधिक उपजातियों में विभाजित यह समुदाय बहुत समय तक सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विकास से अछूता रहा। दरअसल अंग्रेजों के आने से पहले यहां जाति प्रथा सशक्त ही थी, सम्पत्ति, राजनैतिक शक्ति तथा पदों का केन्द्रीयकरण भी उच्च वर्गों तक ही सीमित था। अप्रवासी उच्च जाति के लोगों ने उत्तराखण्ड के मूल निवासी शिल्पकारों को शासित बना दिया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शिल्पकारों में स्वतः जागृति की कोशिश होने लगी। उन्होंने अपनी स्थिति में सुधार लाने के साथ–साथ स्वतंत्रता संग्राम में योगदान दिया।

http://uou.ac.in

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

सविनय अवज्ञा सन् 1930 में समाप्त नहीं हो गया। सन् 1931 में ही चौंदास क्षेत्र (पिथौरागढ़) के परमल सिंह हयांकी ने इस क्षेत्र को राष्ट्रीय संग्राम से जोड़ दिया। 23 मार्च 1931 को भगत सिंह तथा साथियों को फांसी देने तथा फरवरी 1931 में चन्द्रशेखर आजाद की पुलिस मुठभेड़ में मारे जाने के कारण सम्पूर्ण उत्तराखण्ड उद्वेलित हो गया। 25 मार्च को अनेक स्थानों में शोक सभाएं हुई और स्थानीय जनता ने जो सैकड़ों जुलूस निकाले उसमें अधिकांश लोग रोते हुए दिखाई दिये। दोगड्डा में भगत सिंह के बैज बेचने वालों को गिरफ्तार किया गया। 1931 में यमकेश्वर (गढ़वाल) में प्रभावशाली राजनैतिक सम्मेलन नरदेव शास्त्री की अध्यक्षता में आयोजित हुआ। इसके उपरान्त 21 मई 1931 को गांधी जी तथा पुरूषोत्तम दास टण्डन की उपस्थिति में नैनीताल में राजनीतिक सम्मेलन आयोजित

हुआ। इसमें गढ़देश के सम्पादक, कृपा राम मिश्र 'मनहर', देवकी नन्दन ध्यानी तथा जयानन्द भारती गढ़वाल से आये थे। महिलाओं ने भी इस सम्मेलन में बखूबी भागीदारी निभाई।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन की इस कड़ी में पौड़ी में एक महत्वपूर्ण घटना घटी, जिसने अंग्रेजी सरकार को स्पष्ट चुनौती दी। उन दिनों संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर मैलकम हेली का पौड़ी में 'अमन सभा' के अनुरोध पर आगमन हुआ। 'अमन सभा' की स्थापना प्रशासन के सहयोग से लैन्सडाउन में नवम्बर सन् 1930 में हुई थी। इसे प्रशासन ने कांग्रेस के प्रतिपक्ष में स्थापित किया था एवं इसके सदस्य अधिकतर राय साहब, राय बहादुर, वकील, ठेकेदार तथा थोकदार थे। हितैषी प्रेस तथा 'हितैषी' पत्र भी इनका सहयोगी था। अमन सभा का उद्देश्य लैन्सडाउन छावनी को राष्ट्रवादी आन्दोलन से बचाना भी था।

6 सितम्बर 1932 को पौड़ी में गवर्नर का दरबार लगने वाला था। स्थानीय नौकरशाही तथा अमन सभा के सदस्य उन्हें यह दिखाना चाहते थे कि गढ़वाल में कांग्रेस का प्रभाव समाप्त हो चुका था। तब जयानन्द भारती जेल से छूटकर आये ही थे। 5 सितम्बर 1932 को पौड़ी में वे छद्मवेश में पहुंचे और रात कोतवाल सिंह नेगी के घर ठहरे। 6 सितम्बर को उन्होंने अपने कुर्ते की आस्तीन में तिरंगे को छुपाये चुपचाप स्थान ग्रहण कर लिया। हेली का अभिनन्दन पत्र पढ़ा जा चुका था और स्वागत के प्रत्युत्तर में वे बोलने वाले थे कि भारती फूर्ति से तिरंगे को लहराते हुए मंच की ओर बढ़ गये। उन्होंने जोर से कहा ''मैलकम हेली गो बैक, भारत माता की जय, अमन सभा मुर्दाबाद, कांग्रेस जिन्दाबाद।'' मैलकम पुलिस पहरे में डाक बंगले की ओर भागे और जनता में हड़बड़ मच गई। अधिकारियों ने भारती को दबोच कर उनको पीटना शुरू किया किन्तु उन्होंने नारे लगाना नहीं छोड़ा। जनता दरबार में उपस्थित कुछ लोगों ने उनके साथ नारे लगाने प्रारम्भ कर दिये। तत्काल उन्हें गिरफ्तार कर पौड़ी जेल भेज दिया गया। भारती एक साल के कारावास के बाद 28 सितम्बर 1933 को जेल से मुक्त हुए।

सन् 1932 में कर बन्दी अल्दोलन विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार और शराब भट्टियों पर धरना देने का आन्दोलन ऋषिकेश से आरम्भ हुआ जहां कई साधुओं ने धारा 144 का उल्लंघन कर अन्दोलन का श्री गणेश किया। सन् 1932 में श्रीनगर (गढ़वाल) में एक वृहद राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें जवाहर लाल नेहरू व विजयलक्ष्मी पण्डित ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन में दोनों गढ़वालों (ब्रिटिश गढ़वाल तथा टिहरी गढ़वाल) की अखण्डता और गढ़वाल में गाड़ी सड़कों पर जोर दिया गया। इसी वर्ष गढ़वाल में 'जागृत गढ़वाल संघ' की स्थापना हुई। इसने पांच आना बढ़ी लगान के विरूद्ध तथा मोटर मार्गों के निर्माण हेतु जन आन्दोलन प्रारम्भ किया गया जिसमें उसे काफी सहायता मिली।

सन् 1935 में जोहार में कांग्रेस की स्वर्ण जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई। 1936 में नेहरू दोगड्डा आये। देहरादून और कुमाऊँ में सन् 1940–41 में व्यक्तिगत सत्याग्रह बड़े जोरों से चला लेकिन ब्रिटिश गढ़वाल में डोली–पालकी की समस्या के उठ जाने के कारण गांधी जी ने वहां के व्यक्तिगत सत्याग्रह पर रोक लगा दी। गढ़वाली कार्यकर्त्ताओं ने डोली पालकी की समस्या को दूर करने के लिये 23 फरवरी 1941 को लैन्सडाउन में 'डोली–पालकी सम्मेलन' आयोजित किया और दृढ़ संकल्प के साथ डोली–पालकी के अन्तर्गत दलितों पर होने वाले अत्याचारों को बन्द करने का निश्चय किया। सम्मेलन की सफलता से प्रसन्न होकर गांधी जी ने सत्याग्रह पर लगा प्रतिबन्ध उठा लिया।

उत्तराखण्ड और भारत छोड़ो आन्दोलन

8 अगस्त 1942 को बम्बई में कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी के विरोध में 9 अगस्त सन् 1942 को उत्तराखण्ड में स्थान–स्थान पर जुलूस निकले और हड़तालें हुई। सन् 1942 के आन्दोलन का उत्तराख्ण्ड में सर्वप्रथम प्रभाव अल्मोड़ा शहर में पड़ा जहां अगस्त 1942 में हरगोविन्द पंत, बद्री दत्त पाण्डे, देवी दत्त, गंगा सिंह, मनोहर पंत (संपादक शक्ति) तथा प्यारे लाल आदि गिरफ्तार किये गये। 9 अगस्त 1942 को नन्दा देवी मन्दिर प्रांगण में बद्री दत्त ने ओजस्वी भाषण द्वारा जनता को समसामयिक परिस्थितियों से अवगत कराया। डा0 हीरा भाकुनी के अनुसार उसी रात उन्हें गिरफ्तार कर दिया गया। मूलतः सन् 1942 का आन्दोलन अल्मोड़ा तथा अन्य पर्वतीय शहरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक जनवादी और निर्णायक रहा। अल्मोड़ा नगर में विद्यार्थियों ने पुलिस पर पत्थरों से प्रहार किया जिसमें कुमाऊँ के कमिश्नर एक्टन के सिर पर चोट आई। अल्मोड़ा शहर पर छः हजार रूपये का जुर्माना किया गया और कुछ विद्यार्थियों को विद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। समस्त अध्यापकों का एक माह का वेतन जुर्माने के रूप में वसूला गया। राजकीय इण्टर कालेज के कक्षा 11 के छात्र चतुर सिंह बोरा और नाथू लाल साह को कैद की सजा सुनाई गई। द्वाराहाट हाईस्कूल कक्षा के छात्र हीरा सिंह महर तथा परमानन्द भण्डारी आदि ने भी सन् 1942 में सक्रिय हिस्सेदारी कर वर्षों तक फरार रहे। अल्मोड़ा जिले में सर्वप्रथम 18 अगस्त 1942 को देघाट (मल्ला चौकोट) नामक स्थान पर पुलिस ने जनता पर गोलियां चलाई जिसमें हरिकृष्ण व हीरामणि नामक दो व्यक्ति शहीद हुए। अल्मोड़ा जिले के सालम क्षेत्र में दुर्गादत्त पाण्डे, रामसिंह आजाद, रेवाधर पाण्डे, प्रतापसिह बोरा, टीकासिंह, नरसिंह आदि देशभक्तों के प्रयत्नों के फलस्वरूप अभूतपूर्व जागृति व्याप्त थी। वहां पहले सरकारी कर्मचारियों का दल जनता को दबाने के लिये भेजा गया, लेकिन जब सालम की साहसी जनता ने उन्हें पीटकर अल्मोड़ा भेज दिया तो ब्रिटिश सरकार ने

क्रोधित होकर वहां ब्रिटिश सेना भेजी। सेना और जनता में धामदेव नामक ऊँचे टीले पर पत्थर और गोलियों से तीव्र संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में जनता के दो प्रमुख नेता क्रमशः नरसिंह धानक शहीद हो गये तथा टीकासिंह कन्याल बुरी तरह घायल हो गये, उन्हें अल्मोड़ा भेजा गया जहां उनकी भी मृत्यु हो गई। इसके बाद डिप्टी कलक्टर मेहरबान सिंह के नेतृत्व में सालम में जाट सेना भेजी गई जिसने वहां अनेक अत्याचार किये और जनता की सम्पत्ति को लूटकर उन्हें आतंकित कर दिया।

सालम के लोगों ने अत्यधिक साहस से विलखम में गिरफ्तार व्यक्तियों को छुड़ाने के अतिरिक्त 43 बन्दूकें और 4 दर्जन हथकड़ियां भी पुलिस से छीन डाली थीं। जब डिप्टी कलेक्टर मेहरबान सिंह पुनः प्रतिशोध की भावना से सालम पहुंचा, तब सालम के शेर और सन् 1942 के प्रणेता राम सिंह आजाद वहां से फरार हो गये। कालान्तर में जब गांधी जी ने घोषणा की, कि भूमिगत लोग तोड़फोड़ की कार्यवाही बन्दकर आत्म समर्पण कर दें, तब लम्बे समय से फरार राम सिंह आजाद ने अपनी गिरफ्तारी बदरीनाथ में दी। हाईकोर्ट में अपील के पश्चात् उनकी मौत की सजा कालेपानी में परिवर्तित कर दी गई। आजाद के पक्ष में गोपाल स्वरूप पाठक ने वकालत की थी जो बाद में देश के उप–राष्ट्रपति बने। उनकी अपील नैनीताल के प्रसिद्ध संग्रामी इन्द्र सिंह नयाल ने की थी।

सालम की भांति सल्ट की जनता ने भी सन् 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में सक्रिय भाग लिया। डिप्टी कमिश्नर ने सल्ट क्षेत्र के बारे में लिखा था कि यहां ब्रिटिश शासन जैसी कोई चीज नहीं है; यहां कई दिनों तक स्वराज्य स्थापित रहा। वहां 'खुमाण' (जो सल्ट कांग्रेस का मुख्यालय था) नामक स्थान पर रानीखेत तहसील के एस0डी0एम0 जौनसन ने 5 सितम्बर को जनता पर गोलियां चलाई जिसमें गंगाराम तथा खीमदेव नाम के दो सगे भाई घटनास्थल पर ही शहीद हो गये और बुरी तरह घायल चूड़ामणि व बाहदुर सिंह चार दिन बाद शहीद हुए। उस दिन 5 हजार लोगों की उपस्थिति में खुमाण में जनसभा चल रही थी। लौटते हुए जौनसन ने सक्रिय नेता कुला सिंह को भी गिरफ्तार कर लिया, जिसने सीना खोलकर अत्याचारी पुलिस से कहा कि मुझे भी गोली मारो, तुम मेरे साथियों को गोली मारकर आये हो। स्वतंत्रता संग्राम में सल्ट के महत्वपूर्ण तथा साहसपूर्ण योगदान से प्रभावित होकर महात्मा गांधी ने उसे दूसरी 'बारदोली' की संज्ञा देकर गौरवान्वित किया।

सन् 1937 में महात्मा गांधी के परम शिष्य शान्तिलाल त्रिवेदी के प्रयत्नों से खादी–प्रचार हेतु चनौदा नामक स्थान पर गांधी आश्रम की स्थापना हई। इस आश्रम के सभी कार्यकर्त्ता देशभक्त तथा गांधीभक्त थे, जिस कारण यह उस क्षेत्र में राजनीतिक जागृति का केन्द्र बना हुआ था। 2 सितम्बर 1942 को अल्मोड़ा जिले के डिप्टी–कमिश्नर ने चनौदा आश्रम में प्रवेश किया और उसके कार्यकर्त्ताओं को

गिरफ्तार कर अल्मोड़ा जेल में भेज दिया। चनौदा गांधी आश्रम के संदर्भ में डिप्टी कमिश्नर ने लिखा था कि जब तक चनौदा आश्रम अस्तित्व में है तब तक इस क्षेत्र में औपनिवेशिक शासन चलाना मुश्किल बात है। चनौदा गांधी आश्रम में 17 आश्रम कार्यकर्त्ता और 25 निकटवर्ती गांवों के लोग जो गिरफ्तार किये गये थे उनमें से सात व्यक्ति बाद में जेल में ही शहीद हो गये। इसी बीच हयात सिंह भाकुनी (खीराकोट) के नाम वारण्ट जारी किया गया और मोहन सिंह भाकुनी को सत्याग्रह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया। चनौदा के निकट शैल गांव एकमात्र ऐसा स्थल था जहां के 40 परिवारों में से 8 परिवार के व्यक्तियों ने आन्दोलन में प्रत्यक्ष हिस्सेदारी की। इनमें से दीवान सिंह भाकुनी जेल में ही शहीद हो गये।

नैनीताल जिले ने भी 'भारत छोड़ों आन्दोलन में पूर्ण भाग लिया। नैनीताल में कुछ साहसी युवकों ने फरार रहकर टेलीफोन के तार काट दिये। दीवान सिंह ने मलोन में जंगलात का डाक बंगला जला डाला। रामगनर का डाक बंगला, भीमताल का अंग्रेजी होटल, नैनीताल का जंगलात का कार्यालय भी अग्नि की लपटों को भेंट कर दिये गये। डा0 भाकुनी के अनुसार जनपद नैनीताल में ही प्यूड़ा मिडिल स्कूल के छात्रों ने रसोइया धर्मानन्द के नेतृत्व में प्यूड़ा पोस्ट आफिस में तोड़फोड़ कर प्यूड़ा अपर स्कूल में जाकर वहां के छात्रों और शिक्षकों को भी आन्दोलन में हिस्सेदारी करने को प्रोत्साहित किया। फलतः धर्मानन्द सहित सभी छात्रों की पोस्ट मास्टर और हैड मास्टर द्वारा रिपोर्ट की गई और उन्हें गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया गया। इसके बावजूद भी प्यूड़ा क्षेत्र में सभी सरकारी संस्थानों में तोड़फोड़ की घटनायें हुईं।

सन् 1942 की घटनाओं से कोटाबाग भी अछूता न रहा। सत्याग्रहियों ने स्वयं अपने लिखे गीतों से जनता में चेतना का प्रसार किया। वहां कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्त्ता भैरव दत्त ने अपने ं हस्तलिखित पोस्टर से जनता को प्रोत्साहित कियाः–

''मेरे हिन्दू–मुस्लिम भाईयों सरकार ने भाषण स्वतंत्रता स्वीकार कर ली है। खूनी लड़ाई का बायकाट करो, इस समय फौज में भरती होना हराम और देश को धोखा देना है। एक पैसा भी लड़ाई में देना महान् पाप है। इस अंग्रेजी शासन का बड़ी तेजी से खात्मा होगा और हो रहा है। इसलिए हिन्दू–मुस्लिम भाई प्रजातंत्रतात्मक राज्य सम्भालने को तैयार रहो, जो लोग एक आदमी की हुकूमत मानकर बंटवारा चाहते हैं वे कौम के दुश्मन हैं, फौज में भर्ती होकर अंग्रेजों के लिए बेकार जान न दो.....।''

ब्रिटिश गढ़वाल जिले में चमोली तहसील के सब पोस्ट आफिस को जलाने का भी प्रयास किया गया। टेलीफोन के तार काट दिये गये। 10 अगस्त 1942 को भक्त दर्शन को गिरफ्तार कर बिजनौर जेल में भेज दिया गया, उस समय वे

'कर्मभूमि साप्ताहिक' का प्रकाशन कर रहे थे। उनकी गिरफ्तारी पर यह दायित्व ललिता प्रसाद नैथानी ने सम्भाला। परन्तु नैथानी भी नजर बन्द कर लिये गये क्योंकि 'कर्मभूमि', आन्दोलन को जन–जन तक पहुंचाने के लिए गति प्रदान कर रहा था।

इस अंचल के एक प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी मोहन लाल साह का जन्म 31 मई 1895 को अल्मोड़ा में हुआ। वे कुमाऊँ के कुलीन ठुलघरिया साह परिवार के थे तथा खजांचीगिरि का पद उनके वंश में चन्द राजाओं के समय से चला आ रहा था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा अल्मोड़ा और उच्च शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हुई जहां से उन्होंने एम0ए0 तथा एल0एल0बी0 की डिग्री ग्रहण की। अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में सर इकबाल अहमद तथा प्यारे लाल बनर्जी के जूनियर के रूप में कार्य किया और उसी दौरान वे टिहरी राज्य के अधिवक्ता रहे।

क्रान्तिकारी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण प्रथम विश्व युद्ध के दौरान वे भारतीय रक्षा सेना में भर्ती हो गये ताकि वहां से प्राप्त प्रशिक्षण क्रान्तिकारी गतिविधियों में उपयोगी सिद्ध हो सके। बाद में वे गांधी जी से अत्यन्त प्रभावित हुए तथा 1939 में उन्होंने कांग्रेस दल की सदस्यता ग्रहण की। सम्पूर्ण ऐश्वर्य त्यागकर सन् 1940 में उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह में गिरफ्तारी दी और एक साल की कठोर सजा पाकर अल्मोड़ा जेल भेज दिये गये। सन् 1941 में जेल से रिहा होने के पश्चात् वे कांग्रेस संगठन के कार्य में तन मन से जुट गए। इसी बीच द्वितीय विश्व युद्ध जोरों पर था तथा कुछ ब्रिटिष सैनिक स्थानीय जनता से दुर्व्यवहार कर रहे थे। इस अत्याचार के विरोध में उन्होंने आवाज उठाई जिस कारण उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। जेल से छूटने के पश्चात् अगस्त 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। सन् 1944 में, दो वर्ष पश्चात् उन्हें रिहा कर दिया गया और वे फिर कांग्रेस संगठन और सामाजिक कार्यों में जुट गए। स्वतंत्रता सेनानी शान्ति लाल त्रिवेदी ने उन्हें मातृभूमि के सत्यनिष्ठ सेवक की संज्ञा दी है। डुंगर सिंह बिष्ट जो 8 माह के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह में जेल गए, क्रान्तिकारी नेता श्याम लाल वर्मा, गौजाजाली हल्द्वानी के गंगा सिंह बोरा, अल्मोड़ा के देवी लाल साह, उदय लाल साह तथा बांके लाल कंसल आदि स्वतंत्रता सेनानियों ने उनको एक उत्कृष्ट कर्मयोगी और महात्मा कहा है तथा उनके त्याग और निर्भीकता की अत्यधिक प्रशंसा की है।

भारत छोड़ो आन्दोलन के एक महत्वपूर्ण आन्दोलनकारी मदन मोहन उपाध्याय थे जिनका जन्म द्वाराहाट के समीप बामनपुरी ग्राम में 1910 में हुआ। 9 अगस्त 1942 को जब आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार किया जा रहा था वे रानीखेत से लापता हो गये और अरूणा आसफ अली, अच्युत पटवर्धन जैसे शीर्ष नेताओं के

साथ गुप्त रूप से देश सेवा में लग गए। उन्होंने इस अवधि में 'क्रान्तिवीर' नामक पैम्फलेट के प्रसार के साथ भूमिगत रेडियो स्टेशन का संचालन भी किया।

चमोली में मुख्य रूप से राम प्रसाद बहुगुणा, योगेश्वर प्रसाद खंडूरी, शम्भू प्रसाद, शिव सिंहं आजाद, पुरूषोत्तम बगवाड़ी व बलवन्त सिंह रावत आदि आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए नन्द प्रयाग में गिरफ्तार कर लिये गये। अनेक आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार कर पौड़ी जेल भेज दिया गया। वहां यातनाओं से उनका स्वास्थ्य गिर गया और उनकी अकाल मृत्यु हो गई– जिसमें भोला दत्त चन्दोला, सुन्दर लाल शास्त्री, लीलानन्द और अनुसूया प्रसाद बहुगुणा आदि थे। उन्हीं दिनों खदेड़ पट्टी में सियाषेण के जंगलात का बंगला जला दिया गया। छवाड़सिंह नेगी के नेतृत्व मे कुछ लोगों ने हरिद्वार से रामनगर तक जमा लकड़ियों को फूंकने (जला डालने) की योजना बनाई लेकिन गुप्तचरों के माध्यम से अंग्रेजों को इसका पता चल गया, जिससे यह योजना असफल हो गई। पौड़ी में नवयुवकों और विद्यार्थियों ने भारी जुलूस निकाला जिसका नेतृत्व एक राय बहादुर के लड़के ने किया। इसके पश्चात् विद्यार्थियों ने विद्यालयों का बहिष्कार कर दिया और अदालत भवन पर राष्ट्रीय ध्वज फहराया। स्थान–स्थान पर जनता की अदालतें स्थापित की गईं। स्वयंसेवकों की भर्ती व प्रशिक्षण के लिए शिविरों की स्थापना की गई। कुछ दिनों के लिए ब्रिटिश गढ़वाल में ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया। तत्पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने दमन नीति का आश्रय लिया। 5,959 रूपयों का सामूहिक जुर्माना किया गया तथा चार व्यक्तियों को गोली से उड़ा दिया गया।

उदयपुर क्षेत्र के प्रमुख नेता छवाण सिंह व जगमोहन सिंह नेगी की तोडफोड़ की घटनाओं से ब्रिटिश शासन की नींद हराम हो गई थी। उनके नेतृत्व में आन्दोलनकारियों ने लैन्सडाउन कचहरी तथा ट्रेजरी को अपने नियंत्रण में लाने के लिए 19 सितम्बर 1942 को असफल प्रयास किया। डाडा मण्डी के अनतर्गत मिडिल स्कूल, मटियाली के प्रधानाचार्य उमराव सिंह रावत का सरकारी कर्मचारी होने के बावजूद आन्दोलन में सक्रिय सहयोग रहा। उन्होंने जन सामान्य, छात्रों एवं युवाओं में क्रांतिकारी साहित्य प्रचारित किया। इस कार्य में अन्ततः सरकार द्वारा उमराव सिंह रावत पर राजद्रोह का आरोप लगाकर उन्हें 4 वर्ष की सजा सुना दी गई। 8 नवम्बर 1942 को दीपावली के अवसर पर पुलिस ने भैरव दत्त धूलिया के घर छापा कर आन्दोलनकारी थान सिंह रावत, छवाण सिंह नेगी व योगेश्वर प्रसाद बहुखण्डी को गिरफ्तार कर लैन्सडाउन लाया गया और धूलिया को भी 7 वर्ष का कठोर कारावास दिया गया।

देहरादून में डी0ए0वी0 कालेज के छात्रों ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के समय जुलूस निकाला। वहां एक्सले हाल की दुकानों व होटलों पर गोरे सैनिक घूमने आये थे, विद्यार्थियों ने गोरे सैनिकों पर पथराव किया जिसमें कई गोरे सैनिक

घायल हुए। जब आन्दोलन जोर पकड़ता गया तो आन्दोलनकारियों को लारियों में भरकर नगर से छः–सात मील दूर जंगल में छोड़ दिया जाता था। धीरे–धीरे यह आन्दोलन धीमा पड़ गया।

सन् 1942 में उत्तराखण्ड के कई अनजाने सेनानियों ने प्रतिरोध के एकल और सामूहिक स्वर बुलन्द किये। किन्तु वे प्रकाश में न आ सके। इनकें से एक थे पट्टी मल्ला सालम के ग्राम बसन्तपुर के कमला पति शर्मा। इस महान् स्वतंत्रता सेनानी को सन् 1941 में व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेने के लिए सजा हुई। इसके बाद सन् 1942 में स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के कारण 2 वर्ष की कठोर कारावास व 100 रूपये अर्थदण्ड न देने के कारण 6 माह की सख्त कैद की सजा हुई। व्यक्तिगत सत्याग्रह में मल्ला सालम पट्टी के दुर्गा सिंह कुटौला ने भी भाग लिया।

इसी प्रकार सालम की रक्त रंजित क्रांति में अपने साथी हमीर सिंह बिष्ट के साथ भाग लेने के कारण भवान सिंह धानक 28 अगस्त 1942 को गिरफ्तार किये गये तथा 4 साल बाद 12 अप्रैल 1946 को रिहा हुए। सालम पट्टी के अन्य महत्वपूर्ण स्वतंत्रता सेनानी जिनके बारे में पता चल सका वे थे, सालम के शेर प्रताप सिंह बोरा व मान सिंह धानक जिन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन, व्यक्तिगत सत्याग्रह तथा भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लिया, जमन सिंह नेगी, शिव दत्त पाण्डे, शेर सिंह नेगी, केशर सिंह नेगी, नारायण दत्त पाण्डे, प्रताप सिंह बिष्ट, प्रेम सिंह बिष्ट जिन्हें सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में भागीदारी के कारण 15 नामजद सत्याग्रहियों में नाम था और सालम क्रान्ति में जिन्हें 7 साल की सख्त सजा, 500 रूपया जुर्माना व 20 बेतों की सजा दी गई थी। लछम सिंह क्वेराली, उत्तम सिंह बिष्ट (1 वर्ष का कठोर कारावास व 100 रूपया जुर्माना की सजा), खड़क सिंह बिष्ट (1 वर्ष का कठोर कारावास व 50 रूपया जुर्माना) तारा दत्त पाण्डे (15 नामजद सत्याग्रहियों में नाम, सालम क्रांति के कारण 11 वर्ष की कठोर सजा, 300 रूपया जुर्माना व 20 बेतों की सजा) शहीद टीका सिंह कन्याल जो सालम क्रांति में 25 अगस्त 1942 (गोली लगने से गम्भीर रूप से घायल और एक माह बाद मृत्यु) बाबू राम अग्रवाल (जो 15 नामजद क्रान्तिकारियों में से एक थे और जिन्हें 11 साल की सख्त कठोर सजा, 200 रूपया जुर्माना व बीस बेतों की सजा दी गई थी) तथा देवेन्द्र सनवाल जिन्हें 10 अगस्त 1942 को जयहरी खाल (लैन्सडाउन के समीप) गिरफ्तार किया गया और लगभग 2 साल बाद, 7 फरवरी 1944 को जेल से रिहा किया गया। जब ये गिरफ्तार हुए तब उनकी आयु 6 वर्ष थी। इसी कड़ी में सन् 1942 के भारत छोड़ा आन्दोलन में भाग लेने वाले लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय' भी थे जिन्होंने चुनाव की राजनीति में अपने को उपयुक्त न पाकर पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया।

उत्तराखण्ड का आजाद हिन्द फौज में योगदान

उत्तराखण्ड निवासियों का सर्वाधिक योगदान नेताजी सुभाष चन्द्र बोस द्वारा भारतवर्ष की स्वाधीनता के लिये संगठित आजाद हिन्द फौज में रहा। उन्होंने अपनी प्रिय मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिये रणक्षेत्र में अपने अद्वितीय रण–कौशल और अदम्य साहस का परिचय देते हुए सहर्ष मृत्यु का आलिंगन किया था, जिसमें ज्ञानसिंह बिष्ट और महेन्द्रसिह बागड़ी की वीरता उल्लेखनीय रही। अपने गुणों के कारण उत्तराखण्ड निवासियों ने नेताजी का मन मोह लिया और आजाद हिन्द फौज में उच्च एवं महत्वपूर्ण पद प्राप्त किये। लैफ्टिनेंट कर्नल चन्द्र सिंह नेगी को सिंगापुर में ऑफीसर्स ट्रेनिंग स्कूल का कमाण्डर नियुक्त किया गया। मेजर देब सिंह दानू को सुभाष चन्द्र बोस का पर्सनल एड्जुटैन्ट के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया गया। इसी प्रकार मेजर पदम सिंह को तीसरी बटेलियन का कमाण्डर और लैफ्टीनेंट कर्नल पी0एस0 रतूड़ी को सुभाष रेजीमेंट की प्रथम बटैलियन का कमाण्डर नियुक्त किया गया। उन्हें सन् 1944 की बर्मा कैम्पेन में अदम्य शौर्य दिखाने के लिए तथा माउडौक और अन्य सामरिक महत्व की पोस्टों पर अधिकार करने हेतु वीरता पुरस्कार सरदार–ए–जंग से सम्मानित किया गया। भारत के प्रसिद्ध आई0सी0एस0 अधिकारी तथा लेखक फिलिप मेसन ने लिखा है कि गढ़वाल की दोनों बटालियन जिन्होंने आजाद हिन्द फौज में अद्भुत बहादुरी का परिचय दिया, राष्ट्रीयता की भावना से ओत–प्रोत थीं। आजाद हिन्द फौज के जनरल मोहन सिंह का मानना है कि चन्द्र सिंह गढ़वाली के शौर्य ने गढ़वाली सैनिकों को आजाद हिन्द फाज में भर्ती होने के लिए प्रेरित किया। वे देश प्रेम की भावना से प्रेरित थे तथा 21 सितम्बर 1942 को गढ़वाल राइफल्स की दो बटालियन, 2/18 तथा 5/18 आजाद हिन्द फौज में शामिल हो गई। इन दो बटालियन में 2500 सैनिक थे जिनमें 600 देश के लिए शहीद हो गये।

उत्तराखण्ड के अन्य महत्वपूर्ण वीर जो आजाद हिन्द फौज में शामिल हुए थे और जिनके बारे में सूचना मिली वे हैंः तल्ला सालम पट्टी के ग्राम सिल्पड़ (गुल्ठी) के धनपत सिंह बिष्ट, मल्ला सालम के गांव झाल डुंगरा के कालू सिंह (कल्याण सिंह), तल्ला सालम के ग्राम सूरी के गोपाल सिंह, (उर्फ गोपाल नाथ), चन्द्र शेखर खुल्बे, कैप्टन राम दत्त पन्त, नैनीताल ग्रैन्ड होटल के स्वामी, मेजर केशव दत्त पाण्डे, शिव सिंह थापा, कैप्टन राम सिंह, जे0एस0 पाण्डे, उमेद सिंह सुगड़ा, फतेह जंग बहादुर राणा, अमरीक सिंह पूनिया एवं डुंगर सिंह आदि।

उत्तराखण्ड में पत्रकारिता और स्वतंत्रता संग्राम

डा0 भुवन शर्मा का मत है कि उत्तराखण्ड में पत्रकारिता के विकास की प्रक्रिया भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया के समानान्तर रही हैं। जब यहां

सन् 1815 में गोरखों के दमनकारी एवं अत्याचारी शासन का अन्त ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा हुआ तो शुरूआत में अंग्रेजों का स्वागत हुआ क्योंकि जनता गोरखों के क्रूर एवं अत्याचारी शासन से त्रस्त थी। उत्तराखण्ड में सन् 1815 से लेकर 1857 तक कंपनी के शासन का दौर शान्त माना जाता है। इस दौर में उत्तराखण्ड के कवियों मौलाराम (1743–1833), गुमानी (1779–1846) एवं कृष्णा पाण्डे (1800–1850) आदि की कविताओं में असन्तोष के बीज मिलते हैं। सर्वप्रथम अंग्रेजी शासन के विरोध में मोलाराम ने लिखा। अंग्रेजी शासन पर गढ़वाल को इस विख्यात कवि व चित्रकार मोलाराम की लेखनी अत्यन्त सारगर्भित है।

''धँसा जब सौ हिन्दुस्ताँ में फिरंगी सैर करता है।
जमी जमीर, रोजीना (पेंशन) सभी का फेर (खत्म) करता है।।
हिन्दू या मुसलमान सभी तगीर (खत्म) हो गए।
अंग्रेज बर जमी ले अमीर हो गए।।
मिलता नहीं रोजीना सुनता न कोई दाद (उदार हृदय)।
गरीब इल्मदार करे किसपै जा फरियाद।।''

अंग्रेजों के आगमन पर गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर की दुर्दशा की एक छोटी सी झाँकी उनकी तूलिका के विपर्ण रंगों से प्रस्तुत है।

''श्रीनग्र वहैं अब नाहि ख्यडों अति विग्र भयौ कबलौं लाईना।
गढ़वाल में हाल ख्यड़ों न कछू दुख सुक्ख पर कबलो सहिना''
निरमानुषता पुर होय रही इन नीचन के संग क्या कहिना।
रहिना यों कीमत नाहि जहां, गुनकौ न उचित तहां रहिना।।
गुण्राहक ते नरनाह कितै गुण चाह जितैं तहहि रहिना।
निज देसहिं ते परदेस भलो अपनो जहं जाय मिडै दहिना।।
लहना जहं चार अचार भलो उनके दरबाहि कौ गहिना!
रेहना क्यों कीमत नाहिं जहाँ गुनिको न उचित तहाँ रहिना।।

हालांकि कवि गुमानी ने कमिश्नर लुशिंगटन की प्रशस्ति भी गाई है किन्तु कम्पनी सरकार और अंग्रेजों का अपनी लेखनी के माध्यम से जमकर विरोध भी किया है। **''जो है नाली बड़ा सवाली पापों से ना डरता है,**

लिखे बनाए तमस्सुक झूठे गवाहों को धरता है।

सो रिश्वत से डिग्री पावै सच्च रो रो मरता है।

कहैं गुमानी जुल्म फिरंगी अमला तेरा करता है।''

कवि कृष्णा पाण्डे ने भी जनता में चेतना का प्रसार किया और कम्पनी सरकार के प्रखर आलोचकों के रूप में कम्पनी राज के अन्तर्विरोधों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है।

कलकत्ता बटि फिरंगि आयो

जाल जमाल का बीजा बांधि लायो।

फिरंगी राजा बलि अवतार

आपण पाप ले औरन मार।

साथ ही उत्तराखण्ड में 1857 के समय के तथा इससे पूर्व भी औपनिवेशिक अवमानना के प्रमाण मिलते हैं।

उत्तराखण्ड में औपनिवेशिक विस्तार के दूरगामी प्रभाव हुए। हिमालय के संसाधनों का दोहन, यहां की सैन्य परम्पराओं का उपयोग, प्रशासनिक केन्द्रों की स्थापना, पाश्चात्य शिक्षा का विकास, ईसाई धर्म का प्रसार, समाज–संस्कृति कला पर यूरोपीय शैली का प्रभाव पड़ा। यहां पुनर्जागरण की लहर सन् 1857 के बाद ही पहुंच सकी। क्योंकि इसी युग अर्थात् सर हेनरी रैमजे के युग (1856–1884) में ही यहां औपनिवेशिक शिक्षा का आरम्भ हो सका और जन साधारण पाश्चात्य विचारों एवं नवीनतम राजनीतिक अवधारणाओं के सम्पर्क में आया तथा उदार जागृति की आधारशिला रखने वाले तत्वों का आविर्भाव हुआ। ये तत्व थे– स्थानीय संगठन तथा स्थानीय पत्रकारिता।

स्थानीय पत्रकारिता ने बाद के वर्षों में उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानीय संघर्षों का स्वाधीनता संग्राम से एकीकरण कर देश के अन्य हिस्सों के आन्दोलनों एवं वहां के समाज, संस्कृति से जनता को परिचित कराने में उत्पेरक की भूमिका निभाई।

डा0 भुवन शर्मा के अनुसार यद्यपि सन् 1842 में एक अंग्रेज व्यावसायी और समाजसेवी जान मेकिनन ने अंग्रेजी भाषा में मसूरी से ''द हिल्स'' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन शुरू कर दिया था, परन्तु सन् 1868 में नैनीताल से प्रकाशित होने वाला 'समय विनोद' उत्तराखण्ड से निकलने वाला पहला देशी (हिन्दी–उर्दू) पत्र था। पत्र के संपादक–स्वामी जयदत्त जोशी वकील थे। पत्र पाक्षिक था तथा नैनीताल प्रेस से छपता था। सन् 1877 के आसपास यह समाचारपत्र कदाचित बन्द

हो गया। पत्र ने सरकारपरस्त होने के बावजूद ब्रिटिश राज में चोरी की घटनाएं बढ़ने, भारतीयों के शोषण, बिना वजह उन्हें पीटने, उन पर अविश्वास करने पर अपने विविध अंकों में चिंता व्यक्त की।

उत्तराखण्ड ही नहीं बल्कि उत्तर प्रदेश में पत्र–पत्रिकाओं के प्रकाशन के क्षेत्र में सन् 1871 में अल्मोड़ा से प्रकाशित–'अल्मोड़ा अखबार' का विशिष्ट स्थान है। इसका सरकारी रजिस्ट्रेशन नंबर 10 था और यह प्रमुख अंग्रेजी पत्र 'पायनियर' का समकालीन था। इसके 48 वर्ष के जीवनकाल में इसका संपादन क्रमशः बुद्धिबल्लभ पंत, मुंशी इम्तियाज अली, जीवान्द जोशी, सदानन्द सनवाल, विष्णुदत्त जोशी तथा सन् 1913 के बाद बद्रीदत्त पाण्डे ने किया।

प्रारम्भिक चरण में 'अल्मोड़ा अखबार' सरकारपरस्त था फिर भी इसने औपनिवेशिक शासकों का ध्यान स्थानीय समस्याओं के प्रति आकृष्ट करने में सफलता पाई। कभी पाक्षिक तो कभी साप्ताहिक रूप से निकलने वाले इस पत्र ने अंग्रेजों के अत्याचारों से त्रस्त पर्वतीय जनता की मूकवाणी को अभिव्यक्ति देने का कार्य किया। इस पत्र का मुख्य विषय आंचलिक समस्याएं कुली बेगार, जंगल बंदोबस्त, बाल शिक्षा, मद्य निषेध, स्त्री अधिकार आदि, रहे।

सन् 1893–1894 में अल्मोड़ा से 'कूर्मांचल समाचार' सन् 1902 में लैंसडाउन से गिरिजा दत्त नैथाणी द्वारा संपादित मासिक पत्र 'गढ़वाल समाचार' और सन् 1905 में देहरादून से प्रकाशित 'गढ़वाली' भी अपनी उदार और नरम नीति के बावजूद औपनिवेशिक शासन की गलत नीतियों का विरोध करने लगे।

सन् 1913 में बद्रीदत्त पाण्डे के 'अल्मोड़ा अखबार' के संपादक बनने के बाद पत्र का सिर्फ स्वरूप ही नहीं बदला वरन् उसकी संख्या अब 50–60 से बढ़कर 1500 तक हो गयी। बेगार, जंगलात, स्वराज, स्थानीय नौकरशाही की निरंकुशता पर पत्र में आक्रामक लेख प्रकाशित होने लगे। फलतः सन् 1918 में 'अल्मोड़ा अखबार' सरकारी दबाव के फलस्वरूप बन्द हो गया जिसकी रिक्तता सन् 1918 में ही बद्रीदत्त पाण्डे के संपादकत्व में ही निकले पत्र 'शक्ति' ने पूरी की। 'शक्ति' (1918 से लगातार) पर दरअसल स्थानीय आक्रामकता और भारतीय राष्ट्रवाद दोनों का असाधारण असर था।

'शक्ति' ने न सिर्फ स्थानीय समस्याओं को उठाया वरन् इन समस्याओं के खिलाफ उठे आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलन से एकाकार करने में भी उसका महत्वपूर्ण योगदान रहा। 'शक्ति' की लेखन शैली का अन्दाज 27 जनवरी 1919 के अंक में प्रकाशित निम्न पंक्तियों से लगाया जा सकता है–

''आन्दोलन और आलोचना का युग कभी बंद न होना चाहिए ताकि राष्ट्र हर वक्त चेतनावस्था में रहे अन्यथा जाति यदि सुशुप्तावस्था को प्राप्त हो जाती है तो नौकरशाही, जर्मनशाही या नादिरशाही की तूती बोलने लगती है।''

एक ओर बेगार, जंगलात, डोला–पालकी, नायक सुधार, अछूतोद्धार तथा गाड़ी सड़क जैसे आन्दोलनों को पत्र ने मुखर अभिव्यक्ति दी तो दूसरी ओर असहयोग, स्वराज, सविनय अवज्ञा, व्यक्तिगत सत्याग्रह, भारत छोड़ों आन्दोलन जैसी अवधारणाओं को ग्रामीण जनमानस तक पहुंचाने का प्रयास किया। यही नहीं 'शक्ति' ने साहित्यिक–सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को भी मंच प्रदान किया।

डा0 भुवन शर्मा का विचार है कि 'शक्ति' का प्रत्येक संपादक राष्ट्रीय संग्रामी था। बद्रीदत्त पाण्डे, मोहन जोशी, दुर्गादत्त पाण्डे, मनोहर पंत, राम सिंह धौनी, मथुरा दत्त त्रिवेदी, पूरन चन्द्र तिवाड़ी आदि में से एक–दो अपवादों को छोड़कर 'शक्ति' के सभी सम्पादक जेल में थे या तत्कालीन प्रशासन की घृणा का पात्र बने।

उत्तराखण्ड में पत्रकारिता के विकास के क्रम में देहरादून से प्रकाशित 'गढ़वाली'' (1905–1952) गढ़वाल के शिक्षित वर्ग के सामूहिक प्रयासों द्वारा स्थापित एक सामाजिक संस्थान था। यह उत्तराखण्ड में उदार चेतना का प्रसार करने वाले तत्वों में से एक अर्थात् उदार सरकार परस्त संगठनों के क्रम में स्थापित 'गढ़वाल यूनियन' (स्थापित 1901) का पत्र था। इसका पहला अंक मई 1905 को निकला जो कि मासिक था तथा इसके पहले सम्पादक होने का श्रेय गिरिजा दत्त नैथानी को जाता है।

'गढ़वाली' के दूसरे सम्पादक तारादत्त गैरोला बने। यद्यपि ''गढ़वाली'' का प्रकाशन एक सामूहिक प्रयास था, परन्तु इस प्रयास को सफल बनाने में विशम्भर दत्त चंदोला की विशेष भूमिका थी। सन् 1916 से सन् 1952 तक गढ़वाली का संपादन–संचालन का सारा भार विशम्भर दत्त चंदोला के कंधों पर आन पड़ा।

47 साल तक जिंदा रहने वाले इस पत्र ने अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से लेकर विविध राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विषयों पर प्रखरता के साथ लिखा तथा अनेक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तैयार की। 'गढ़वाली' की प्रखर लेखनी का एक अंश इस प्रकार है–

''कुली बर्दायश की वर्तमान प्रथा गुलामी से भी बुरी है और सभ्य गवर्नमैंट के योग्य नहीं, कतिपय सरकारी कर्मचारियों की दलील है, कि यह प्राचीन प्रथा अर्थात् दस्तूर है, किंतु जब यह दस्तूर बुरा है तो चाहे प्राचीन

http://uou.ac.in

भी हो, निन्दनीय है और फौरन बन्द होना चाहिए। क्या गुलामी, सती प्रथा प्राचीन नहीं थीं।''

गढ़वाल में कन्या विक्रय के विरूद्ध आंदोलन संचालित करना, कुली बेगार, जंगलात तथा गाड़ी सड़क के प्रश्न को प्रमुखता से उठाना, टिहरी रियासत में घटित रवांई कांड (मई 1930) के समय जनपक्ष का समर्थन कर उसकी आवाज बुलंद करना (जिसकी कीमत 'गढ़वाली' के सम्पादक विश्वम्भर दत्त चंदोला को जेल जाकर चुकानी पड़ी) तथा गढ़वाल में वहां की संस्कृति एवं साहित्य का नया युग 'गढ़वाली युग' आरम्भ करना 'गढ़वाली' के जीवन के शानदार अध्याय हैं।

पत्रकारिता के इसी क्रम के पौड़ी से सदानन्द कुकरेती ने 1913 में विशाल कीर्ति'' का प्रकाशन किया तथा 'गढ़वाल समाचार' तथा 'गढ़वाली' के सम्पादक रहे गिरिजा दत्त नैथाणी ने लैन्सडाउन से 'पुरूषार्थ' (1918–1923) का प्रकाशन किया। इस पत्र में भी स्थानीय समस्याओं को आक्रामकता के साथ उठाया गया।

स्थानीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संग्रामी तथा उत्तराखण्ड के प्रथम बैरिस्टर मुकुन्दीलाल ने जुलाई 1922 में लैन्सडाउन से 'तरूण कुमाऊँ' (1922–1923) का प्रकाशन कर राष्ट्रीय तथा स्थानीय मुद्दों को साथ–साथ पत्र में देने की कोशिश की। इसी क्रम में सन् 1925 में अल्मोड़ा से 'कुमाऊँ कुमुद' का प्रकाशन हुआ। इसका सम्पादन प्रेम बल्लभ जोशी, बसन्त कुमार जोशी, देवेन्द्र प्रताप जोशी आदि ने किया। शुरू में इसकी छवि राष्ट्रवादी पत्र की अपेक्षा साहित्यिक अधिक थी।

उत्तराखण्ड की पत्रकारिता के इतिहास में अल्मोड़ा से प्रकाशित 'स्वाधीन प्रजा' (1930–1933) का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके सम्पादक प्रखर राष्ट्रवादी नेता विक्टर मोहन जोशी थे। अल्पजीवी पत्र होने के बावजूद यह पत्र अत्यधिक आक्रामक सिद्ध हुआ। पत्र ने अपने पहले अंक में ही लिखा–

''भारत की स्वाधीनता भारतीय प्रजा के हाथ में हैं। जिस दिन प्रजा तड़प उठेगी, स्वाधीनता की मस्ती तुझे चढ़ जायेगी, ग्राम–ग्राम, नगर–नगर देश प्रेम के स्रोत उमड़ पड़ेंगे तो बिना प्रस्ताव, बिना बमबाजी या हिंसा के क्षण भर में देश स्वाधीन हो जायेगा। प्रजा के हाथ में ही स्वाधीनता की कुंजी है।''

इसी क्रम में 1939 में पीताम्बर पाण्डे ने हल्द्वानी से 'जागृत जनता' का प्रकाशन किया। अपने आक्रामक तेवरों के कारण 1940 में इसके सम्पादक को सजा तथा 300 रू0 जुर्माना किया गया।

1939 से भक्त दर्शन तथा भैरव दत्त धूलिया द्वारा लैन्सडाउन से प्रकाशित 'कर्मभूमि' पत्र ने ब्रिटिश गढवाल तथा टिहरी रियासत दोनों में राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक चेतना फैलाने का कार्य किया। गढ़वाल के प्रमुख कांग्रेसी नेता भैरव दत्त धूलिया, भक्तदर्शन कमल सिंह नेगी, कुन्दन सिंह गुसांई, श्रीदेव सुमन, ललिता प्रसाद नैथाणी, नारायण दत्त बहुगुणा इसके सम्पादक मण्डल से जुड़े थे। 'कर्मभूमि' को समय–समय पर ब्रिटिश सरकार तथा टिहरी रियासत दोनों के दमन का सामना करना पड़ा। 1942 में इसके संपादक भैरव दत्त धूलिया को 3 वर्ष की सजा विद्रोह के अपराध में और 4 वर्ष की सजा बागियों को शरण देने के अपराध में, कुल मिलाकर 7 वर्ष की सजा सुनाई गई। 9 नवम्बर 1942 को इनके अन्य साथियों तथा अनुज योगेष्वर प्रसाद धूलिया के साथ गिरफ्तार किया गया। सन् 1942 के समयान्तर में इन्होंने अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से निकाल दो नामक पुस्तिका लिखी। उनकी यह पुस्तक 'हनुमान चालीसा' छद्म नाम से प्रकाषित कराकर उनके भाई योगेष्वर प्रसाद धूलिया द्वारा वितरित कराई गई। इस पुस्तक ने सम्पूर्ण पार्वत्य प्रदेष मे हलचल मचा दी और सारा गढ़वाल क्रान्ति की ज्वाला में धधकने लगा।

उत्तराखण्ड में मूलतः दलित पत्रकारिता का उदय सन् 1935 में अल्मोड़ा से प्रकाशित 'समता' (1935 से लगातार) पत्र से हुआ। इसके संपादक हरिप्रसाद टम्टा थे। यह पत्र राष्ट्रीय आन्दोलन के युग में दलित जागृति का पर्याय बना। इसके संपादक सक्रिय समाज सुधारक होने के बावजूद संग्रामी नहीं थे और उन्होंने दलितोत्थान हेतु महत्वपूर्ण कार्य किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व प्रकाशित पत्रों में से कुछ ही समाचार पत्र सन् 1947 के बाद भी प्रकाशित हो सके क्योंकि स्वाधीनता पूर्व के अधिकांश पत्रों का जो उद्देश्य था वह प्राप्त हो चुका था। फिर भी ठीक 15 अगस्त 1947 को भगवती प्रसाद पांथरी, गोपेश्वर कोठियाल आदि ने देहरादून से 'युगवाणी' का प्रकाशन आरम्भ किया। यह पत्र मूलतः प्रजामंडल का पत्र था। इसका महत्व टिहरी रियासत के अंतिम दो सालों के आंदोलनों के संदर्भ में अधिक है। यह पत्र मासिक पत्रिका के रूप में आज भी निकल रहा है और उत्तराखण्ड की अग्रणी पत्रिकाओं में से एक है।

टिहरी रियासत में आन्दोलनो का इतिहास

उत्तराखण्ड के स्वतंत्रता संग्राम से ही जुड़ा टिहरी के ढंढकों (आन्दोलनों) का इतिहास है। सर्वप्रथम सन् 1835 में सकलाना के मुआफीदार के खिलाफ

कमीण/सयाणों ने आन्दोलन किया। रियासत से 300 लोग देहरादून में कम्पनी एजेण्ट के पास भी गये। कम्पनी सरकार ने जनता से कहा कि अपनी शिकायत राजा के पास ले जाएं किन्तु बाद में 7 फरवरी 1838 को कम्पनी द्वारा यह आदेश पारित किया गया कि राजा सकलाना मुआफी की जनता का भी संरक्षण करे। सन् 1851 में सकलाना की अठूर पट्टी में बदरी सिंह असवाल ने तिहाड़ (कृषि की उपज का तीसरा भाग कर में देने की प्रथा) को बन्द करने की घोषणा की। सन् 1861 में राजा भवानी शाह ने वहां नया भूमि बन्दोबस्त लागू किया।

सन् 1903–04 में कुजणी में तब ढंढक हुआ जब कन्जरवेटर केशवानन्द रतुड़ी ने दैण (बर्दायश) और पुच्छी (गाय–भैसों पर लिया जाने वाला कर) लगानी चाही। रतूड़ी जब ग्रामीण जनता पर कार्यवाही करने लगा तो उन्होंने हथकड़ियां छिपा दीं और दल के साथ मारपीट की। वे लोग किसी तरह जान बचा के भागे और दमन तथा दण्ड की तैयारी में लग गये, तभी कुजणी के पंचों ने यह घोषणा की कि जो व्यक्ति आन्दोलनकारियों का साथ नहीं देगा, उनका बिरादरी बहिष्कार करेगी। राजा कीर्ति शाह ने शान्ति स्थापित करने हेतु वजीर हरि सिंह को भेजा। ग्रामीणों ने उसे गिरफ्तार कर लिया। तब ग्रामीणों को वार्ता हेतु टिहरी बुलाया गया और केशवानन्द रतूड़ी तथा अन्य कर्मचारियों को मुअत्तल कर दिया गया।

इस घटना के कुछ साल बाद खास पट्टी के लोगों ने टिहरी रियासत के नये कन्जरवेटर सदानन्द गैरोला को बन्दी बना दिया। स्वयं राजा के घटनास्थल पर आने के बाद वह मुक्त हुआ। 27 दिसम्बर 1906 वन नीति के कारण चन्द्रबदनी के कन्जरवेटर के खिलाफ सभा हुई जब वह चन्द्रबदनी मन्दिर (जो टिहरी से 14 मील दूर स्थित है) से घिरे वनों को आरक्षित घोषित करने जा रहा था। उसी दिन 200 ग्रामवासियों ने उसका घिराव किया और वह बड़ी मुश्किल से जान बचाकर भागा। दूसरे दिन महाराजा ने अपने भाई को आन्दोलनकारियों को गिरफ्तार करने भेजा किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। राजा ने तब ब्रिटिश सरकार से सहायता के लिए गुहार लगाई किन्तु उन्हें यह सोच कर मदद नहीं मिली कि ऐसा करने से राजा की प्रतिष्ठा अपनी प्रजा की नजरों में कम हो जायेगी। आन्दोलन को अपेक्षित गति नहीं मिल पाई, इसलिए कुछ समय बाद वह स्वतः ही समाप्त हो गया।

टिहरी का रवांई काण्ड

1930 में रवांई के तिलाड़ी मैदान में टिहरी रियासत के सिपाहियों ने खून की जो होली खेली उससे सम्पूर्ण मानव समाज शर्मसार हो गया। रवांई आन्दोलन आकस्मिक नहीं था वरन् सदियों से चली आ रही मानव संसाधनों तथा वनाधिकारों

की लड़ाई थी। रियासत द्वारा जंगलात के मामलों में हस्तक्षेप के कारण क्षुब्ध जनता यमुना किनारे स्थित तिलाड़ी के मैदान में रणनीति बनाने हेतु सभा कर रही थी। प्रकारान्तर में यह गुस्सा नौकरशाही, बेगार, प्रभु सेवा, बढ़े हुए करों से भी जुड़ गया। इस आन्दोलन का नेतृत्व साधारण किसानों ने किया। इनमें नगाणा के हीरा सिंह, कसरू के दया राम तथा खमुण्डी गोडर के बैजराम और लाला राम प्रसाद थे। 1930 में इन्होंने आजाद पंचायत के साथ एक समानान्तर सरकार की स्थापना भी कर डाली। नेपाल के महाराजा और उनके महामंत्री की तर्ज पर हीरा सिंह को पांच सरकार और बैज राम को तीन सरकार की उपाधि दी गई। आन्दोलन की मुख्य मांग वनों के अधिकारों की वापसी थी। 20 मई 1930 को एस0डी0एम0 सुरेन्द्र दत्त शर्मा, डी0एफ0ओ0 पद्मादत्त रतूड़ी ने जनता पर गोली चलाई जिसमें धूम सिंह व एक अन्य व्यक्ति की मृत्यु हो गई। उत्तेजित भीड़ में से किसी बहादुर व्यक्ति ने भी गोली चलाई जिसमें एस0डी0एम0 घायल हो गया। तदुपरान्त 30 मई 1930 को तिलाड़ी के मैदान में सभा चल रही थी कि रियासत के दीवान चक्रधर जयाल के आदेश पर सैनिकों ने निहत्थे ग्रामीणों पर गोली चला दी। इस हत्याकाण्ड में अनेक ग्रामीण शहीद हुए और कई लोग गिरफ्तार किये गये। उन्हें चक्रधर जुयाल ने टिहरी रियासत से बाहर के वकीलों को मुकदमा लड़ने का अधिकार नहीं दिया। लिहाजा सभी लोग दोषी पाये गये और उन्हें 15 से 20 साल के लिए जेल भेज दिया गया। बन्दी बनाये गये व्यक्तियों में 15 की मौत जेल में हो गई और उनकी लाशों को यमुना नदी में फेंक दिया गया।

दमन रवांई से बाहर भी हुआ और इस खबर को प्रकाशित करने वाले गढ़वाली पत्र के सम्पादक विश्वम्भर दत्त चन्दोला ने जब माफी नहीं मांगी तो दीवान चक्रधर जुयाल ने उन पर मुकदमा कायम किया। रवांई की झूठी रिपोर्ट छापी गई है, यह घोषणा कर उन्हें एक साल की कड़ी कैद की सजा भुगतनी पड़ी। परन्तु इस दमन से जनता के अन्दर फैल रही चेतना को न रोका जा सका।

इस हत्याकाण्ड को टिहरी का जलियावाला काण्ड भी कहा जाता है; यह रक्तरंजित घटना टिहरी रियासत की दमन और जन प्रतिरोध की सबसे बड़ी घटना थी। रवांई आन्दोलन वनाधिकारों हेतु संघर्ष के साथ–साथ रियासत की दमनकारी नीति का विरोध भी था। नई वन व्यवस्था ने रवांई की जनता में व्याप्त असन्तोष को बढ़ावा दिया था। 1927–28 में जब रवांई के किसानों ने रियासत के वन विभाग से अनुरोध किया कि उनके जानवरों को चराने के अधिकार उन्हें नई वन नीति के अन्तर्गत मिलने चाहिए तो विभाग ने उनसे कहा कि ''अपने जानवरों को पहाड़ से नीचे लुढ़का दो।'' इसी कारण जनता के आक्रोश के कारण रवांई क्षेत्र की आजाद पंचायत अत्यधिक लोकप्रिय हो गई। जौनपुर तथा रवांई क्षेत्र के लोग तिलारी के चन्दादोजरी नामक स्थान पर आजाद पंचायत की बराबर सभाएं करते

थे। राजा को जब इसकी सूचना मिली तो उन्होंने रियासत के भूतपूर्व दीवान पण्डित हरिकृष्ण रतूड़ी को समस्या का समाधान करने हेतु रियासत के प्रतिनिधि के रूप में आन्दोलनकारियों के पास भेजा भी था। जनता ने नीति में सुधार करने की मांग प्रेषित की और रतूड़ी ने उन्हें आश्वासन भी दिया। किन्तु वन विभाग और दीवान चक्रधर जयाल नहीं चाहते थे कि समझौता हो। इसी बीच डी0एफ0ओ0 पद्म दत्त रतूड़ी ने आन्दोलनकारियों दयाराम, रूद्र सिंह, राम प्रसाद और जमन सिंह पर मुकदमा कर दिया। एस0डी0एम0 सुरेन्द्र दत्त शर्मा तथा डी0एफ0ओ0, पद्म दत्त रतूड़ी ने उन्हें गिरफ्तार कर 26 मई 1930 को राज गढ़ी से जब टिहरी की ओर ले जाने लगे तभी जनता ने उनका घिराव कर अपने नेताओं को छुड़ाने का प्रयास किया। इस संकुल द्वन्द्व में डी0एफ0ओ0 ने जनता पर गोलियां चला दी जिसमें तीन लोग शहीद हुए और कुछ लोग बुरी तरह घायल हो गये। गोलीकाण्ड से जनता अत्यधिक उत्तेजित हो गई और उसने एस0डी0एम0 को घायल कर दिया किन्तु डी0एफ0ओ0 जो दीवान चक्रधर जयाल का कृपा पात्र था, पुलिस वालों के साथ घटना स्थल से सुरक्षित निकल गया। जब घटना का समाचार दीवान चक्रधर जयाल को मिला तो उसने प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर युनाइटेड प्रोविन्सेज की सरकार से तथाकथित विद्रोहियों पर गोली चलाने की विशेष अनुमति प्राप्त कर ली। दुर्भाग्यवश उस समय टिहरी रियासत के शासक नरेन्द्र शाह यूरोप के दौरे पर थे, वर्ना यह हत्याकाण्ड नहीं होता जिसमें सुन्दर लाल बहुगुणा चिपको नेता के अनुसार 17 लोग मारे गये और कई घायल हुए। सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश का मत है कि इस हत्याकाण्ड में 200 लोग मारे गये। दीवान चक्रधर जयाल स्वयं गोली चलाने के आदेश दे रहे थे। इस घटना से पूर्व जयाल ने कर्नल सुरेन्द्र सिंह को आदेश दिये थे कि बागियों को सबक सिखाओ। उन्होंने जब मना किया तो उनकी सेवाएं समाप्त कर दीं गई और उनके स्थान पर नाथू सिंहं सजवाण को रवांई भेजा गया।

रवाई हत्याकाण्ड के बाद जनता ने वाइसराय को लिखित रूप से अनुरोध किया कि दीवान चक्रधर जयाल तथा डी0एफ0ओ0 पद्म रतूड़ी जिनके कारण यह हत्याकाण्ड हुआ उन्हें सजा दी जाये। ब्रिटिश गढ़वाल के लोग भी टिहरी रियासत के समर्थन में थे। उन्होंने जयाल और रतूड़ी को खूनियों की संज्ञा भी दे डाली किन्तु इसके बावजूद उन पर कोई कार्यवाही नहीं की गई। राजा भी ब्रिटिश सरकार के समर्थन के कारण चाहते हुए भी इन हत्यारों को दण्डित नहीं कर सके।

इस हत्याकाण्ड के पश्चात् 1935 में सकलाना पट्टी के उनियाल गांव में सत्य प्रसाद रतूड़ी ने बाल सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना भरना था। 1936 में दिल्ली में गढ़देश सेवा संघ की स्थापना की गई और कांग्रेस से प्रभावित इस संस्था के सदस्यों ने रियासत की जनता के

बीच कार्य करने का निर्णय किया। 20 मार्च 1938 को दिल्ली में हुए अखिल पर्वतीय सम्मेलन में उत्तराखण्ड से बदरी दत्त पाण्डे और श्रीदेव सुमन ने भाग लिया। तत्पश्चात् 5 एवं 6 मई 1938 को पंडित नेहरू की अध्यक्षता में श्रीनगर में हुए राजनैतिक सम्मेलन में श्रीदेव सुमन ने टिहरी रियासत की प्रजा के कष्टों से सम्बन्धित प्रस्ताव पारित करवाया। जून 1938 में ऋषिकेश में मानवेन्द्र नाथ की अध्यक्षता में सम्मेलन हुआ जिसमें पुनः टिहरी की जनता की समस्याओं पर विस्तार से विचार हुआ और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग की गई।

23 जनवरी 1939 को देहरादून के चक्खूवाला मोहल्ले में, श्याम चन्द्र नेगी के अनुसार उनके मकान में टिहरी राज्य प्रजा मण्डल की स्थापना हुई। इसकी अनेक शाखाएं विभिन्न स्थानों पर खोली गई। प्रजामण्डल ने स्पष्ट रूप से कहा था कि उसके सदस्य महराज की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन चाहते हैं किन्तु राज्य अधिकारियों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थो के कारण प्रजामण्डल पर विश्वास नहीं था। उन्होंने राजा को रवांई काण्ड की तरह भ्रमित कर दिया तथा उन्हें यह समझाया कि प्रजामण्डल निकट भविष्य में राजा विरोधी आन्दोलन कर सकता है। श्रीदेव सुमन, गोविन्द राम भट्ट, तोताराम गैरोला, महिमानन्द डोभाल तथा श्याम चन्द्र नेगी इसके संस्थापक सदस्य थे। श्रीदेव सुमन को मंत्री बनाया गया था।

टिहरी राज्य प्रजामण्डल की स्थापना मूल रूप से राजा या राजशाही के विरूद्ध नहीं थी और न ही प्रजा मण्डल के कार्यकर्त्ताओं की भावना राजतंत्र को समाप्त करना था। श्रीदेव सुमन ने स्वयं लिखा था कि, ''वैध व शान्तिपूर्ण उपायों से श्री महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना चाहते हैं और सेवा के साधन द्वारा राज्य की सामाजिक, आर्थिक तथा सब प्रकार की उन्नति करना चाहते हैं। ''प्रजा मण्डल ने भी यही बात कही थी कि टिहरी महाराज की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन प्राप्त करना, सब प्रकार की उन्नति करना और जनता से मुफ्त अनाज (बरा) तथा मुफ्त श्रम (बेगार) जैसी कुप्रथाओं को समाप्त करना है। किन्तु कर्मभूमि के 27 जनवरी 1941 के अंक से यह प्रतीत हुआ कि माहौल राज शाही के विरूद्ध है। पत्र में कहा गया, ''बेगार और प्रभु सेवा की अमानवीय प्रथाएं आज भी चालू हैं। युद्ध के बहाने प्रजा से जन–धन के लिए मनमानी हो रही है। विद्यार्थियों का दमन जारी है। इस तरह आज अपने ही राज्य में उसे पशु से भी पतित जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया जा रहा है।''

टिहरी दरबार उत्तरदायी शासन की मांग से अत्यधिक चिन्तित था तथा प्रजामण्डल की मांगें मानने के स्थान पर 'रजिस्ट्रेशन ऑफ एसोसिएशन एक्ट' पारित कर दिया जिसके द्वारा कोई भी स्वतंत्र संस्था रियासत के अन्दर कार्य नहीं कर सकती थी। स्थिति को देखते हुए 19 मार्च 1941 को टिहरी राज्य के अन्दर प्रजामंडल गठित करने का निश्चय किया गया। श्रीदेव सुमन और शंकर दत्त

डोभाल ने यह कार्य सम्भाला। फलस्वरूप श्रीदेव सुमन के पीछे राज्य के जासूस और पुलिस लगी दी गई। 9 मार्च 1941 को टिहरी के पास उनके ससुराल पडियार गांव में उन्हें पहली बार हिरासत में लिया गया। तत्पश्चात् 17 मई को टिहरी की दक्षिणी सीमा मुनि की रेती में छोड़ दिया गया तथा उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि वे दो माह तक रियासत में प्रविष्ट नहीं हो सकते हैं। दरबार की इस नीति पर सुमन ने चिन्ता जताई, साथ ही पत्रों, सम्मेलनों एवं कांग्रेस के अधिवेशनों में इसकी आलोचना की गई। सुमन असाधारण जन सम्पर्क वाले नेता होने के साथ समाचारपत्रों और कई संस्थाओं से जुड़े थे। वे 'कर्मभूमि' के सम्पादक मण्डल में भी थे। अतः रियासत में घटने वाली प्रत्येक घटना का समाचार 'कर्मभूमि' और अल्मोड़ा के समाचार पत्र शक्ति में निरन्तर प्रकाशित होता रहता था।

13 अगस्त 1942 को देवप्रयाग में सकलानन्द डोभाल की अध्यक्षता में एक सभा का आयोजन किया गया जिसमें यह निर्णय लिया गया कि 19 व 24 अगस्त को भी सभा कर आन्दोलन को और अधिक आक्रामक बनाया जायेगा। इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने देवप्रयाग के प्रमुख आन्दोलनकारी प्रेम लाल वैद्य, सुन्दर लाल, नारायण पालीवाल व भगवती चरण निर्मोही आदि को गिरफ्तार कर लिया। नेताओं की गिरफ्तारी के पश्चात गांव वाले एकत्रित हो गये और उन्होंने जमकर विरोध किया।

29 अगस्त 1942 को भारत छोड़ो आन्दोलन के समय श्रीदेव सुमन को देव प्रयाग में गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें कई दिन मुनि की रेती में पुलिस हिरासत में रखकर, 6 सितम्बर 1942 को ब्रिटिश पुलिस के हवाले कर देहरादून जेल और फिर केन्द्रीय जेल, आगरा भेज दिया गया। यही नहीं प्रजामण्डल के चार अन्य सेनानी, भगवती प्रसाद पांथरी, आनन्द शरण रतूड़ी, श्याम चन्द्र नेगी तथा शंकर दत्त डोभाल को भी बन्दी बना कर आगरा जेल भेज दिया गया। जेल से छूटकर सुमन 18 दिसम्बर 1943 को नरेन्द्र नगर के पुलिस अधिकारी से अनुमति लेकर अपने गांव की ओर चल पड़े। 27 दिसम्बर को जब वे अपने गांव जौल से टिहरी की ओर जा रहे थे तो उन्हें चम्बा के पास रोक दिया गया। उन्होंने राज दरबार से जानना चाहा कि उन्हें क्यों रोका गया है किन्तु दरबार से कोई उत्तर नहीं मिला। 30 दिसम्बर को सुमन को गिरफ्तार कर टिहरी जेल भेज दिया गया। सुमन फिर जेल से बाहर न आ सके। लगभग 209 दिन तक जेल में रहकर वे 25 जुलाई 1944 को शहीद हो गये। 29 फरवरी 1944 से उन्होंने अनशन शुरू किया था तथा 3 मई से उन्होंने भूख हड़ताल प्रारम्भ की थी जिसे डा0 शेखर पाठक ने ऐतिहासिक अनशन की संज्ञा दी है। सन् 1946 में जय हिन्द का नारा लगाकर, आजाद हिन्द फौज के सैनिक गढ़वाल आये जिससे टिहरी जन आन्दोलन को तीव्रता प्रदान हुई

और उन्हीं के प्रयत्नों से 25 जुलाई सन् 1946 को प्रथम बार सुमन दिवस मनाया गया।

21 अगस्त 1946 को टिहरी रियासत ने राज्य के भीतर प्रजामण्डल की स्थापना को वैधानिक मान्यता देनी पड़ी। यह मान्यता देशी राज्य परिषद की ओर से महामंत्री जय नारायण व्यास एवं टिहरी के नेतृत्व के प्रयासों का परिणाम था। प्रजामण्डल की मान्यता वैधानिक रूप से कुशलानन्द गैरोला और बजरंग बहादुर सिंह की उपस्थिति में मिली। प्रजा मण्डल के वरिष्ठ सदस्यों ने पंजीकरण के दौरान प्रशासन को स्पष्ट रूप से कह दिया कि प्रजा मण्डल का उद्देश्य उत्तरदायी शासन के लिए जनता को चैतन्य करना है। प्रजा मडल का कार्यालय टिहरी नगर में भी स्थापित किया किन्तु अगले ही दिन 22 अगस्त को परशुराम बड़ोनी, गुरू प्रसाद तथा अन्य कार्यकर्त्ता किसान आन्दोलन के तहत गिरफ्तार कर दिये गये। यह आन्दोलन रियासत के नवीन भूमि बन्दोबस्त के विरोध में था। कीर्तिनगर–डांगीचौरा क्षेत्र में किसान आन्दोलन ने जोर पकड़ा और नागेन्द्र सकलानी तथा दौलत राम जैसे नेताओं को विकसित किया। किसान आन्दोलन के तहत गिरफ्तार व्यक्तियों में से 28 व्यक्तियों को जमानत दे दी गई किन्तु पहली पंक्ति के नेता नागेन्द्र सकलानी, दौलत राम एवं परिपूर्णानन्द पैन्यूली को नहीं छोड़ा। 13 सितम्बर 1946 से टिहरी जेल में पैन्यूली, इन्द्र सिंह, भूदेव लखेड़ा, टीका राम, दौलत राम तथा नागेन्द्र उनियाल आदि ने भूख हड़ताल प्रारम्भ कर दी। उनकी मांग थी कि रजिस्ट्रेशन एक्ट रद्द हों और अत्याचारों की निष्पक्ष जांच हो। जयनारायण व्यास के अनुरोध तथा दरबार के आश्वासनों के फलस्वरूप 22 सितम्बर को भूख हड़ताल वापस ले ली गई। इसी बीच 5 अक्टूबर 1946 को युवराज मानवेन्द्र शाह का राज्याभिषेक किया गया किन्तु शासन व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। नवम्बर 1946 में बिना वकील के मुकदमों की सुनवाई की गई तथा बन्दियों के पक्ष की प्रस्तुति के बिना उन्हें कठोर सजाएं दी गई।

24 नवम्बर 1946 को डांगचौरा में युवा नेता नागेन्द्र सकलानी को गिरफ्तार कर लिया गया तथा दमन नीति जारी रही। 10 दिसम्बर 1946 को परिपूर्णानन्द पैन्यूली टिहरी जेल से फरार होकर जोखिमभरी यात्रा के पश्चात् दिल्ली पहुंचे। जनता की अपेक्षा थी कि राजा मानवेन्द्र शाह के राज्याभिषेक में राजनैतिक बन्दियों को राजक्षमा प्रदान की जायेगी, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। अतः आक्रोश बढ़ता रहा और प्रजामण्डल के मंत्री प्रेमदत्त डोभाल ने संघर्ष का आह्वान किया। 5–6 जनवरी 1947 को कोटद्वार में एक बैठक आयोजित की गई जिसमें प्रजामण्डल, आजाद हिन्द फौज और कांग्रेस कमेटी के सदस्यों ने भाग लिया। कर्नल पितृशरण रतूड़ी ने इसकी अध्यक्षता की। 12 जनवरी 1947 को टिहरी के सैशन जज की अदालत में राजनैतिक बन्दियों की ओर से अपीलें प्रस्तुत की गईं। उसी वर्ष 4 फरवरी को

नागेन्द्र सकलानी को गिरफ्तार कर तीन साल की जेल और 700 रूपये जुर्माना किया गया। 10 फरवरी को नागेन्द्र सकलानी तथा दौलत राम ने जेल में भूख हड़ताल शुरू कर दी और 21 फरवरी 1947 को उन्हें, 27 राजनैतिक बन्दियों के साथ बिना शर्त के रिहा कर दिया गया।

28 अप्रैल 1947 को शान्ति व्यवस्था बनाये रखने को टिहरी दरबार ने शांति रक्षा अधिनियम लागू किया। इसके द्वारा प्रजा मण्डल के सम्पूर्ण कार्य कलाप रोकने के प्रयास किये, सभा, जुलूस तथा सभी प्रकार की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। 26 तथा 27 मई 1947 को प्रजामण्डल का वार्षिक जलसा आयोजित किया जाना था, किन्तु रियासत के अधिकारी नहीं चाहते थे कि आयोजन हों; इसलिए धारा 144 लगा दी गई फिर भी जयनारायण व्यास, मोहन लाल सक्सेना तथा कुशलानन्द गैरोला ने इस आन्दोलन को सफलतापूर्वक आयोजित किया और पुनः उत्तरदायी शासन की मांग की। 6 अगस्त 1947 को प्रजामण्डल के मंत्री दौलत राम को गिरफ्तार कर दिया गया और 15 अगस्त 1947 को जब भारत स्वतंत्र हुआ, प्रजामण्डल के अध्यक्ष परिपूर्णानन्द पैन्यूली को टिहरी रियासत में आते ही गिरफ्तार किया गया। 15 अगस्त को ही देहरादून से टिहरी के संग्रामियों द्वारा प्रकाशित 'युगवाणी' ने टिहरी के संघर्ष तथा वहां की अभिव्यक्ति को व्यापक मंच दिया। 18 अगस्त 1947 को शंकर दत्त डोभाल, प्रेमलाल वैद्य, रामचन्द्र उनियाल, जीत सिंह जरधारी, बुद्धि सागर नौटियाल तथा नागेन्द्र उनियाल को गिरफ्तार किया गया और 14 साल के छात्र विद्या सागर नौटियाल को कालेज से निकाल कर जेल डाल दिया गया। एक और छात्र चतर सिंह नकोटी जिसके नेतृत्व में छात्रों का जुलूस निकला, उसे भी गिरफ्तार कर लिया गया। इस प्रकार रियासत के अधिकारियों ने आतंक का वातावरण उत्पन्न कर दिया। काश्तकारों की फसलों को रौंदना, राजस्व वसूली निर्दयतापूर्वक करना और सामान नीलाम करने की अनेक घटनाएं हुईं। आलू सिण्डीकेट को आलू खरीदने का अधिकार देकर किसानों के लिए और अधिक परेशानियां उत्पन्न कर दीं।

15 दिसम्बर 1947 को सकलाना के मुआफीदारों ने टिहरी राज्य से सम्बन्ध विच्छेद कर दिये और 16 दिसम्बर 1947 को समस्त अधिकार प्रजामण्डल को सौंपकर आजादी की घोषणा कर दी। सकलाना से बड़ियार गढ़ क्षेत्र के लोग भी प्रभावित हुए। उन्होंने स्वतंत्रता की घोषणा कर आजाद पंचायत की स्थापना की और बलपूर्वक शासन को अपने हाथ में लेने का निश्चय किया। इसी क्रम में 10 जनवरी 1948 को जनता ने नागेन्द्र सकलानी के नेतृत्व में कीर्तिनगर की अदालत पर अधिकार कर लिया। रियासत की सेना ने उस पर पुनः अधिकार करना चाहा। 11 जनवरी को डिप्टी कलेक्टर तथा पुलिस अधीक्षक कीर्तिनगर पहुंचे तो प्रशासन व जनता में तीव्र संघर्ष हुआ। डिप्टी कलेक्टर की आज्ञा से अश्रु गैस छोड़ी गई।

इसी बीच किसी ने न्यायालय भवन पर आग लगा दी जिससे स्थिति बिगड़ती चली गई। जनता को उत्तेजित देख पुलिस अधीक्षक और डिप्टी कलेक्टर भाग खड़े हुए। नागेन्द्र और मोलू राम ने उन्हें पकड़ने की कोशिश की। इस पर डिप्टी कलेक्टर ने दोनों पर गोली चला दी। अपने दोनों साथियों को शहीद होते देख आन्दोलनकारियों की उत्तेजना चरम सीमा पर पहुंच गई और दोनों अधिकारियों को पकड़ कर कीर्ति नगर हवालात में बन्द कर दिया। इसके बाद नागेन्द्र तथा मोलू के जनाजों को टिहरी ले जाने का निश्चय किया गया। बृहद जन समूह ने टिहरी नगर की ओर प्रस्थान किया। 12 जनवरी को यह कारवां देवप्रयाग रूका और 13 जनवरी को खास पट्टी के मार्ग से टिहरी को बढ़ा। मार्ग में पूरी व्यवस्था ग्रामीणों द्वारा की गई थी।

15 जनवरी 1948 को सत्याग्रहियों द्वारा यह योजना बनाई गई कि टिहरी नगर पर अधिकार कर लिया जाय और उसी दिन इस अपार जन समूह ने टिहरी नगर में प्रवेश किया। मकर संक्रांति के कारण टिहरी में भी भीड़ थी। शवों के साथ आन्दोलनकारी प्रताप इण्टर कालेज के मैदान में पहुंचे, जहां वीरेन्द्र दत्त सकलानी की अध्यक्षता में आजाद पंचायत का गठन किया गया। इसी दिन रियासत के पूर्व महाराजा नरेन्द्र शाह ने टिहरी नगर में आने का प्रयास किया किन्तु आजाद पंचायत के स्वयं सेवकों ने भागीरथी पुल पर ताला लगाकर उन्हें नगर में प्रवेश नहीं करने दिया। दूसरी ओर देहरादून से पुलिस और सेना के 100 जवानों के साथ पुलिस अधिकारियों ने आकर भारत सरकार की ओर से टिहरी की व्यवस्था सम्भाल ली। टिहरी जेल के द्वार आजाद पंचायत के आदेश से खोल दिये गये और दोपहर को नम आंखों से जनता ने शहीदों का अन्तिम विदाई दी। दाह संस्कार के बाद सत्याग्रहियों ने शपथ ली कि सामन्ती व्यवस्था का अन्त किया जायेगा। शाम को एक सभा आयोजित की गई जिसमें दो विचारधाराएं उभर कर आईं। कुछ लोग राजशाही के अन्तर्गत उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना चाहते थे। दूसरी ओर वे लोग थे जो टिहरी रियासत को भारतीय संघ में विलनीकरण के इच्छुक थे। बाद में दूसरी विचारधारा के लोग बहुमत में हो गये। दूसरे दिन 16 जनवरी को दौलतराम की अध्यक्षता में एक विराट सभा हुई। इसमें भक्तदर्शन, नरदेव शास्त्री, महावीर त्यागी आदि भी उपस्थित थे। तत्पश्चात् 15 फरवरी 1948 को अन्तरिम सरकार की स्थापना की गई जिसमें 4 सदस्य प्रजा मण्डल द्वारा मनोनीत किये गये और एक सरकार द्वारा। अन्तरिम सरकार की स्थापना के बाद 12 अगस्त 1948 को वयस्क मताधिकार के आधार पर टिहरी विधान सभा के चुनाव हुए। प्रजा मण्डल को 24, प्रजा हितैषिणी सभा को 5 और स्वतंत्र को 2 स्थान प्राप्त हुए। इस बीच महाराजा मानवेन्द्र शाह ने टिहरी राज्य के संयुक्त प्रान्त में शामिल होने की औपचारिकताएं 18 मई 1949 को पूरी कर लीं। इसके बाद 1 अगस्त 1949 को टिहरी रियासत संयुक्त प्रान्त में मिला दी गई।

परिशिष्ट–1

ब्रिटिश वन अधिकार तथा कृषक प्रतिरोध

–डा0 अजय सिंह रावत

19वीं शताब्दी साम्राज्यवाद का युग था और यूरोपीय शक्तियां इस औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा में निरन्तर एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहती थीं। रूस भी अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित करने हेतु एक औपनिवेशिक शक्ति के रूप में उभरना चाहता था, किन्तु उत्तर में बाल्टिक तथा नौर्थ सागर के कारण रूस के बन्दरगाहों में जाड़ों में आवागमन सम्भव नहीं था। इस कारण रूस काला सागर के माध्यम से भूमध्य सागर की ओर बढ़कर पूर्व की ओर अग्रसित होना चाहता था। किन्तु यह सामरिक नीति इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के व्यापारिक हितों के विरूद्ध थी। इस परिस्थिति में रूस का इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ टकराव अवश्यमभावी हो गया था तथा व्यापारिक कूटनीति की परिणित क्रीमिया के युद्ध के रूप में हुई।

सन् 1854 से 1856 ई0 विद्यमान क्रीमियन युद्ध एवं सन् 1856 ई0 की पेरिस शान्ति वार्ता के परिणामस्वरूप रूस का भूमध्य सागर तथा काला सागर की ओर विस्तार प्रतिबन्धित हो गया। अस्तु उसने पश्चिमी तिब्बत के रास्ते भारत में प्रवेश करना सुनिश्चित किया और यह भी एक ठोस सत्य था कि उस समय पश्चिमी तिब्बत से भारत में प्रवेश करने के लिए कुमाऊँ तथा गढ़वाल से ही सर्वाधिक प्रचलित मार्ग थे। ब्रिटिश सरकार की तिब्बत को हस्तगत कर उस पर शासन करने की 19वीं शताब्दी में रंचमात्र भी भावना नहीं थी। उसे बस रूस का तिब्बत में तिलभर सामरिक प्रभाव भी असहनीय था क्योंकि इससे भारत की सीमाओं पर खतरे के बादल मंडरा सकते थे। रूस तथा भारत की सीमाओं पर स्थित तिब्बत एक ऐसा देश था जो दुर्गम पर्वत श्रृंखलाओं से घिरा तो था ही और इसके साथ ही समस्याओं व प्राकृतिक विपदाएं हर पल हर क्षण वहां के वासियों के जीवन पर कहर बरसाने को सन्नद्ध रहती थी। सड़कों के नितान्त अभाव के कारण वहां के निवासियों के लिए सहयोग एवं सहायता आकाश कुमुस हो गये थे।

तिब्बत में रूस के विस्तार के समक्ष कुमाऊँ तथा गढ़वाल एक अभेद्य दीवार की तरह विद्यमान थे। गढ़वाल से पश्चिमी तिब्बत में प्रवेश का मार्ग यूरोपवासियों को सन् 1624 ई0 में ही ज्ञात हो गया था। इसी वर्ष फादर एण्टोनियों डी0 एनड्राडे गढ़वाल के रास्ते तिब्बत के ही एक भूभाग शापरांग नामक स्थान पर पहुंचे जहां उनका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार व प्रसार करना था। जिसका सबसे बड़ा प्रमाण था– 10 अप्रैल सन् 1626 ई0 में शापरांग में एक चर्च की स्थापना। गढ़वाल

तथा कुमाऊँ के शासन प्रबन्ध में अंग्रेजों ने इन क्षेत्रों के सामरिक महत्व को सर्वोपरि रखा।

इसलिए उन्होंने इस स्थलों के जनमानस को जीतने का हर सम्भव प्रयास किया। स्थानीय रीति–रिवाजों, परम्पराओं को पूर्ववत् ही बनाये रखा। यहां की आर्थिक स्थिति को सुधारने में भी अपना योगदान दिया– किन्तु खेद का विषय यह रहा कि उन्होंने कुली बेगार जैसी नारकीय विभीषिका तथा वन प्रबन्धन पर दूरदर्शिता को नहीं अपनाया।

उपनिवेश युग के पूर्व अठारहवीं (18वीं) सदी के उत्तरार्द्ध में स्थानीय जनता के लिए वन–लकड़ी तथा घास के रूप में– जीविकोपार्जन के यथेष्ट साधन उपलब्ध थे। सन् 1815 ई0 में अंग्रेजों द्वारा कुमाऊँ तथा गढ़वाल को विजित करने के बाद गढ़वाल दो भागों में बांट दिया गया। 'ब्रिटिश गढ़वाल' तथा 'टिहरी गढ़वाल'। ब्रिटिश गढ़वाल को कुमाऊँ कमिश्नरी का हिस्सा बनाकर 'टिहरी गढ़वाल' की सत्ता पुनः परमार वंश को सौंप दी गयी। यद्यपि ब्रिटिश वन व्यवस्था को वैज्ञानिक तथा सुव्यवस्थित कहा गया था किन्तु प्रारम्भ से ही यह अनेक दुरूह खामियों से भरी हुई थी। सरकार ने लकड़ी कटान तथा ग्रामीणों के पशुओं को वनों में चरने पर प्रतिबन्ध का कानून पारित कर उन्हें जैसे जीवनयापन के साधनों से ही विलग कर दिया था क्योंकि वे केवल सम्पदा पर ही अवलम्बित थे। यह उन्हें अपने मूल अधिकारों पर कुठाराघात–सा लगा। ब्रिटिश शासन ने विशेष रूप से कृषि के विस्तार की नीति अपनाई और फलस्वरूप इस ओर उत्तरोत्तर जनसंख्या में वृद्धि हुई किन्तु उक्त प्रतिबन्धों ने 1920 के पष्चात् एक ओर वनों के व्यापारिक उत्पादन को तो बढ़ाया ही, साथ ही वनों से प्राप्त कृषि इकाइयों की उपज को भी निरन्तर ह्रास की ओर ढकेल दिया जिसने जनता में असंतोष तथा असुरक्षा का बीजारोपण कर दिया। इस नियम को पारित करने के पूर्व सरकार को सबसे पहले विभिन्न ग्रामों की जरूरतों की सूचियां बनानी चाहिए थी किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं किया गया और वास्तविकता को ताक पर रखकर कागजों पर व्यक्तियों के अधिकार, वन सम्पदा व उपज का भाग नियत कर दिया गया। वन नियम 29 धारा–III के अन्तर्गत आने वाले लोगों को या तो मुआवजा बहुत ही कम मिला या मिला ही नहीं।

कालान्तर में सरकार ने वनों को आग से बचाने के उपाय सुझाए ताकि उन्हें अग्नि–शमन तथा दुर्घटनाओं से बचाया जा सके। पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त, जो सन् 1955 ई0 में भारत के गृहमंत्री बने, ने सन् 1921 में इस विषय में शासन द्वारा लगाए गए प्रतिरोधों पर टिप्पणी भी की। अंग्रेजों की स्वार्थ पूर्ण नीति से पर्वतीय क्षेत्रों की जनता अत्यधिक असंतुष्ट थी। मछलियों और जानवरों के शिकार के लिए लाइसेंस प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया। केवल लाइसेन्सधारी ही भीमताल, सातताल, नौकुचियाताल व मलुवाताल में मछलियों को मार सकते थे। किन्तु

लाइसेंसों की वैधता एवं सार्थकता इन स्वार्थी परिस्थितियों में पूर्णरूपेण असफल हो जाती थी जहां गजेटेड अफसरों, सैन्य अधिकारियों, अंग्रेज सैनिकों, उपाधि प्राप्त गणमान्य लोगों को बिना लाइसेन्स के शिकार की छूट दी गयी थी जो कि नियम विरूद्ध व अनुचित थी। लोगों का सरकार द्वारा बनाए गए विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से नाराज होना स्वभाविक था। दूसरी ओर जब शासन ने बेनाप और बंजर भूमि पर कब्जा करना शुरू कर दिया तो जनता और भी भड़क उठी, क्योंकि उसका मानना था कि शासन का यह कार्य नियम विरूद्ध भूमि हड़पना तथा जनता के वनों पर प्राप्त अधिकारों पर कुठाराघात था। सन् 1907 ई0 में अल्मोड़ा में मेजर जनरल व्हीलर की अध्यक्षता में एक सभा का आयोजन किया गया जो कि असफल रहा। जब लोगों का असन्तोष सीमा को पार कर गया तो उन्होंने विरोध का विघटनात्मक रूख अपना लिया, जिन वनों को जलाने की आवश्यकता थी उन्हें न जलाकर अच्छे वनों को भस्म कर दिया जिसने 8,40,000 हेक्टेयर वन भूमि को प्रभावित किया। सन् 1916 ई0 में केवल नैनीताल में ही 24,300 हेक्टेयर वन जल कर राख हो गए। पांच वर्ष बाद कुमाऊँ डिवीजन में 317 मर्तबा इस प्रकार की आग लगी जिसने 82880 हेक्टेयर से अधिक वन क्षेत्र को प्रभावित किया। इस अग्नि ने 11,50,000 लीसे के स्रोतों तथा 24,37,500 किलोग्राम लीसे को नष्ट कर दिया और 25 वर्ष से बड़े धैर्य व निष्ठा से अनवरत प्रयास से प्राप्त 1,00,000 (एक लाख) पनपते हुए पेड़ों तथा उन्नत वनस्पति को नेस्तनाबूद कर दिया।

सन् 1916 ई0 में वन समस्याओं के निराकरण हेतु कुमाऊँ संघ की स्थापना की गयी जिसके सचिव पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त थे। इस संघ की अन्तिम बैठक सन् 1921 ई0 के दिसम्बर माह में श्री पन्त जी की अध्यक्षता में की गई। श्री पन्त ही वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने कुमाऊँ तथा गढ़वाल के वाशिन्दों को प्राप्त वन के अधिकारों तथा सुविधाओं के विषय में खुलकर अवाज उठाई, मांगों की आख्या (रिपोर्ट) छपवाई जो कि सर्वसाधारण के सामने आ गई। अपनी सुरक्षा की कार्यवाही के लिए सरकार ने जगह–जगह पोस्टर लगाए जिनमें लिखा था 'कुमाऊँ वासियो यह वन तुम्हारे हैं'। 'पायोनियर' तथा 'लीडर' जैसे अखबारों में तथा भारतीय दूर संचार विभाग में तार द्वारा यह सूचना भेजी गयी कि अनपेक्षित अग्नि दहन से वनों में भयावह नुकसान हुआ है वनचर, थलचर, आकाश के पक्षियों की अतुलनीय, कभी न भरने वाली विशालतम हानि हुई है, जिसके लिए कुमाऊँ परिषद् ही पूर्णतः जिम्मेदार है और तत्काल ही परिषद के नेताओं की गिरफ्तारियां प्रारम्भ हो गई। इसके बाद सन् 1921 ई0 में कुमाऊँ तथा गढ़वाल वासियों की शिकायतों तथा वनों के अधिकार एवं सुविधाओं की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए एक समिति गठित की जिसका नाम 'कुमाऊँ ग्रिवैन्सिस कमेटी' अथवा कुमाऊँ शिकायती समिति रखा गया। इसके सदस्यों ने इस सम्बन्ध में समग्र कुमाऊँ का भ्रमण किया तथा विभिन्न वर्गों से ताल्लुक रखने वाले 5040 गवाहों से भी पूछताछ की गईं। इस समिति की

रिपोर्ट सन् 1926 में पेश की गयी जिसे फारेस्ट ग्रिवेन्सेस कमेटीज रिपोर्ट का नाम दिया गया। इस शिकायती समिति की मुख्य शिकायतें निम्नांकित थी–

1. **वन क्षेत्र की सीमाओं का भवनों तथा कृषि जोतों से पृथक चिन्हीकरण करना,**
2. **भूमि कटाव को रोकना तथा प्रतिबन्धित करना**
3. **वन प्राप्तों में पशुओं को चराने पर प्रतिबन्ध।**

पहाड़ी क्षेत्रों में फौरिस्ट गार्ड अथवा पतरौलों को अधिकतर बच्चों और महिलाओं से ही जूझना पड़ता है क्योंकि वे ही लोग कटान करना, पशुओं को चराना, वनों के छोटी–मोटी उत्पादन की सामग्री को लेने का काम करते हैं। इसलिए इनके मध्य जो कहा सुनी होती है वह बहुत महत्व नहीं रखती। जहां तक इस क्षेत्र के झगड़ों का प्रश्न है वे अपराध न्यायालय में ही अधिकतर रहते हैं क्योंकि वहां पर मापी गयी भूमि को रिजर्व कोटे में रख दिया जाता है या कहीं अपेक्षित भूमि काफी न होने पर मुआवजा नहीं दिया जाता। 1922 में पं0 गोविन्द बल्लभ पन्त द्वारा लिखी गई पुस्तक दि फॉरेस्ट प्राबलम्स ऑफ कुमाऊँ में लेखक ने ब्रिटिश वन नीति के विरूद्ध कुमाऊँ निवासियों के असंतोष को पूर्णरूप से लिखा है और इस बात पर विशेष बल दिया है कि जो वन क्षेत्र गांवों की सीमाओं के समीप हैं उनके साधारण उत्पादन पर ग्रामवासियों को उपभोग का अधिकार होना चाहिए साथ ही उन्हें अपनी जोतों तथा जीवन को आग से बचाने के लिए अधिक से अधिक सम्भावित सुविधायें तथा सुरक्षात्मक हथियार मिलने चाहिए और हथियार खरीदने के लिए सरकार द्वारा उन्हें अग्रिम ऋण देने चाहिए। सरकार का नजरिया अब बदलना चाहिए। वनों को मात्र धनोपार्जन का उपाय समझना या केन्द्र बनाना, वनों के महत्व को कलुषित करना है जैसा कि वन विभाग ने किया है। कुमाऊँ ग्रिवेन्सस कमेटी ने वनों को दो वर्गों में बांटा : वर्ग एक के वन–जिलाधीश के पूर्ण नियंत्रण में रहेंगे तथा वर्ग दो के वन वन–विभाग के नियंत्रण में रहेंगे। इस कमेटी ने जो वन ग्रामवासियों के लिए नियत किये उन्हें सन् 1930–31 में कुमाऊँ में वन पंचायतों का गठन कर नियंत्रण का कार्यभार सौंप कर सराहनीय कार्य किया। पंचायतों के निम्नांकित कार्य थे (1) वनों का संरक्षण एवं प्रसार (2) वनों की उत्पादन सामग्री को उचित लोगों के मध्य समान रूप से बांटना (3) खम्भे एवं दीवारें बनाकर विभाजन सूचक बनाना (4) वन पंचायतों के नियमों का सख्ती से पालन (5) समय समय पर वनों की सुरक्षा एवं सुधार के लिए जिलाधिकारी तथा उपजिलाधिकारी द्वारा दी गयी आज्ञाओं का अनुपालन।

ग्रिवेन्सस कमेटी की सिफारिशों पर कुमाऊँ के वनों को वैधानिक रूप से तीन उपखण्डों में बांटा गया। (1) सन् 1911 से सन् 1917 के मध्य भारतीय वन नियम 26 के अन्तर्गत जो जनता के लिए सिविल फारेस्ट रिजर्व वन बनाये गये थे उन्हें कमेटी ने रिजर्व रखने की या नहीं रखने की सिफारिश नहीं की।

उन्हें दो वर्गों में बांटकर, क्लास वन रिजर्वः– डिप्टी कमिश्नर के अन्तर्गत तथा वर्ग दो की जिम्मेदारी व नियंत्रण वन विभाग को दिया गया।

(1) पुराने संरक्षित वन जो 1911 तथा 1917 के बीच स्थापित किए गए थे उन्हें कमेटी द्वारा सिविल वन के रूप में संस्तुति प्राप्त नहीं हुई। (2) पंचायत वन कमेटी की रिपोर्ट के अनुच्छेद 28 के नियमों का परिपालन करेंगे। (3) सिविल फारेस्ट के अन्तर्गत समग्र बेकार भूमि सम्मिलित की गई। सन् 1893 की घोषणा के अनुसार इस प्रकार के वन डिप्टी कमिश्नर के नियंत्रण में रखे गए। शिकायती समिति की सिफारिशों पर भी पर्वतीय क्षेत्र के निवासी सन्तुष्ट नहीं हुए। रिजर्व वनों में अधिकार एवं सुविधाएं मिलने की आवाज पुनः मुखरित हो उठी। निम्नांकित तालिका में 1926 से 1933 तक वन कानून को उल्लंघन करने के मुकदमों की सूची दी गई है। यह सूचना कुमाऊँ सर्किल की वार्षिक रिपोर्ट से प्राप्त हुई है।

वर्ष	**संख्या केसों की (मुकदमा)**	**अपराध**
1926–1927	1919	3661
1927–1928	1992	3786
1928–1929	2545	3482
1929–1930	2675	6019
1930–1931	2511	4500
1931–1932	2534	5514
1932–1933	2629	5968

http://uou.ac.in

वन नीति का विरोध एवं असहयोग आन्दोलन 1930–31

वन नीति के विरोधी स्वरों की अगली कड़ी सन् 1930–31 के असहयोग आन्दोलन से जुड़ सी गयी। 'शक्ति' नामक स्थानीय समाचार–पत्र ने लिखा कि ब्रिटिश वन नीति में सरकार की इच्छा की सत्यता को परखना नामुमकिन है इसका गहन अध्ययन कर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सरकार कृषक के रक्त की अन्तिम बूंद तक पी लेना चाहती है। इसी मध्यावधि में प्रसिद्ध कुमाउँनी कवि गौर्दा (1862–1939) ने सन् 1930 में इससे सन्तप्त होकर कुमाउँनी बोली में एक कविता, जिसका शीर्षक था 'वृक्षन को विलाप' की रचना की, जिसमें कवि का वन नीति के प्रति विरोध साफ मुखर हो उठता है जिसके कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हैः– ''हमें मत काटो, हमारा नीलाम मत करो, हमारी मदद करो हम बोल नहीं सकते, हम जन्म से ही बोल नहीं सकते, हमारी सहायता करो हम चल नहीं सकते, हमारे पांव जमीन पर स्थिर हैं, हमारे सिर आकाश में हैं। हमें मत काटो। हमें नीलाम मत करो। हमारी जड़ों से जल निकलता है जिससे धारायें, तालाब, झीलें जन्म लेती हैं और भरती हैं। तुम्हें क्या बताएं कि तुम किस सीमा तक हमारा दोहन करते हो? हमारी खाल छीलते हो, रस निकालते हो। यदि तुम हमको नष्ट कर दोगे तो तुम कल क्या करोगे? पश्चाताप की अग्नि में अनवरत जलते ही रहोगे। यदि तुम अपने आने वाले कल को सुखमय, स्वर्णिम बनाना चाहते हो तो तुम हमारे आज को सुधारो, संवारो। तुम हमारे मृत्युदूत हो और जन्म से ही हमारे शत्रु हो। हे मानव! हमारी व्यथा को हमारे सन्तप्त विलाप को सुनो, हमें मत काटो, मत काटो, हमारी नीलामी मत करो, मत करो''।

आलम नहीं बदला। शिवालिक पहाड़ियों में विरोध की अभिव्यक्ति के रूप में वनों में पुनः आग लगाई गयी। सन् 1930 में पूरे वर्ष गांव वालों ने वन कर्मचारियों के साथ मारपीट की तथा जानलेवा धमकियां भी दी। सन् 1931 में कुमाऊँ के सुरक्षित वनों (रिजर्व जंगलों) में 157 मर्तबा आग लगाई गई और कुमाऊँ अपने ही वनों के आग की लपटों में झोंक देने वाला विघटनकारी केन्द्र बन गया।

कुमाऊँ के सुरक्षित वनों में ग्रामवासियों के अधिकारों पर जाँच पड़ताल

ग्रिवेन्सेस कमेटी की सिफारिशों से जनता असंतुष्ट ही थी। सन् 1938 में उनके वन अधिकारों तथा सुविधाओं की मांग पुनः उठी। इसलिए सरकार ने इस सम्बन्ध में समिति को पुनर्विचार का आदेश दिया। इस कार्य के लिए 'ग्रिवेन्सेस कमेटी' को तीन जिला समितियों में बांटा गया– गढ़वाल, अल्मोड़ा, नैनीताल। इन तीनों जिलों की रिर्पोट को विज्ञापित किया गया (एन इनवैस्टिगेषन इन टू द विलिजर्स राइट्स इन द रिजर्वड फैरिस्ट्स औफ कुमाऊँ के रूप में) जिसमें पशुओं के चरने पर थोड़ी सी ढील दी गयी। कुछ अन्य सिफारिशें अन्य मुद्दों से भी जुड़ी

हुई थी। (1) संचार व्यवस्था में सुधार (2) गांवों की सीमाओं का पुनः निरीक्षण (3) दलितों की उचित व न्यायपूर्ण व्यवस्था (4) गढ़वाल में रिजिन उद्योग का विस्तार व प्रसार (5) हथियारों के लाइसेन्स आवश्यक (6) वनों की देखरेख करने वाले व्यक्ति की नियुक्ति (7) साही तथा सुअरों को पकड़ने के लिए जाल प्रस्तावित करना।

उक्त आज्ञाओं की घोषणा एवं विज्ञापित करने के बाद भी सन् 1947 तक वन नीति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। एक ऐसी खाई, प्रबन्ध तथा लोगों के मध्य खिच गई जिसमें एक दूसरे के प्रति शक तथा प्रतिशोधों का अम्बार–सा लग गया जो सन् 1947 में आजादी मिलने के बाद भी समाप्त नहीं हुआ। स्थानीय लोगों को पूर्व काल से ही वनों में कुछ अधिकार एवं सुविधायें प्राप्त थीं। उदाहरणस्वरूप, किसी भी गांव की सीमा से लगे वृक्ष उन गांववासियों के अधिकृत माने जाते थे, किन्तु ब्रिटिश सरकार तथा प्रादेशिक अधिकारियों ने वृक्षों को काटने पर रोक लगाई तो स्थानीय जनता ने इसके विरोध में हिंसात्मक रूख अपना लिया। इस समय यह सर्वथा उचित होता कि जनता को वन प्रबन्धन, वनों को संरक्षित रखने के लिए उनका मूल्य एवं महत्व भली प्रकार समझाया जाता। यदि जनता को इस विषय का ज्ञान नहीं था तो उन्हें वनों के बारे में शिक्षा देकर उन्हें स्वयं का नुकसान करने वाली स्थिति से बचाया जाता। किन्तु अफसोस–प्रबन्धन की ओर से कोई रचनात्मक और ठोस कदम नहीं उठाया गया जिसका फायदा मात्र नेताओं को हुआ क्योंकि उन्हें अपनी राजनीति चलाने के लिए भोली–भाली जनता की भीड़ मिल गई। सन् 1912 में पर्वतीय क्षेत्र में कांग्रेस की एक शाखा खोली गई किन्तु प्रारम्भिक काल में इसके पास दिशा निर्देशन का एक भी मुद्दा ऐसा नहीं था जिससे जनता को जागृत किया जा सके या सरकार के विरूद्ध उन्हें वास्तविकता से रूबरू किया जा सके। गढ़वाल एवं कुमाऊँ पर अधिकार होने से ब्रिटिश सरकार को इसकी महत्पूर्ण भौगोलिक स्थिति का आभास हो गया और इसलिए उन्होंने इस स्थान को अपने शासन की व्यूह रचना का केन्द्र बनाया, जहां साधारण जनता ब्रिटिश शासन की कुनीतियों और बेखबर शासन से संतुष्ट थी। किन्तु सरकार ने कुली बेगार तथा वन नीति को लेकर दूरदर्षिता से कार्य नहीं किया जिसके फलस्वरूप वनों के केन्द्रित प्रबन्धन से जनता में आक्रोष उत्पन्न हुवा जो आज तक व्याप्त है।

वन के अधिकारों पर दृष्टि करने से पूर्व इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को जानना नितान्त आवश्यक है क्योंकि वन विभाग अंग्रेजों के शासनकाल से इस असहज स्थिति से जूझ रहा है। साथ ही वन विभाग के कार्य तथा असफलताओं का परीक्षण करना भी अतीव आवश्यक है, ताकि वनों की देखरेख करने वाले तथा योजनाओं के रचयितागण अनापेक्षित संकटों से निपट सकें। इस क्षेत्र में सरकारी प्रतिबन्धों से गुंथी हुई योजनाओं में परिवर्तन भी आवश्यक है। यह एक शाश्वत् सत्य

है कि पर्वतीय क्षेत्र के निवासी अपनी आवश्यकतानुसार पेड़ों को लेना चाहते हैं किन्तु इसके साथ ही वे इनका प्रसार भी चाहते हैं। खेद का विषय है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी वन नीति में परिवर्तन नहीं आया।

वनरक्षकों तथा योजनाकर्ताओं ने अपनी कार्यशैली का आधार स्तम्भ ब्रिटिश तर्ज पर ही बनाया। विभाग ने स्थानीय लोगों की अवहेलना की फलतः समय–समय पर विरोध होना स्वाभाविक था। स्थानीय लोगों के लिए प्रतिकूल नीति बनने के कारण सन् 1973 में गढ़वाल में 'चिपको आन्दोलन' का शुभारम्भ हुआ जिसने डंके की चोट पर साबित कर दिया कि स्थानीय अर्थव्यवस्था की सुरक्षा हेतु स्थानीय मांग को ठुकराना श्रेयस्कर नहीं है। यह विडम्बना ही है कि जिस स्थान ने चिपको आन्दोलन की रूपरेखा बनाकर भारत ही नहीं वरन् समग्र विश्व को दी, वहीं पर पेड़ काटो आन्दोलन की भी शुरूआत सी हुई। यदि इसकी पूर्ण मीमांसा की जाये तो कष्ट होता है कि यह किसी भी रूप में आन्दोलन नहीं था वरन् जनता का असंतोष और आक्रोश फूट पड़ा था क्योंकि हिमालयी क्षेत्र में 1000 मीटर के ऊपर तक पेड़ कटान प्रतिबन्धित है। 'चिपको आन्दोलन' तथा 'पेड़ काटो आन्दोलन' में एक धारणा समान थी कि दोनों ही स्थानीय अभ्यारण्य के स्रोतों का अधिकार चाहती थी। जहां सरकार वनों की प्रगति और प्रसार के लिए वन सुरक्षा कानून की रचना कर रही थी वहीं विरोध करने वालों ने एक सौ ग्यारह स्थानों पर वृक्षों को काटा। 'चिपको आन्दोलन' विभिन्न रूपों में परिमार्जित हुआ यथा गरीब वर्ग द्वारा वनों की सुरक्षा, प्राकृतिक साधनों का संरक्षण, ग्रामीण महिलाओं द्वारा अपने चारों ओर के वन क्षेत्रों का बचाव, आदि। यद्यपि 'चिपको आन्दोलन' से पूरी दुनिया अभिभूत हो गयी किन्तु इसके स्थानीय मुद्दे, अपनी भूमि क्षेत्र और वृक्ष बचाओं की आवाज विद्वानों तथा पर्यावरणविदों तक ही सीमित रह गई है। सामान्य वर्ग जंगलों को प्रदेश की जीविका साधन, आय का साधन ही समझता है उनकी दृष्टि में पेड़ आग जलाने के जलौनी लकड़ी के रूप में तथा चारा देने के काम ही आते हैं। अब सरकार का यह अहम कर्त्तव्य बनता है कि सम्पूर्ण हिमालय के वन प्रदेश की अमूल्य वनस्पति, अनुपम प्राकृतिक निधि, सरिताओं को जल निधि के रूप में जीवनदान देने वाले उत्तुंग शिखर, जिन्हें ''एशिया के वाटर टॉवर'' कहा जाता है, उसे सर्वांगीण रूप से समझ कर नीति बनाये। वन विभाग तथा जनता के मध्य व्याप्त पारस्परिक अविश्वास व वैमनस्य को दूर करना चाहिए। दुर्भाग्यवश हमारी सामाजिक वानिकी सम्बन्धों को बनाने में कमजोर रही है। वन विभग को जनता को महत्व देते हुए तथा उनकी भागीदारी को सुनिष्चित करके वन नीति बनानी चाहिए। वनों को अधिक उर्वरक तथा वनों के प्रबन्धन को जनता से, जनता द्वारा तथा जनता के लिए किया जाना चाहिए, साथ ही वनों के संरक्षण को अब जन आन्दोलन का स्वरूप धारण कर लेना चाहिए।

परिशिष्ट–2

–डा0 सुभाश भट्ट

कुली बेगार

बेगार प्रथा कुमाऊँ कमिष्नरी में लगभग 105 वर्ष (1815 ई0 से 1921 ई0) तक जीवित रही। परन्तु इसका प्रतिरोध भी प्रारम्भ से ही होता रहा। बेगार विरोधी आन्दोलन के दो दौर दृष्टिगोचर होते है। पहला दौर प्रारम्भ से 1912 ई0 तक का है। इसमें हम प्रायः इस प्रथा के विरोध में जनमानस को आक्रोषित पाते है और यत्र तत्र छुटपुट विरोध के स्वर भी उभरते हुए दिखाई देते है। यह दौर अपेक्षाकृत लम्बा, जागृति की धीमी प्रक्रिया से जुड़ा और स्थानीय आक्रोषों की अभिव्यक्तियों से परिपूर्ण है। सन् 1913 ई0 के बाद के दूसरे दौर में बेगार के विरूद्व जनआन्दोलन उभरते दिखाई देते है। विरोध के स्वर अधिक सक्रिय हो जाते है और अन्ततः 1921 ई0 में एकमत से संगठित जनता इस कुप्रथा का अंत कर देती है।

आन्दोलन का प्रारम्भिक दौर उन्नीसवीं शताब्दी में

उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास में बेगार सम्बन्धी विभिन्न घटनाक्रमों का नाम मात्र उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे 1827 ई0 में काली कुमाऊँ के जमींदार ने सैनिक बैरको के निर्माण हेतु पत्थर (स्लेट्स) उपलब्ध कराने से इंकार किया। 1830 ई0 में लोहाघाट में मांग के अनुरूप कुली नहीं आए। सन् 1830–38 ई0 में अल्मोड़ा तथा लोहाघाट में सैनिक दलों को रसद (बर्दायष) दिलाने में बहुत कठिनाई हुई। 1841 ई0 में लोहाघाट में कम मजदूरी दिए जाने पर कुलियों ने उसे लेने और काम करने से इन्कार किया। सैनिको के लिए अनाज मांगे जाने पर लोहाघाट के काष्तकारों ने इसका विरोध किया आदि। परन्तु कुमाऊँ कमिषनर रामजे के काल में (1856–1889 ई0) में एक आसाधरण घटना घटी।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक बेगार सम्बन्धी प्रष्न काउंसिलों में उठने लगे। 1893 ई0 का वर्ष इस सन्दर्भ में विषेष उल्लेखनीय है। इस वर्ष प्रान्तीय काउंसिल में बर्दायष रसद सम्बन्धी प्रष्न पूछा गया। गवर्नर जनरल को काउंसिल में बेगार–बर्दायष सम्बन्धी प्रष्न पूछे गये और इसी वर्ष भारतीय राष्ट्रीय काग्रेंस के अधिवेषन में बेगार के विरोध में प्रस्ताव पारित किया गया। उसके पष्चात प्रान्तीय कांउसिल में 1894 ई0 में बेगार की और 1897 ई0 में बेगार की स्थिति से सम्बन्धित प्रष्न पूछे गए।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ और नव चेतना का जन्म

सन् 1903 ई0 बेगार आंदोलन से जुड़ी एक महत्वपूर्ण घटना घटी। अल्मोड़ा षहर से जुड़े खत्याड़ी गांव के सोलह ग्रामीणों ने सामूहिक रूप से बेगार में जाने से इन्कार कर दिया। उन पर मुकदमा चलाया गया और सोलह में से चौदह को प्रति व्यक्ति दो रूपये जुर्माना अथवा सामान्य कैद की सजा दी गई। इस निर्णय के विरूद्व इलाहाबाद उच्च न्यायालय में याचिका दायर की गई। न्यायालय ने सभी के आरोपों को रद्द कर उन्हें मुक्त कर दिया। यद्यपि यह घटना महत्वपूर्ण थी, तथापि इसकी जानकारी थोड़े से पढ़े लिखे वर्ग तक ही सीमित रह गई।

इसी काल खण्ड में विरोध के स्वर कुछ मुखरित होने लगे। 1903 ई0 में भारत का वायसराय लार्ड कर्जन अल्मोड़ा से गढवाल गए थे तो उन्हें कुली बेगार व जंगलात की समस्याओं के सम्बन्ध में एक प्रार्थनापत्र दिया गया था। सन् 1907 ई0 में अल्मोड़ा में बेगार विरोधी सभा आयोजित की गई। श्रीनगर गढ़वाल के निवासियों ने भी डिप्टी कमिष्नर को इस सम्बन्ध में एक प्रार्थना पत्र दिया। इस षिष्टमण्डल में जिसमें गिरिजादत्त नैथाणी भी थे, स्थायी कुलियों की व्यवस्था करने की मांग की और 'बेगार बर्दायष भाईयों की अपील' नाम से एक विज्ञप्ति प्रकाषित कर गॉव–गॉव भेजी। सन् 1907 मे ही सरकार ने घोषित किया कि भविष्य में बेगार और बर्दायष का मूल्य दिया जाएगा। परन्तु यह घोषणा कार्यान्वित नही की गयी। डिप्टी कमिष्नर के आदेष के बावजूद अधिकारी व कर्मचारी जोर जबरदस्ती बेगार बर्दायष लेते रहे।

कुली ऐसेन्सी की स्थापना 1908 ई0

पौड़ी के तहसीलदार जोध सिंह नेगी ने ग्रामीणों के कष्टों को देखकर अधिकारियों के दौरे के अवसर पर कुली–बेगार न लेने का निष्चय किया। उन्होने डिप्टी कमिष्नर के दौरे के अवसर पर अपनी अस्वालस्यूँ पट्टी के निवासियों से प्रति घर से एक रूपया लेकर अदवाणी मे कुलियों का प्रबन्ध कर दिया। अदवाणी में जब ये परीक्षण सफल हो गया तो इसे पूरे जिले में लागू कर दिया गया। कुली कर की राषि से कुछ कुली स्थायी रूप से निष्चित मासिक वेतन पर पड़ावों में रखे गए। ग्रामीणों के स्थान पर ये कुली सरकारी और गैरसरकारी बोझा ढोने लगे। सड़कों वाले प्रमुख स्थानों जैसे दोगड्डा, लैसडाउन, पौड़ी आदि में कुली ऐजेन्सी में कुछ खच्चर भी रखे गए। इस कुली एजेन्सी को 'ट्रांसपोर्ट एण्ड सप्लाई को–आपरेटिव एसोसिएषन' का नाम दिया गया।

1913 ई0 तक गढ़वाल में दस कुली ऐजेंसियां स्थापित हो गयी थी। जिनकी व्यवस्था कि लिए प्रत्येक परिवार से एक रूपया बारह आने से दो रूपये आठ आना तक लिया जाता था। इस धनराशि का उपयोग बेगार और बर्दायष की व्यवस्था के लिए किया जाता था। इस प्रकार एकत्रित धनराषि की बचत भी हो जाती थी। इन कुली ऐजेन्सियों के संचालन के लिए एक समिति का गठन किया गया, जिसका नेतृत्व रायबहादुर तारादत्त गैरोला को सौपा गया।

गढ़वाल के अनुकरण पर कुमाऊँ के कुछ भागों नैनीताल, अल्मोड़ा, भीमताल, खैरना आदि स्थानों में भी कुली ऐजेन्सी की स्थापना की गई। दो रूपया साल का कुली कर लेकर स्थाई कुली सबके बदले कार्य करने लगे। परन्तु इस व्यवस्था को किसी प्रकार का समाधन न मानकर बेगार का ही एक परिवर्तित रूप माना गया। समाज के जागरूक वर्ग का मानना था कि बेगार प्रथा को समाप्त किया जाना ही इस कुप्रथा का समाधान हैं।

दिसम्बर 1920 में काषीपुर में हरगोविन्द पन्त की अध्यक्षता में कुमाऊँ परिषद का चौथा अधिवेषन हुआ। महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन का इस सभा पर प्रभाव स्पष्ट था। इस अधिवेषन में ब्रिटिष सरकार से असहयोग का प्रस्ताव तो पास हुआ ही प्रतिनिधियों ने खडे होकर यह प्रतिज्ञा की कि वे भविष्य में कुली उतार नही देंगे। इस सभा में ही यह महत्वपूर्ण निर्णय भी लिया गया कि अगले वर्ष उत्तरायणी के अवसर पर बागेष्वर में कुमायू कमिष्नरी की बहुसंख्यक जनता एकत्रित होगी तब बेगार के विरूद्ध प्रचार करने और कोई भी निर्णय लेने में सुविधा होगी। 'शक्ति' समाचार पत्र के माध्यम से भी अधिकतम जनता से बागेष्वर आने की अपील की गईं। कुमाऊँ परिषद में जितने भी अधिवेशन हुए उसमें जंगलात तथा कुली बेगार की समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया गया और अन्ततः बागेश्वर में सन् 1921 में उत्तरायणी के मेले में इस कुप्रथा का अंत कर दिया गया।

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in
पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

यहां पर अध्याय से सम्बन्धित अभी तक अप्रकाशित चित्र हैं।

http://uou.ac.in

नोटः चित्र सहित पुस्तक के क्रय हेतु सम्पर्क करें –

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी
फोन नं0 05946–261122, 261123
web: http://uou.ac.in
email: info@uou.ac.in

पुस्तक का मूल्य ₹ 350/– मात्र (विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

विशिष्ट संदर्भिका

अविभाजित गढवाल के अल्पज्ञात प्राथमिक स्रोत

1. देवप्रयाग के क्षेत्रपाल मन्दिर के प्रस्तर द्वार में राजा सहजपाल का सन् 1548 ईस्वी का अभिलेख।

2. देवप्रयाग में रघुनाथ जी मन्दिर की एक घण्टी में राजा सहज पाल का सन् 1561 ईस्वी का अभिलेख। घण्टी राजा सहजपाल द्वारा मन्दिर को अर्पित की गयी मानी जाती है।

3. देवप्रयाग के क्षेत्रपाल मन्दिर के द्वार पर राजा मान शाह का सन् 1608 ईस्वी का अभिलेख।

4. देवप्रयाग के रघुनाथ जी मन्दिर के द्वार पर राजा मान शाह का सन् 1610 ईस्वी का अभिलेख।

5. महारानी कर्णवती द्वारा अपने पुत्र महाराजा पृथ्वीपत शाह की ओर से जारी सन् 1640 ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख।

6. श्रीनगर के समीप भक्तियाना गाँव में स्थित लक्ष्मी नारायण मन्दिर में माधो दास के मठ में महाराजा पृथ्वीपत शाह का सन् 1642 ईस्वी का अभिलेख। यह अभिलेख मुख्य मन्दिर की दीवार के बाहरी भाग में है।

7. औरंगजेब का सन् 1662 ईस्वी का गढ़वाल के राजा को प्रेषित फ़रमान।

8. देवप्रयाग में रघुनाथ जी मन्दिर के दक्षिणी द्वार पर महाराजा पृथ्वी पत शाह का सन् 1664 ईस्वी का अभिलेख।

9. देवप्रयाग में रघुनाथ जी मन्दिर की पष्चिमी द्वारषाला में सन् 1664 ईस्वी का अभिलेख।

10. औरंगजेब का सन् 1665 ईस्वी का गढ़वाल के राजा को प्रेषित फ़रमान।

11. महाराजा पृथ्वी पत शाह की मुद्रा अंकित महाराजा फ़तेह शाह का सन् 1667 ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख।

12. राजा फ़तेह शाह का सन् 1700 ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख।

13. राजा फ़तेह शाह का सन् 1706 ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख।

14. राजा फ़तेह शाह का सन् 1716 ईस्वी का ताम्रपत्रा अभिलेख।

15. राजा प्रदीप शाह का सन् 1716 ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख।

http://ouu.ac.in

16. राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में संरक्षित राजा प्रदीप शाह के दो सिक्के।

17. राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में संरक्षित राजा प्रद्युम्न शाह के शाह के शासन काल के दो सिक्के।

18. राजा प्रद्युम्न शाह का सन् 1788 ईस्वी का ताम्रपत्र अभिलेख।

19. उत्तरकाषी के परषुराम मन्दिर की दीवार में जड़े एक प्रस्तर अभिलेख में प्रदीप शाह से सुदर्षन शाह तक के राजाओं के नाम मिलते हैं।

20. उत्तरकाषी के विष्वनाथ मन्दिर के अभिलेख में प्रदीप शाह से लेकर सुदर्षन षाह तक राजाओं की सूची दी गई है।

21. कत्यूरी काल के ताम्र पत्र।

22. कुलिन्द कालीन सिक्के।

23. राजा कल्याण चंद, रुद्र चंद, लक्ष्मी चंद, उद्योत चंद तथा जगत चंद के ताम्र पत्र।

मूल पाण्डुलिपियां

1. राजा अजय पाल के शासन काल का सांवरी ग्रन्थ। यह एक तन्त्रषास्त्र सम्बन्धी पाण्डुलिपि है।

2. महारानी कर्णवती के बालक नाथ का सांवरी ग्रन्थ। यह भी एक तन्त्र शास्त्र सम्बन्धी पाण्डुलिपि है।

3. जटाधर का फ़तेह शाह गर्ण ग्रन्थ।

4. रतन कवि की वृत कौमुदी।

5. राजा सुदर्षन शाह का सभासार।

6. मोला राम का गढ़ राज्य वंष काव्य।

7. गोरखा सिक्के

8. गोरखा सूबेदार नर भजन शाह का भूमि बन्दोबस्त

9. चौतरिया बड़ा बम शाह का पट्टाभिलेख

10. कृपासिंधु थापा का पट्टाभिलेख

http://uou.ac.in

राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली

1. विदेषी विभाग, राजनैतिक, बॉक्स न0 57, सनद, दिनांक 10 दिसम्बर, 1824।
2. विदेष विभाग, फाइल नम्बर 86, राजनैतिक कार्यवाहियाँ, 16–30 अगस्त 1833।
3. विदेष विभाग, राजनैतिक कार्यवाहियां, 19–27 सितम्बर 1833, पत्र संख्या 7 तथा 8।
4. विदेष विभाग, राजनैतिक 1848, फाइल संख्या 62, पत्र संख्या 611।
5. विदेष विभाग, राजनैतिक 1848, फाइल संख्या 63, पत्र संख्या 612।
6. गृह विभाग, राजनैतिक, फाइल संख्या 393/30।
7. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख, फाइल संख्या 220/1905।
8. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख, फाइल संख्या 42/1907।
9. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख, फाइल संख्या 281/1913।
10. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख (टेहरी राज्य हेतु राजनैतिक अभिकर्ता) फाइल नम्बर जी–30–8/टेहरी।
11. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख, फाइल नम्बर 55/1923।
12. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख, 1922–23 के वार्षिक प्रषासन सम्बन्धी गोपनीय टिप्पणी की प्रतिलिपि, पत्र दिनांकित 15 जुलाई/1923/टेहरी।
13. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख, कुमाऊँ कमिष्नर के पाक्षिक अर्द्ध शासकीय पत्रों के उद्धरण पत्र दिनांक 1 दिसम्बर 1923।
14. गृह विभाग, 1930, राजनैतिक, फाइल संख्या 174।
15. गृह विभाग 1930, राजनैतिक, फाइल संख्या 174, पत्र संख्या 57915/28/जी
16. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख, फाइल संख्या 247/1930
17. टेहरी गढ़वाल राजकीय अभिलेख (टेहरी हेतु राजनैतिक अभिकर्ता), पत्र संख्या 6/125–एन. ए.

http://uou.ac.in

18. जी0बी0 पन्त फाइल नम्बर 4/2, पत्र दिनांक 11 जुलाई/1934।

19. जी0बी0 पन्त फाइल नम्बर 4/3, मद संख्या 22, पत्र दिनांक 17 जुलाई/1945।

20. होम डिपार्टमैन्ट, पब्लिक, सितम्बर 16, 1802, फाइल संख्या 8

21. होम डिपार्टमैन्ट, पब्लिक, सितम्बर 16, 1802 फाइल संख्या 9

22. बैकिट, जे.ओ.बी.– रिपोर्ट औन द सैटिलमैन्ट ऑफ कुमाँऊ डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद 1874

23. पौ,ई.के.– रिपोर्ट औन द टैन्थ सैटिलमैन्ट ऑफ गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद 1896

केन्द्रीय सचिवालय पुस्तकालय, नई दिल्ली

1. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1935–36, नरेन्द्रनगर, 1937

2. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1936–37, नरेन्द्रनगर, 1939

3. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1939–40, नरेन्द्रनगर, 1939.

4. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑप टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1939–40, नरेन्द्रनगर, 1940

5. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1940–41, नरेन्द्रनगर, 1941

6. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1941–42, नरेन्द्रनगर, 1942

7. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1943–44, नरेन्द्रनगर, 1944

8. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1944–45, नरेन्द्रनगर, 1945

9. दि एनुअॅल एडमिनिस्ट्रेषन रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1945–46, नरेन्द्रनगर, 1946

http://uou.ac.in

राजकीय अभिलेखागार, यू0पी0, लखनऊ

प्री–म्यूटिनी रिकार्ड्स–मिसिलेनियस लेटर्स रिसीव्ड

1. 1814–1856 वाल्यूम एक से एक सौ आठ
2. फौरन डिपार्टमैन्ट – एक्सटर्नल बी. अगस्त 1903ः नम्बर 3
3. फौरन डिपार्टमैन्ट सीक्रिट ई; जुलाई 1906 : नम्बर 104–133
4. पौलीटिकल डिपार्टमैन्ट फाइल नं. 324/1906
5. पौलीटिकल डिपार्टमैन्ट फाइल नं. 265/1915
6. पुलिस डिपार्टमैन्ट फाइल नं0 115/1921
7. पी.डब्ल्यू डी. बी ऐंड आर ब्रांच फाइल 15सी/1938
8. पी.डब्ल्यू.डी. फाइल 19 सी/1939
9. वर्नाक्यूलर प्रेस रिपोर्ट 1876 से 1912
10. सैटिलमैन्ट लैटर्स इष्यूड, वाल्यूम I, 1837–39, लेटर नम्बर 8
11. सैटिलमैन्ट लैटर्स इष्यूड, वाल्यूम II, 1839–42, लेटर नम्बर 56
12. रिपोर्ट ऑन दि एडमिनिस्ट्रेषन ऑफ नार्थ–वेस्ट प्रोविंसेज, फॉर दि ईयर 1875–76, इलाहाबाद, 1878.
13. पउ, ई0के0, रिपोर्ट ऑन दि टेन्थ सैटिलमैन्ट ऑफ दि गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट, इलाहाबाद, 1896.
14. बर्ह, आर0, सेंसस ऑफ इण्डिया, 1901, वॉल्यू0 XVI पार्ट I, नार्थ वेस्ट प्रॉविंस एण्ड अवध, इलाहाबाद 1902.
15. रिपोर्ट ऑफ दि वर्किंग ऑफ दि गढ़वाल सेण्ट्रल स्कैर्सिटि कमेटी, फ्रॉम ऐप्रिल 30, 1918 टू फैब्रुअरी 28,1920, देहरादून 1920.
16. ब्रह्मवर, आर0एन0, वर्किंग प्लान फॉर दि गढ़वाल फॉरेस्ट डिविजन, 1930–31 टू 1939–40, इलाहाबाद, 1932.

http://uou.ac.in

ठाकुर शूरबीर सिंह, पुराना दरबार, टेहरी का वंशीय संग्रहण

1. एनुअल एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1907–1908 डेटेड मई 26, 1908, टेहरी
2. एनुअल एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1909–10 डेटेड मई 26, 1910 टेहरी
3. सर कीर्ति षाह का संक्षिप्त जीवन चरित, देहरादून, 1913
4. दि टेहरी गढ़वाल स्टेट नेचुरलाइजेषन एक्ट नम्ब0 1, ऑफ संवत् 1992, स्टेट प्रेस, नरेन्द्रनगर।
5. टेहरी गढ़वाल राज्य का कुष्ठ विधान बिल, संवत् 1996, देहरा टाइम्स प्रेस, देहरादून।
6. एनुअल एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट ऑफ टेहरी गढ़वाल स्टेट फॉर दि ईयर 1918–19 डेटेड मई 26, 1919, टेहरी
7. नरेन्द्र हिन्दू लॉ, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1919.
8. डोवाल, राम प्रसाद, रेवन्यू सेटलमेंण्ट रिपोर्ट, टेहरी गढ़वाल स्टेट, बाबत, 1924
9. नियम प्रभु सेवा व कुली उतार, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1930.
10. प्रान्त पंचायत विधान, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1930.
11. नियम वसूली बरा, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1930.
12. टेहरी गढ़वाल राज्य, नगर तथा पुर पंचायत विधान, टेहरी गढ़वाल स्टेट 1932.
13. टेहरी गढ़वाल राज्य का दण्ड संग्रह, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1937.
14. टेहरी गढ़वाल राज्य प्रान्त पंचायत मैनुअल, देहरादून, 1938.
15. नियम बाबत मारने मछली व षिकार, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1940.
16. टेहरी गढ़वाल राज्य के भूमि संबंधी अधिकार, नियम तथा विधान, देहरादून, 1941
17. परगना प्रताप नगर, जिला टेहरी गढ़वाल की एसेसमेण्ट रिपोर्ट, लखनऊ, 1965.

http://uou.ac.in

18. लेटर नम्ब0 560/C, डेटेड 23 मई, 1927 एण्ड एण्डार्समेण्ट नम्ब0 1839/50/26–27 डेटेड 13 जून 1927, फ्रॉम टेहरी गढ़वाल स्टेट टू धार स्टेट।

19. रिपोर्ट ऑफ दि हिस्ट्री ऑफीसर ऑफ धार स्टेट कन्टेण्ड इन लेटर नम्बर 17, डेटेड 22 जुलाई 1927 एण्ड डी0ओ0 नम्बर 1004, डेटेड 10 दिसम्बर 1927 फ्रॉम धार दरबार टू टेहरी गढ़वाल स्टेट।

वन विभाग टेहरी

1. रतूड़ी, पद्मा दत्त, वर्किंग प्लान फॉर दि उत्तरकाषी फॉरेस्ट डिविजन, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1938.

2. खोसला, प्रेम नाथ, वर्किंग प्लान फॉर दि टेहरी फॉरेस्ट डिविजन, 1939–40 टू 1969–70, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1941

3. सकलानी, इन्द्र दत्त, टेहरी गढ़वाल राज्य फॉरेस्ट मैनुअल, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1940.

4. पन्त, के0पी0, वर्किंग प्लान फॉर दि टन्स फॉरेस्ट डिविजन, 1945–46 टू 1964–65, टेहरी गढ़वाल स्टेट, 1948.

प्रादेशिक अभिलेखागार नैनीताल

1. हटन, सी.एच.– रिपोर्ट औन द तराई कनैल्ज, गवरमैन्ट एस्टेट्स, 18 दिसम्बर 1897

2. बौक्स संख्या 78, फाइल संख्या 15, डिपार्टमैन्ट संख्या IV रिपोर्ट औफ तराई डिसट्रिक्ट

3. लैटर औफ सी.एस. हटन, एक्सीक्यूटिव इन्जीनियर, तराई एण्ड भाभर कनैल्ज, 18 दिसम्बर 1897

4. डिपार्टमैन्ट XI गवरमैन्ट प्रौपर्टीज लैटर डेविड 26 अगस्त 1904

5. लैटर डेविड अप्रैल 24, 1906 फ्रौम मुमताज अली खान, औफिषिएटिंग सुपरिनटैन्डट, तराई एण्ड भाभर टू डिप्टी कमिष्नर नैनीताल

6. लैटर ऑफ जे. डब्यू. हौस टू चीफ सैकिट्री एस.पी.ओ. डौनेल, यूनाइटेड प्रौविन्सिज, 10 मार्च 1909.

http://uou.ac.in

7. बौक्स संख्या 87, फाइल संख्या 39

8. रैविन्यू डिपार्टमैन्ट, सीरियल संख्या 2, फाइल संख्या 762/1910

9. डिपार्टमैन्ट XI, फाइल संख्या 29, बौक्स संख्या 103

10. डिपार्टमैन्ट संख्या 1, फाइल संख्या 4, पत्र संख्या 2971, लैटर डेविड 15 मई 1912

11. रैविन्यू डिपार्टमैन्ट, सीरियल संख्या 1, फाइल संख्या 369/1913

12. फाइल संख्या 2, वौल्यूम संख्या 125

13. रिपोर्ट औन द तराई एण्ड भाभर डिवैलपमैन्ट कमिटि मार्च 1947, नैनीताल

समाचार–पत्र

14. गढ़वाली– जनवरी 1907, जनवरी 1912, जनवरी 1913, नवम्बर 1913

15. अल्मोड़ा अखबार – 4 अगस्त 1913, 11 अगस्त 1913, 20 अक्टूबर 1913

16. क्षत्रिय बीर – 15 जुलाई 1925

17. कर्मभूमि – 31 नवम्बर 1939, विषेषांक, 26 जनवरी 1966

18. शक्ति साप्ताहिक – 16 जनवरी 1921, 23 मार्च 1940, 25 मई 1957.

जर्नल्स

1. एषियाटिक रिसर्चेज, वाल्यूम VI, फर्स्ट पब्लिड 1809, रिप्रिन्ट, न्यू देहली, 1979.

2. एषियाटिक सर्चेज, वाल्यूम XVI, फर्स्ट पब्लिड 1928, रिप्रिन्ट, न्यू देहली, 1980.

3. जर्नल ऑफ एषियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, वॉल्यू0 XIII, 1842

4. थरण्डट्र फसॅरूर्टलिचेन ज़र्हबख, 1931, वॉल्यू0 82, नम्बर 8

5. इण्डियन फॉरेस्टर, दिसम्बर 1942, देहरादून

http://uou.ac.in

गज़ेटियर्स

1. एटकिंसन, ई0टी0, दि हिमालयन गज़ेटियर (इन थ्री वॉल्यूम्स) इलाहाबाद, 1866.
2. वॉल्टन, एच0जी0, ब्रिटिष गढ़वाल, ए गज़ेटियर, इलाहाबाद, 1921
3. श्रीवास्तव, माधुरी (राजकीय सम्पा0) : गज़ेटियर ऑफ इण्डिया, उत्तर प्रदेष, टेहरी गढ़वाल, लखनऊ, 1971.

पुस्तकें

1. अवस्थी, ए0बी0एल0, स्टडीज इन स्कन्ध पुराण, लखनऊ 1965
2. अमर सन्देष तथा बाबा बालकनाथ जी की जीवनी, मन्दिर घोट सिद्ध, हमीरपुर.
3. इलिएट एण्ड डॉउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स (मुन्तखब–उल–लुबाब), वॉल्यू0 VII, इलाहाबाद।
4. इवट्ट, कैप्टन जे0, हैण्डबुक ऑफ गढ़वालीज़, कलकत्ता, 1924.
5. इण्डियन एण्ड दि वॉर, इलस्ट्रेटेड (1914–18), कम्पाइल्ड एण्ड पब्लिष्ड बाई दि इम्पीरियल पब्लिषिंग कम्पनी, खोसला ब्रदर्स, लाहौर, जनवरी 2, 1924.
6. एटचिसन, सी0यू0, ए कलैक्षन ऑफ ट्रीटीज़, इंगेजमेण्ट्स एण्ड सनद्स रिलेटिंग टू इण्डिया एण्ड दि नेबरिंग कण्ट्रीज़, वॉल्यू0 II, कलकत्ता, 1963
7. कनिंघम, ए0, एंषियण्ट जियोग्रॉफी ऑफ इण्डिया, फर्स्ट पब्लिष्ड 1870, रिप्रिन्ट बनारस 1979.
8. कठोच, डा. यषवन्त सिंह– उत्तराखण्ड का नवीन इतिहास, देहरादून– 2006 कुमार स्वामी, आनन्द के0, कैटलॉग ऑफ दि इण्डियन कलैक्षॅन इन दि म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स, बोस्टन (पार्ट V– राजपूत पेण्टिंग्स, पार्ट VI मुगल पेण्टिंग्स) फर्स्ट पब्लिष्ड बोस्टन, 1926, रिप्रिन्ट वाराणसी, 1981.
9. कुमार, शान्ता, हिमालय पर लाल छाया, न्यू देहली, 1965.
10. खान, मेजर जनरल शहनवाज, माई मेमोअर्स ऑफ आई0एन0ए0 एण्ड इट्स नेताजी, देहली, 1946.
11. गोपाल, राम, इण्डिया चाइना टिबेट ट्राइंगल, लखनऊ 1964.

http://uou.ac.in

12. गिल, ए0 आर0, वैली ऑफ दि दून, देहरादून, 1952

13. चातक, गोविन्द, गढ़वाली लोकगीत, देहरादून,, 1956.

14. जोहार, सुरिन्दर सिंह, गुरू गोविन्द सिंह ए बायोग्राफी, जलन्धर, 1967.

15. जोषी, सुधा, कूर्मांचल केसरी, हैदराबाद, 1970.

16. तेण्डुलकर, डी0जी0, अब्दुल गफ्फर खाँ, गांधी पीस फाउण्डेषन, न्यू देहली, 1967.

17. दयालु, षिव (सम्पा0) इतिहास आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ, 1963.

18. दर्षन, भक्त, गढ़वाल की दिवंगत विभूतियां, लैंसडाउन, 1952.

19. दास, बृजरतन (हिन्दी अनुवाद), मुगल दरबार या मासेरूल उमराह, बनारस 1947.

20. देवार, डगलस, ए हैण्डबुक टू दि इंग्लिष प्री म्यूटिनी रिकार्ड्स इन दि गवर्नमेण्ट रिकार्ड्स रूम ऑफ दि यूनाइटेड प्राविन्सेज ऑफ आगरा एण्ड अवध, इलाहाबाद

21. देषराज, ठाकुर, सिक्ख इतिहास, ग्रामोत्थान विद्यापीठ संगरिया, 1954.

22. नयाल, इन्द्र सिंह, स्वतन्त्रता संग्राम में कुमाऊँ का योगदान, देहली, 1973.

23. नौटियाल, के0पी0, आर्कियोलॉजी ऑफ कुमाऊँ, वाराणसी, 1969.

24. टॉड, ले0 कर्नल जेम्स, एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान वाल्यूम II, यार्कप्लेस पोर्ट्समैन स्क्वॉयर, मार्च 10, 1899.

25. टौय, ह्यूज़, दि स्प्रिंग टाइगर, लन्दन, 1959.

26. टोलिया, आर0एस0, हिस्ट्री ऑफ दि बॉर्डर डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ दि सैण्ट्रल हिमालयन रीज़न (अनपब्लिष्ड थिसिस, कुमाऊँ यूनिवर्सिटी)

27. डबराल, षिव प्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास, दोगड्डा, 1982

28. डफ्फ, सी0 मेबल, दि क्रोनोलॉजी ऑफ इण्डिया फ्रॉम दि अर्लियस्ट टाइम्स टू दि बिगनिंग ऑफ दि सिक्सटींथ सेंचूरी, 2 व्हाइट हॉल गार्डन्स, 1899.

29. पन्त एवं तिवारी, षिखरों के स्वर, अलीगढ़, 1969.

30. पाण्डे बद्रीदत्त, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा, 1937.

http://uou.ac.in

31. पॉवेल, बी0एच0 बडेन, दि लैण्ड सिस्टम ऑफ ब्रिटिष इण्डिया, वाल्यूम II, ऑक्सफोर्ड, 1912.

32. पाठक, शेखर, उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा, नई दिल्ली 1987

33. भट्ट, मदन चन्द, चौहान चन्द्र सिंह, मल्ल और मध्य कालीन उत्तराखण्ड पहाड़ नैनीताल, 2004

34. परमार, पातीराम, गढ़वाल एंषियण्ट एण्ड मॉडर्न, षिमला, 1916

35. पिअर्स, कर्नल ह्यूज, फाइव जेनरेषन्स ऑफ एन एंग्लो इण्डियन फैमिली, लन्दन, 1905.

36. फज़ल, अब्दुल (ट्रांसलेषन बाइ कर्नल एच0एस0 जैरेट), आइन–ए–अकबरी, वॉल्यू0 II, कलकत्ता, 1978.

37. फॉस्टर, विलियम्स (सम्पा0), अर्ली ट्रैवल्स इन इण्डिया (1583–1619), लन्दन, 1921.

38. फुहरर, ए0, दि मोन्यूमेंण्टल एण्टीक्विटीज एण्ड इन्सक्रिप्संस इन दि नार्थ–वेस्ट प्रोविन्स एण्ड अवध, इलाहाबाद, 1891.

39. बनर्जी, अनिल चन्द्र, गुरू नानक टू गुरू गोविन्द सिंह, देहली, 1978.

40. बर्नियर, फैंकोइस, ट्रैवल्स इन दि मुगल एम्पायर (ट्रांसलेषन, आर्किबाल्ड कांस्टेबल), फर्स्ट पब्लिष्ड 1891, रिप्रिन्ट न्यू देहली, 1972.

41. बर्नियर्स वॉयज टू दि ईस्ट इण्डिज़, रिप्रिन्टेड एण्ड पब्लिष्ड फॉर दि रिससाइटेषन ऑफ इण्डियन लिटरेचर बाइ एच0सी0 दास, कलकत्ता, 1909.

42. वसु, मेजर बी0डी0, सेक्रेड बुक ऑफ दि हिन्दूज़, वाल्यू0 XVI, कलकत्ता, 1914.

43. बेवरिज, हेनरी (एडि0), दि तुजुक–ए–जहाँगीरी ऑर मेमोअर्स ऑफ जहाँगीर, फर्स्ट पब्लिष्ड 1909, रिप्रिण्टेट न्यू देहली, 1968.

44. ब्रिग्स, जॉन (ट्रान्सलेषन फ्रॉम दि ओरिजनल टेक्स्ट ऑफ मोहम्मद कासिम फरिष्ता), हिस्ट्री ऑफ दि राइज़ ऑफ दि मोहम्मडन पॉवर इन इण्डिया टिल दि ईयर 1612, वाल्यू0 II, एण्ड IV, कलकत्ता, 1910.

45. ब्रिग्स, जॉर्ज डब्ल्यू0, गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़, कलकत्ता, 1938.

46. भट्टाचार्या, पण्डित बृज रत्न, स्कन्धपुराणान्तर्गत केदारखण्ड ग्रन्थ, बॉम्बे, 1906.

http://uou.ac.in

47. मनूची, निकोलाओ (ट्रांसलेषन बाई विलियम इरविन), स्टोरियो डो मोगोर ऑर मोगल इण्डिया, कलकत्ता, 1907.

48. मिश्रा, प0 ब्रह्मषंकर (सम्पा0) शुक्रनीति, वाराणसी, 1968.

49. मुंषी, के0एम0, दि ग्लोरी दैट वॉज गूजर देष पार्ट I, बॉम्बे, 1955.

50. मूरक्राफ्ट, विलियम एण्ड ट्रैबेक, जार्ज, टैवल्स इन दि हिमालयन प्राविंसेज ऑफ हिन्दुस्तान एण्ड पंजाब, फर्स्ट पब्लिष्ड, लन्दन, 1837, रिप्रिन्ट, न्यू देहली, 1971.

51. मोरलैण्ड, डब्ल्यू0एच0, दि रैवन्यू एडमिनिस्ट्रेषन ऑफ दि नार्थ वेस्ट प्राविंसेज, इलाहाबाद, 1911.

52. मैक्लॉगन, सर एडवार्ड, दि जैसुइट्स एण्ड दि ग्रेट मोगल, लन्दन, 1932.

53. यंगहसबैंण्ड, सर फ्रांसिस, वण्डर्स ऑफ दि हिमालयाज़, इण्डियन रिप्रिण्ट, चण्डीगढ़ 1977, फर्स्ट पब्लिष्ड, लन्दन, 1924.

54. योगी, भम्भूतनाथ, नवनाथ कथा तथा गोरक्ष स्तवन्जलि, हरिद्वार, आठवां संस्करण।

55. रतूड़ी, एच.के. गढ़वाल का इतिहास, देहरादून 1928

56. रतूड़ी, एच.के, गढ़वाल वर्णन, बॉम्बे, 1910

57. रमाकान्त, इण्डो–नेपालीज रिलेषन्स (1816–1877) देहली, 1978

58. रावत, अजय सिंह, उत्तराखण्ड का राजनैतिक इतिहास, नैनीताल, 1982

59. रावत, अजय सिंह, गढ़वाल हिमालय–ए हिस्टोरिकल सर्वे, देहली, 1983

60. राम, मोला (अजय सिंह रावत द्वारा सम्पादित) गणिका, नैनीताल 1973

61. राम, मोला (सम्पादित अजय सिंह रावत द्वारा), नैनीताल 1973 मूल हस्त लिखित ग्रंथ से।

62. रॉय, प्रताप चन्द्र (ट्रान्सलेटेड), दि महाभारत ऑफ कृष्ण द्वैपायन व्यास, वॉल्यूम II, कलकत्ता

63. राहुल, राम, दि हिमालयन बॉर्डरलैण्ड, देहली, 1970

64. लाल, मुकन्दी, गढ़वाल पैंण्टिंग्स, देहली, 1968

65. वॉटर्स, थामस, ऑन युवांग चुवांग ट्रैवल्स इन इण्डिया, न्यू देहली, 1961

http://uou.ac.in

66. गुडयाट, मेजर जनरल निगेल जी0, दि रेजीमेण्टल हिस्ट्री ऑफ दि थर्ड क्वीन अंलैक्जैण्ड्रास ऑन गुरखास राइफल्स (18–15–1927), लन्दन, 1929

67. विलियम्स, जी0आर0सी0, हिस्टोरिकल एण्ड स्टैटिस्टिकल मेमोअर्स ऑफ देहरादून, रूड़की, 1874

68. सरकार, डी0सी0, दि शक पीठास, देहली, 1973

69. सरकार, डी0सी0, सलैक्ट इन्सक्रिप्षंस, वॉल्यूम II देहली, 1983

70. साह, शम्भू प्रसाद, गोविन्द बल्लभ पन्त एक जीवनी, देहली, 1972

71. सांकृत्यायन, राहुल, गढ़वाल, इलाहाबाद, 1953

72. सुखतंकर, विष्णु (एडि0), दि महाभारत, वॉल्यूम III भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1942

73. सेवक, फैसिनेटिंग उत्तराखण्ड, इन्फार्मेषन डिपार्टमेण्ट, लखनऊ, 1963

74. सिंग, भगत लक्ष्मण, गुरू गोविन्द सिंह, लाहौर, 1909

75. सिंह, ओ0पी0 (एडि0), दि हिमालया : नेचर, मैन एण्ड कल्चर, न्यू देहली, 1983

76. सिंह शूरबीर (एडि0), फतेह प्रकाष, अलीगढ़, 1961

77. स्टोवैल, वी0ए0, ए मैनुअल ऑफ दि लैण्ड टैन्यौर्स ऑफ कुमाऊँ डिविजन, इलाहाबाद, 1907

78. सी, वेसेल्स, अर्ली जैसुइट ट्रैवलर्स इन सैण्ट्रल एषिया, एस0आई0 1924

79. शास्त्री, बाल कृष्ण भट्ट, गढ़वाल जाति प्रकाष, इटावा, 1983

80. शेरिंग, चार्ल्स ए0, वैस्टर्न टिबैट एण्ड दि ब्रिटिष बार्डरलैण्ड, लन्दन, 1906

81. श्रीवास्तव, के0पी0 (एडि0), मुगल फरमान्स 1540–1707 ए0डी0, वॉल्यूम I, लखनऊ, 1974

अभिलेख

1. फ्लीट, जे0एफ0, भारतीय अभिलेख संग्रह–खण्ड 3, राजस्थान, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1974

2. एलन, जे0, कैटलॉग ऑफ दि कॉइन्स ऑफ एषियण्ट इण्डिया इन दि ब्रिटिष म्यूजियम, लन्दन, 1936

3. गुप्ते, वाई0आर., टू तालेष्वर कॉपर प्लेट्स, इपिग्राफिया इण्डिका XIII :109-21, 1915-16

4. सरकार, डी0सी0, थ्री प्लेट्स फ्रॉम यू0पी0, इपिग्राफिया इण्डिका XXX 277–98, 1955–56

5. सरकार, डी0सी0, सम इन्सक्रिप्षन्स फ्रॉम यू0पी0, इपिग्राफिया इण्डिया XXXIV (VI) 248–54, 1962

6. सरकार, डी0सी0, सेलेक्ट इन्सक्रिप्षंस, वाल्यूम–1, मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1983

7. स्मिथ, बी, कैटलॉग ऑफ दि कॉइन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, वाल्यूम–1, 1972

समकालीन स्थानीय समाचार पत्र

- अल्मोड़ा अखबार
- शक्ति
- गढ़वाली कर्मभूमि
- स्वाधीन प्रजा
- कुमाऊँ कुमुद
- समता

http://uou.ac.in

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पुस्तक मूल्य – ₹ 350/–

(विश्व विद्यालय के छात्रों के लिए पुस्तक का मूल्य उनके पाठ्य शुल्क में सम्मिलित है।)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

सर्वधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिये बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

अधिक जानकारी उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल से प्राप्त कर सकते हैं।

कुलसचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से मुद्रित एवं प्रकाशित।

मुद्रक

उत्तरायण प्रकाशन, हल्द्वानी

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,

ऊँचापुल, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड–263139,

फोन नं0– 05946–261122, 261123 फैक्स नं0– 05946-264232

Website- www.uou.ac.in E-mail- info@uou.ac.in